"भारतीय परम्पराओं में पुरूषार्थों के औचित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन"

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र विषय में
"पी–एच0डी0" की उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध
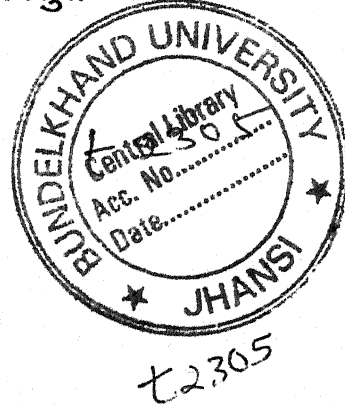
निर्देशक :–
डा0 जसवन्त प्रसाद नाग
विभागाध्यक्ष,
समाजशास्त्र विभाग,
पं0 जे0 एन0 पी0जी0 कॉलेज, बाँदा (उ0प्र0)

शोधार्थी :–
(श्रीमती) जाहिरा
एम0ए0, एम0एड

पं0 जे0 एन0 पी0जी0 कॉलेज, बाँदा
बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी (उ0प्र0)

आभार स्वीकृति

मानव पूर्णता में अपूर्णता की अद्भुत कृति है । आज की जटिल अर्थव्यवस्था में कोई भी कार्य बिना सहयोग के पूर्ण नहीं किया जा सकता है । मैंनें भी अपने इस शोध कार्य में आदरर्णीय गुरूजनों तथा सहयोगियों से भरपूर सहयोग प्राप्त किया है ।

सर्वप्रथम मैं अपने आदरर्णीय निर्देशक डा0 जे0 पी0 नाग जी के अमूल्य निर्देशन के लिए मैं उनकी सदैव आभारी रहूँगीं इसके अतिरिक्त सभी अन्य गुरूजन जिन्होंनें समय समय पर मुझे शोध कार्य में सहायता की तथा उचित मार्गदर्शन दिया । शोध ग्रन्थ के लिए आवश्यक सामग्री/सर्वेक्षण में आने वाली कठिनाइयों से उत्पन्न निराशाओं को समाप्त करने के लिए आदरर्णीय गुरूजनों के प्रेमपूर्ण व्यवहार तथा प्रेरणादायक उद्बोधन का कार्य करते रहे हैं । जिन्होंने समय-समय पर इस कार्य में मुझे सहयोग दिया । जिनके मार्गदर्शन में यह कार्य सम्पूर्ण हो सका ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध तैयार करने में मैंने अनेक पुस्तकों व पत्र-पत्रिकाओं की सहायता ली है । मैं उन सभी लेखकों व प्रकाशकों की अन्र्तमन से आभारी हूँ जिनकी पुस्तकों की सामग्री का मैंने इस शोध कार्य में सहयोग लिया है ।

मुझे आदरर्णीय पिताजी, माताजी एवं भाई – बहनों की प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग एवं प्रेरणा प्रदान की उनकी प्रेरणा के फलस्वरूप ही मेरा यह कार्य सम्पन्न हो सका है ।

स्वकथन के इस अंश को और अधिक विस्तार न देते हुए मैं अपने गुरू, विद्वानों, स्नेहियों और मित्रों के प्रति आदर तथा सम्मान व्यक्त करती हूँ ।

दिनाँक – 29.11.05

शोधार्थी :- Zahira 29.11.05
(श्रीमती जाहिरा)

Dr. Jaswant Prasad Nag,
Head ,
Department of Sociology,
Pt. J.N. P.G. College, Banda

प्रमाण–पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्रीमती जाहिरा पुत्री श्री कादिर अली, ने ''भारतीय परम्पराओं में पुरूषार्थों के औचित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन'' विषय पर शोध प्रबन्ध पी–एच0डी0 की उपाधि हेतु शोध कार्य पूर्ण किया । प्रस्तुत शोध प्रबन्ध श्रीमती जाहिरा के स्वयं के शोधकार्य पर आधारित है और उनकी मौलिक कृति है एवं उनके द्वारा लिखित है । मैं इनके उज्जवल भविष्य की कामना करता हूँ।

दिनाँक :– 30.11.05

30/11/05
(डा0 जसवंत प्रसाद नाग)

अनुक्रमणिका

अध्याय—प्रथम

प्रस्तावना

प्रस्तावना

यह स्वीकारणीय है कि हिन्दुओं का जीवन दर्शन समग्र दर्शनशास्त्र की एक अमूल्य निधि है क्योंकि इससे मनुष्य और उसके जीवन से सम्बन्धित अनेक जटिल व मूढ़ ग्रन्थियों का सफल समाधान हमें स्वतः ही मिल जाता है । मनुष्य के सम्बन्ध में यह भारतीय दर्शन कोई तात्कालिक विचार या भावना नहीं है, यह तो कितने ही महापुरूष, ऋषि–मुनियों के दीर्घ अनुभव, ज्ञान और चिन्तन की एक ठोस अभिव्यक्ति है । इस जीवन–दर्शन का सार तत्व यह है कि मनुष्य की उत्पत्ति परमेश्वर के कारण ही सम्भव हुई है वे ही इसमें अस्तित्व का आधार हैं और इन्हीं में इस मानव जीवन का अन्ततः अन्त होना है । अतः मनुष्य के जीवन का आरम्भ व अन्त दोनों ही ईश्वर है । इस कारण ईश्वर के प्रति उन्मुख जीवन ही श्रेष्ठ हैं । जीवन ओर जगत में दो प्रकार के तत्व हैं एक वह जो नित्य परिवर्तनशील हैं, जो प्रति क्षण बदल रहा है और दूसरा वह जो इस परिवर्तन के मूल में है । वह स्वयं अव्यक्त है पर उसी के कारण और उसी को लेकर जगत की सम्पूर्ण दृश्य वस्तुओं, सम्पूर्ण व्यक्त पदार्थों एवं स्वयं मनुष्य का अस्तित्व है । जगत के पीछे जो यह महती अव्यक्त शक्ति है उसका उद्घाटन करने और उसे अनुभव व धारण करने से यह ऊपर से असहाय, दुर्बल, अशक्त दिखने वाला मनुष्य जीवन असीम कल्याणकारी शक्तिमान एवं वैभव से पूर्ण हो सकता है । हमारे पीछे शक्ति का जो अक्षम कोष छिपा हुआ है उसकी खोज व सिद्धि से ही मनुष्य के जीवन का अन्तिम आदर्श पूर्ण हो सकता है और 'परम' (ईश्वर) की प्राप्ति (मोक्ष) सम्भव हो सकता है । भारतीय दर्शन में मनुष्य की अवधारणा की यह परम गति है ।

विभिन्न धार्मिक ग्रन्थों,स्मृतियों आदि में मनुष्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक बातें कही गईं हैं । जल को सृष्टि का स्रोत माना गया है साथ ही जल जीवन का आधार भी है जल के बिना किसी का भी न तो उत्पन्न होना सम्भव है और न ही वृद्धि । कहा जाता है प्रारम्भ में कुछ भी नहीं था केवल जल था इस जल को सृष्टि रचना के उद्देश्य से भगवान नारायण ने सर्वप्रथम उत्पन्न किया । ये नारायण अपने ही द्वारा उत्पन्न किए गए अथवा सदैव से अपने साथ रहने वाले जल में निवास करते हैं । इसीलिए उन्हें नारायण कहते हैं । 'नारा' का अर्थ है जल और अयन का अर्थ है निवास । इस प्रकार 'नारायण' का अर्थ है वह जो जल में निवास करता है । जब सृष्टि का प्रलय होता है तो जल ही उसमें कारण बनता

है । कहा जाता है कि एक बार मार्कण्डेय ऐसे प्रलय के प्राप्त होने पर विष्णु के शरीर में विचरण कर रहे थे कि एकाएक मुँह से बाहर आ गये । उन्हें सर्वत्र अन्धकारपूर्ण महासागर के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जान पड़ रहा था । प्रलयकार की अवधि बीत जाने पर पुनः उस जल से अथवा उस महान् सागर में स्थित विष्णु की नाभी से वह उत्पन्न होता है और उसके साथ ही प्रजापति ब्रह्म उत्पन्न होकर सृष्टि की रचना करते हैं । इस रचनाकाल में भिन्न – भिन्न प्रकार के जीवधारियों की क्रमशः सृष्टि होती है । सर्वप्रथम मत्स्य (मछली) की सृष्टि हुई उसके बाद सुकर (सुअर) की, उसके बाद नरसिंह की और फिर नर या मनुष्य की सृष्टि हुई । इसी प्रकार धार्मिक ग्रन्थों में मत्स्य अवतार, सुकर अवतार, नरसिंह अवतार आदि का वर्णन मिलता है ।

ऋग्वेद के अनुसार समस्त अस्तित्व के सृष्टिकर्ता हिरण्यगर्भ अर्थात् स्वप्रकाश स्वरूप प्रभु का सर्वप्रथम जन्म हुआ । उसी ने पृथ्वी और स्वर्ग की स्थापना की । ऋग्वेद (10–99–12) और यजुर्वेद (31–11) के पुरूषसूक्त में इस बात का उल्लेख है कि प्रभु के ही विभिन्न अंगों से अलग – अलग वर्णों की उत्पत्ति हुई । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ऋग्वेद में केवल मनुष्य की ही नहीं सम्पूर्ण ब्रह्मण्ड के रचयिता शासक और पालनकर्ता के रूप में एक ईश्वर की कल्पना भी की गई है एवं देवताओं व संसार या मनुष्यों के बीच पाई जाने वाली एकता को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि 'एकंसद्विप्रा' बहुधा वदति अर्थात् वह (ईश्वर) एक ही है जिसे अनेक नामों से पुकारा जाता है ।

मनु के अनुसार सृष्टि के शुरू होने से पूर्व जगत् सम्पूर्ण अन्धकारमय था। स्वयम्भू परमात्मा इस स्थिति को सहन न कर सके और उन्होंनें अपने पराक्रम से अन्धकार को आलोक में बदला । वह परमात्मा कार्यरूप (जिसका कारण भी वह स्वंय था) में स्वयं प्रगट हुआ और विभिन्न प्रकार की प्रजाओं (मनुष्यों) की सृष्टि की इच्छा से अपने शरीरी से जल उत्पन्न किया (मनुस्मृति,1 / 5–7) ।

उपनिषद् के महान् दार्शनिक उद्यलक ने अपने पुत्र को शिक्षा या ज्ञान देते हुए बताया था कि कुछ लोगों का विचार है कि आरम्भ में केवल असत् या अस्तित्वहीनता का जन्म अस्तित्वहीनता से कैसे हो सकता है ? अतः आरम्भ में केवल सत् ही था । इस सत् से जल उत्पन्न हुआ, जल से भोजन और भोजन से प्राणी । खा लेने पर भोजन के तीन परत प्रकट

हुए अर्थात् भोजन के तीन परिणाम सामने आए – भोजन का सबसे अधिक स्थूल अंश मल (विप्ठा) बना, बीच का अंश माँस बना और उसके सबसे अधिक स्थूल व सुन्दर–कोमल अंश से मस्तिष्क का निर्माण हुआ । उसी प्रकार जल को पीने पर भी उसके तीन परत प्रकट हुए – उसका सबसे अधिक स्थूल अंश मूत्र (पेशाब) बना, बीच का अंश खून बना और उसके सबसे अधिक सूक्ष्म व सुन्दर–कोमल अंश से श्वांस (सांस) बना । उत्ताप को काम में लाने पर भी वही तीन परिणाम निकले – उसके सबसे अधिक स्थूल अंश से हड्डियाँ बनीं, उसके बीच में अंश से मज्जा एवं सबसे सूक्ष्म अंश से वाणी बनी । इस प्रकार मस्तिष्क की रचना भोजन से, सांस की रचना जन से एवं वाणी की रचना ताप से हुई । 1 इस रू॰ में सत् से समस्त जीवित प्राणियों की सृष्टि हुई और यद्यपि प्रत्येक जीवित प्राणी अलग–अलग नाम से परिचित है । फिर भी उन सबका आधार केवल सत् ही है । जिस प्रकार स्वर्ग से निर्मित विभिन्न आभूषणों का नाम अलग–अलग होते हुए भी वे मूलतः स्वर्ण ही हैं । इस प्रकार सत् ही एकमात्र वास्तविकता है और उस रूप में मनुष्य की उत्पत्ति का कारण व आधार भी ।

तैत्तिरीय उपनिषद् में मनुष्य की उत्पत्ति का कम इस प्रकार दिया गया है – ब्रह्म से व्योम या तेजोवह तत्व की उत्पत्ति; उस तत्व से वायु से अग्नि, अग्नि से जल, से पृथ्वी, पृथ्वी से वनस्पति, वनस्पति से भोजन, भोजन से बीज और बीज से मनुष्य की उत्पत्ति हुई । 2 मुण्डकोपनिषद् के अनुसार भोजन से जीवन उत्पन्न होता है और जीवन से मस्तिष्क । छान्दोग्य उपनिषद् में यह दर्शाया गया है कि मनुष्य की स्मरण शक्ति किस प्रकार उस भोजन से संबंधित है जोकि वह खाता है । 3 इस प्रकार मनुष्य का शरीर भोजन के सार–तत्व से बनता है । यही बात पशुओं के बारे में भी है । पर मनुष्य के शरीर में केवल भोजन का सार–तत्व नहीं है, अपितु 'प्राण' भी होता है । प्राण के बिना उसका अस्तित्व सम्भव नहीं । यह बात दूसरे प्राणियों पर भी लागू होती है । प्राण ईश्वरीय महिमा की अभिव्यक्ति है । वस्तुतः सम्पूर्ण सृष्टि ही उसी ईश्वर की इच्छा की प्रकाशमय अभिव्यक्ति है । उसी को संसार कहते हैं जिसमें मनुष्य जन्म लेता, अगले जन्म के लिए कर्म करता, पिछले जन्म में किए गए कर्मों का फल भोगता, यज्ञ, संसार आदि के माध्यम से अपने धर्म का पालन करते हुए जन्म–मृत्यु के झंझट से अपने को विमुक्त करने या मोक्ष प्राप्त करने का प्रयत्न करता है । भारतीय विचारधारा में यही मनुष्य की सम्पूर्ण अवधारणा है । पर इसे और भी स्पष्ट रूप से समझने के लिये मनुष्य की कर्म–भूमि संसार और मनुष्य जीवन की अन्य

अभिव्यक्तियों को भी समझना आवश्यक है । अतः अब हम मनुष्य जीवन के आधार (संसार) व अभिव्यक्तियों के विषय में विवेचना करेंगें ।

मनुष्य जीवन के आधार

संसार — सृष्टि का साकार रूप संसार है । साकार होते हुए भी यह मृत्यु लोक के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । इसीलिए यह परम सत्य नहीं है । परम सत्य तो केवल परमात्मा ही है । मनुष्य इस संसार में जन्म लेता है, कर्म करता है और फिर एक दिन सब छोड़कर उसे चले जाना पड़ता है । अतः इस संसार के मायाजाल में न फंसकर मनुष्य को सद्कर्मों द्वारा अपने जीवन को उन्नत करने का प्रयत्न करना चाहिए । मनु के अनुसार यह संसार मायात्मक तथा सारहीन नहीं, अपितु धर्म तथा कर्म – क्षेत्र है । इसी संसार में उसे र्धानुसार आचरण करने तथा सद्कर्मों को करने का अवसर मिलता है । इसी संसार में अपने कर्मों के पूर्णता के द्वारा ही जीवन के चरम लक्ष्य अर्थात् 'परमसत्य' की ओर बढ़ा जा सकता है । मनु के अनुसार, "अव्यक्त परमात्मा ही सब उत्पन्न होने वालों का कारण है । उसी ने आकाश तथा पृथ्वी, सत्य–असत्य से युक्त मन, स्वर्गलोक, भूलोक तथा दोनों के मध्य आकाश की रचना की ।"

मुण्डकोपनिषद् की काव्यमयी भाषा में कहा जाये तो "उस ब्रह्म पृथ्वी तथा अन्तरिक्ष के साथ प्राणों सहित पिरोया हुआ है । अग्नि उसका सिर, चन्द्र–सूर्य नेत्र दिशाएं काल, वेद उसकी वाणी, वायु उसका प्राण, पृथ्वी उसके चरणों से उद्भुत और वह स्वयं उसकी अन्तर्रात्मा है । उसी से समुद्र और पर्वत निकले हैं । उसी से अनेक रूप नदियाँ प्रवाहित होती हैं और उसी से सारी औषधियाँ एवं रस निकलते हैं ।" मनुस्मृति के अनुसार इस संसार की रचना चौबीस तत्वों से हुई है जो सांख्यदर्शन की भाँति ईश्वर अथवा उनके अंश ब्रह्म को मिला देने पर 25 हो जाते हैं । जगत् की रचना के मूल में ईश्वर की सुनियोजित गम्भीरता है जो अपना शक्तिरूप बीज स्वचित उस अनन्त जलराशि में बोता है जिससे स्वर्णरूप अण्डे का उदय हुआ जो सृष्टि का मूल है ।

देहतत्व — जीव ब्रह्म का अंश है (' अंशो नानाव्यपदेशात्' – वेदान्त सूत्र, 2/3/42 गीता में भी कहा है – 'ममैवांशों जीवलोके जीवभूतः सनातनः'(15/7) । आविर्भाव के साथ–साथ देह होती है । देह नहीं तो जीव नहीं । जीव का अर्थ है देही । जीव की उत्पत्ति

के लिए देह आवश्यक है । ब्रह्म से पृथक होकर शत्–सहस्त्र जन्म–जरा मरण के प्रवाह में, परम्परा–क्रम से शत–सहस्त्र देह धारण करके तथा उनका त्याग करके असंख्य सुख–दुख, पाप–पुण्य तथा धर्म–ज्ञान से अभिज्ञता प्राप्त कर जीव की जीवन–यात्रा सुर–नर–तिर्यक आदि नाना पथों में कोटि–कोटि वर्ष व्याप्त होकर एक दिन अवसान को प्राप्त होती है । जीव लौटकर पुनः परब्रह्म में मिल जाता है । वस्तुतः जीव ब्रह्म से अलग होकर कभी नहीं रहता और न अलग रहना उसके लिए सम्भव ही है । जब तक जन्म–मृत्यु का चक्र चलता है, आवागमन है, अविरत यातायात हो रहा है, तब तक जीव देह से जुड़ा रहेगा, देह से पृथक नहीं होता । देह बन्धन जिस दिन टूट जाता है । यह देह प्राकृत देह है, त्रिगुण निर्मित देह है, नश्वर शरीर है । पर जीव जब मुक्त होकर अमृत बनता है तब वह अशरीरी, अमूर्त नहीं हो जाता, अपितु गुणमय गति हैं । यही उसकी सार्थकता है । जीव अमृत एवं अविनश्वर है । जीव के नित्यत्व में कभी व्याघात नहीं होता यह सारे शास्त्रों का सिद्धान्त है । सभी विद्वानों ने इसे स्वीकार किया है । श्रुति ने कहा है कि जीव परम पुरूष के संग रहता है उनके प्राण–प्राण में गुथा है । जब बद्ध जीव ही प्रभु का सखा है, तब मुक्त जीव तो निश्चय ही होगा । बद्ध जीव के चार देह हैं – (अ) कारण देह या कारण –शरीर । (ब) लिंग देह या लिंग शरीर, (स) सूक्ष्म देह या सूक्ष्म शरीर, और (द) स्थूल देह या स्थूल शरीर । जब पुरूष प्रकृति के भीतर प्रवेश करता है अर्थात् प्रकृति के साथ सम्मिलित होता है तो अवयक्त प्रकृति अभिव्यक्त होकर सृष्टि के आदि में जीव को आश्रय देती है, वह रूप ही 'महत्तत्व' है । इसी के व्यष्टि–विभाग को कारण–शरीर कहते हैं, क्योंकि यही जीव जीवन का सर्वस्व है। यही अहंकार, बुद्धि, मन, इन्द्रिय आदि तथा सुख–दुख, धर्माधर्म, सारे धर्म, सारे तत्व, सारे तत्व, सारी वृत्ति और सारे विकास का मूल कारण है । इसी का नाम शरीर है । क्योंकि यह निश्चय ही एक दिन शीर्ण होकर नष्ट हो जाएगा । दूसरा है लिंग शरीर । पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, पंच प्राण, पंच तन्तात्रांश तथा मन, बुद्धि, अहंकार – इन सबका सूक्ष्म समन्वय ही लिंग–शरीर कहलाता है । ज्ञान, विज्ञान, वितर्क विचारादि से युक्त, संकल्प, अनुभव, संस्कार, स्मृति आदि से सम्पन्न जिस दुर्गम, दुर्ज्ञेय प्रकोष्ठ में बैठकर मायाश्रित जीव सांसारिक जीवन यापन करता है – धर्म, ज्ञान, वैराग्य ऐश्वर्यादि तथा इनके विपरीत अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्यादि का साधन करता है, उस प्रकोष्ठ का नाम ही लिंग–शरीर है । इसको हम 'मानस–शरीर' कह सकते हैं । प्रतिक्षण मन, वाणी और शरीर से; जाने

अथवा अनजाने, इच्छा से या अनिच्छा से जीवन में जो कुछ किया जाता है, सोचा जाता है या अनुभूत होता है, सब कुछ लिंग–शरीर के भीतर लिख जाता है, अंकित और चित्रित हो जाता है । लोग जो चित्रगुप्त के हिसाब की बात कहते हैं, वह लिंग–शरीर ही है । जन्म, जाति, स्वभाव, चरित्र, मति, गति, रूचि, प्रवृत्ति–सबका निरूपण और निर्णय होता है लिंग–शरीर द्वारा । लिंग–शरीर कोटि–कल्प स्थायी होने पर भी इसका ध्वंस अनिवार्य है, अर्थात् यह नित्य देह नहीं है– इस बात को सदा याद रखने के लिए ही ऋषियों ने इसका नाम रखा है । ' लिंग–शरीर'। तीसरा है सूक्ष्म–शरीर । रक्त और माँस का शरीर जैसे भोग–शरीर होता है, उसी प्रकार सूक्ष्म–शरीर भी भोग–शरीर होता है । लिंग–शरीर में सुख–दुख का भोग नहीं होगा । लिंग–शरीर सुख–दुख को नियंन्त्रित करता है, सुख–दुख का विधान करता है । मानसिक दुख का कारण मन में रहता है । परन्तु भोग सूक्ष्म–देह में होता है । स्वर्ग–नरकादि के सुख–सम्भोग, दुख–दुर्दशा, ज्वाला–यन्त्रणा–सबका अनुभव सूक्ष्म–देह में होता है, मानस–शरीर (लिंग–शरीर) में नहीं । पाश्चात्य समाज की यह मान्यता गलत है कि मरने के बाद आत्मा अनन्त में मिलकर आनन्त्य प्राप्त करती है। आत्मा मृत्युकाल में स्थूल–देह का त्याग करके सूक्ष्म–देह से अपने–अपने कर्मों के अनुसार अपने–अपने उपयुक्त लोग में सुख–दुख का भोग करने के लिये चली जाती है । सूक्ष्म–देह स्थूल–देह के अन्दर चिरकाल तक रहता है, उसकी नई सृष्टि नहीं होती । सूक्ष्म–शरीर का नाम 'आतिवाहिका' शरीर है । इसी शरीर में रहकर जीव लोकान्तर में गमन करता है । चौथा है स्थूल–देह या शरीर । यही देह सांसारिक जीवन के समस्त विषय–व्यापार और व्यवहार का क्षेत्र है । साक्षात् सब प्रकार की क्रियाओं को चलाने वाले यन्त्र इसी देह के अन्तर्गत हैं । इसी को मानव–शरीर कहते हैं । यह देह–यन्त्र नाना प्रकार के अंगों (मस्तक,बाहु,उदर,हस्त आदि) तथा प्रणालियों (जैसे– श्वांस–प्रश्वास प्रणाली, रक्त–प्रवाह प्रणाली आदि) से बना है । त्वक, चर्म, रक्त, मेह, अस्थि, मज्जा व शुक्र – ये आठ धातुयें इस स्थूल–देह में होती हैं इसी शरीर को लेकर मनुष्य व्यस्त और विमुग्ध हो जाता है । हृदय–देह में होती हैं । हृदय–मन, आत्मस्वरूप, विवके–विचार और विज्ञान, इन सबको मनुष्य भूल जाता है इस देह के मायामोह में पड़कर । वह शरीर को ही सब कुछ मान लेता है । शरीर धर्म साधन का, परम पुरूषार्थ के साधन का प्रधान उपाय है, यह ज्ञान उसको नहीं

रहता । तभी देह में आत्मसमर्पण करके वह अधःपतन को प्राप्त होता है । देहात्वादी लोग आत्मघाती होते हैं, वे निश्चय ही नरकगामी होते हैं ।

आत्मा व परमात्मा — भारतीय जीवन–दर्शन में मनुष्य के अन्तरम के सार को 'आत्मा' कहा गया है । यह आत्मा परमात्मा का ही एक अंग है । सम्पूर्ण जगत् इस महान् विश्वआत्मा ब्रह्म से ही निकलता है । वास्तव में आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं । आत्मा एक इकाई है, जबकि परमात्मा अनेक आत्माओं का एक सम्मिलित रूप है । वास्तव में यह दोनों भिन्न–भिन्न न होकर एक ही हैं । 'अहं ब्रह्मस्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) इस लोकप्रिय कथन से यही प्रमाणित होता है । अपनी लीलाओं को प्रकट करने के लिये ब्रह्म ने स्वयं अपने–आपको एवं स्वयं अपने–आपमें से ही इस विश्व तथा इस प्राकृतिक जगत् को अभिव्यक्त किया । जैसे मकड़ी अपने–आपमें से तार निकालती और उससे जाल बुनती है और बाद को अपनी इच्छानुसार जब चाहे उन तारों को अपने–आपमें समेट लेती है, वैसे ही आत्मा स्वयं परमात्मा से ही निकलकर प्रकट होती है और फिर उसकी अच्छामात्र से ही उसी में विलीन हो जाती है । ''जिस प्रकार भली प्रकार से प्रज्वलित अग्नि से चिनगारियाँ सहस्त्रों की संख्या में निकलती और फिर उसी में आ मिलतीं हैं, उसी प्रकार अमर विश्वआत्मा से सभी प्रकार के जीवित प्राणी निकलते हैं और पीछे उसी में विलीन होते हैं ।'' ''जैसे नदियाँ समुद्र में से उत्पन्न होतीं हैं और बाद को उसी में लौटकर व उसी में मिलकर स्वयं समुद्र बन जातीं हैं, उसी प्रकार आत्मा का भी आदि और अन्त दोनों ही परमात्मा है क्योंकि आत्मा स्वयं परमात्मा का ही एक अभिन्न अंग है । जब उस परमात्मा ने एक से अनेक होने की अच्छा की तभी यह जगत् तथा इसके असंख्य जीव उसमें से उद्भूत हुए । सबका आधार वही परमात्मा है । अतः जो परमात्मा है वही आत्मा है, और जो आत्मा है वही तुम हो । इसीलिये यह आत्मा अमर है । केवल शरीर नष्ट हो जाता है; आत्मा तो सदैव बनी रहती है । आत्मा का न तो कभी जन्म होता है और न वह कभी मरती ही है । ऐसा भी नहीं है कि यह एक बार होकर फिर होने की नहीं । यह आत्मा नित्य, शाश्वत और सनातन है, एवं यदि शरीर का वध हो जाये तो भी यह मारी नहीं जाती । गीता में लिखा है, ''जिस प्रकार एक मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर नये वस्त्रों को ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार आत्मा भी पुराने शरीर को छोड़कर उस शरीर में निवास करने चली जाती है जोकि नया है (गीता,2/20–20) । गीता में यह भी कहा गया है कि ''वे दोनों की मूर्ख हैं जो यह सोचते

हैं कि आत्मा को मारा जा सकता है या जो यह सोचते हैं कि आत्मा की मृत्यु होती है । आत्मा न तो मरती है और न ही मारती है । इसीलिये श्री कृष्ण का कथन है कि ,''वास्तव में ऐसा कोई समय न था जबकि मैं तुम या ये राजा लोग नहीं थे; न ही ऐसा कोई समय भविष्य में आयेगा जब हम सब लोग नहीं रहेंगे ।''

यज्ञ —संसार के सबसे प्राचीनतम ग्रन्थ के रूप में ऋग्वेद को ही स्वीकार किया जाता है और ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र में ही यज्ञ का उल्लेख इस बात का द्योतक है कि हिन्दू जीवन में यज्ञ का अत्यधिक महत्व है । महर्षि जैमिनी ने यज्ञ को धर्म–स्वरूप माना है । उनके अनुसार यज्ञीाावना से हीन जो विषय है, वह अनार्थक है । यज्ञविहीन सदाचार भी वस्तुतः सदाचार नहीं, अधर्म ही है । जब यज्ञ ही धर्म है तब इस क्षणभंगुर मानव–जीवन की सफलता के लिये यज्ञसवरूप का ज्ञान तथा उसका अनुष्ठान करना परम आवश्यक है । महर्षि कात्यायन के अनुसार द्रव्य देवता और त्याग – ये तीन यज्ञ के लक्षण हैं । यामान्यतः तेल, दही, दूध, सोमलता, चावल या जौ की लपसी, भात, घी, कच्चे चावल, फल और जल – ये दस द्रव्य ही वैदिक यज्ञों में देवताओं प्रीत्यर्थ त्यागने में आते हैं । यज्ञों के समुचित अनुष्ठान से उद्‌देश्यों की पूर्ति के लिये यज्ञों को ही अपनाया है । वे देवता, जिन्होंनें अपने–आपको असुरों के साथ संघर्ष में हीन स्थिति में पाया, प्रजापति के पास सहायता के लिये पहुँचे । उन्होंनें अनेक प्रकार के यज्ञों का विधान दिया जिन्हें यथार्थ रूप में सम्पादित करके देवताओं ने सफलता प्राप्त की । इससे यह परिणाम निकालना स्वाभाविक ही था कि संसार में ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो यज्ञ के ठीक रूप से सम्पादित करने पर भी इच्छित लक्ष्यों की प्राप्ति में बाधक हो सके। यज्ञ न केवल इस धरती पर ही लौकिक हित प्रदान करता है अपितु परलोक में भी कर्मों के फल निर्धारित करने की दिशा में बड़ा महत्वपूर्ण योगदान करता है । पर धीरे–धीरे यज्ञ का यह महत्व घटने लगा और लोग यज्ञ को औपचारिकता या आडम्बर मानने लगे । वास्तविक यज्ञ तो हमारे अपने अन्दर प्राण की आहुति देने में है । वह मनुष्य जो इस आन्तिरक यज्ञ को नहीं जानता चाहे कितना ही औपचारिक अनुष्ठान क्यों न करे, केवल राख पर ही आहुति डालता है । इस आन्तरिक यज्ञ को जानकर यदि वह बचे हुये भाग को चाहे चाण्डाल को ही दान में क्यों न देवे तो भी वह उसके आन्तरिक 'वैश्वनार' की सच्ची आहुति होगी ।''

उपरोक्त औपचारिक यज्ञों के अतिरिक्त वैदिक मान्यता के अनुसार गृहस्थ–आश्रम में व्यक्ति को पंच महायज्ञ करने का निर्देश दिया जाता है । पंच महायज्ञ (ब्रह्म–यज्ञ, पितृ–यज्ञ, देव–यज्ञ, भूत–यज्ञ, और नृयज्ञ) में से प्रथम तीन यज्ञ क्रमशः तीन ऋणों (ऋषि–ऋण, पितृ–ऋण तथा देव–ऋण) से उऋण होने के साधन हैं । धार्मिक आधार पर निश्चित प्रत्येक पुरूष के अपने जीवन में इहलोक तथा परलोक से सम्बन्धित कुछ नैतिक कर्तव्य होते हैं । इन नैतिक कर्तव्यों को ही मनु ने 'यज्ञ' कहा है । मनुस्मृति के अनुसार ब्रह्म –यज्ञ देव–यज्ञ को प्रेतात्माओं की बलि तथा भोजन, जानवरों, कीड़े–मकोड़े अपहिज मनुष्यों और असाय जातियों को भोजन देकर तथा नृयज्ञ को आतिथ्य–सत्कार द्वारा सम्पन्न किया जाता है । मनु के अनुसार इन यज्ञों को विधिवत् सुसम्पन्न करने वाले व्यक्ति का केवल वर्तमान जीवन ही सुखी व समृद्धिशाली नहीं होता बल्कि वह अपार पुण्य का भोगदार बनकर परमगति को प्राप्त होता है ।

संस्कार — हिन्दू मान्यता के अनुसार जीवन के परिष्कृत, परिशुद्ध एवं पूर्ण बनाने के लिए मनुष्य को कुछ पवित्र अनुष्ठानों को करना ही होता है । शारीरिक, बौद्धिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक परिष्कार के लिए किए गए इन पवित्र अनुष्ठानों को ही संस्कार कहा गया है । हिन्दुओं का सम्पूर्ण जीवन इन्हीं संस्कारों से घिरा हुआ माना जाता है और इन संस्कारों की पूर्ति के बिना मानव–जीवन पूर्ण नहीं हो सकता । संस्कार केवल विपत्ति से रक्षा करने, सांसारिक समृद्धि प्राप्त करने का ही नहीं अपितु आध्यात्मिक उन्नति का भी साधन है ।

जीवन व धर्म — डा0 अग्रवाल के अनुसार, " धर्म और जीवन का मेल हिन्दू संस्कृति के आग्रह का विषय है । कर्म पर पूरा जोर दिया गया है, किन्तु कर्म बिना धर्म अपूर्ण हैं । जिस कर्म में धर्म–ज्ञान का भाव नहीं, वह कर्म स्वार्थयुक्त होने से व्यक्ति और समाज के जीवन को और भी उलझन में डाल देता है । इसीलिए हिन्दुओं ने जीवन को एक आध्यात्मिक स्तर पर प्रतिषठित करने का प्रयत्न किया है जिससे कि "इस जीवन में भी सुख मिले और इस शरीर के अन्त के पश्चात् भी यदि कोई जीवन हो तो वह भी सुसम्पन्न हो ।" भारतीय दर्शन में धर्म को अभ्युदय और निःश्रेयस, ऐहिक और पारलौकिक सुख की सिद्धि के हेतु समाज का धारण करने वाला कहा गया है । इस धर्म की मान्यता यह है कि प्रत्येक प्राणी में वही एक ही ईश्वर का निवास है । अतः हम सब एक हैं; हम सबका जीवन एक ही परम शक्ति द्वारा

संचालित व नियन्त्रित है । अतः जीव व जीवन के मध्य भी ईश्वर का दर्शन सम्भव है । महाभारत में तो एक स्थान पर कहलाया गया है कि मनुष्यलोक में जो श्रेय है वही परममहत्वपूर्ण है । ''मौलिक विचार यह है कि संसार को भोगने के लिए ही रचा गया है, परन्तु इस भोग का कदापि यह अर्थ नहीं है कि ईश्वर को भूल जाया जाए ।'' इस ईश्वर को याद रखने के लिए कोई विशेष प्रयत्न, जप–तप की आवश्यकता नहीं है । इसके लिए सबके प्रति प्रेम–भाव ही पर्याप्त है । स्वामी विवेकानन्द जी के शब्दों में, ''सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण से लेकर कीड़े–मकोड़े तक सबमें प्रेम–मूर्ति भगवान् का निवास है । उसी प्रेम–मूर्ति के चरणों में भक्तिपूर्वक अपने तन–मन–धन को समर्पित कर दो । निखिल विश्व में उन्हीं के प्रकाश को हर प्राणी मात्र में देखने की चेष्ठा करो । ऊंच–नीच की भावना को त्यागकर सबसे प्रेम करो– यही मुक्ति, यही मन्त्र, यही पूजा, यही भगवान् है ।''

कर्मफल और कर्मवाद – कर्मफल का परम्परागत सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक कर्म अपना एक फल अवश्य ही उत्पन्न करता है । 'जो जैसा बोयगा वैसा ही काटेगा । नये आलू बोकर आम खाने की आशा नहीं की जा सकती । अच्छे कर्म के फल भी अच्छे होते हैं और बुरे कर्म के फल बुरे । अच्छे कर्मों के लिए पुरस्कार और बुरे कर्मो के लिए दण्ड मिलकर ही रहेगा । प्रत्येक कर्म का फल अवश्याम्भावी है और साथ ही, प्रत्येक फल नए कर्म का कारण भी। बीज वृक्ष को उत्पन्न करता है, वही वृक्ष फिर बीज को उत्पन्न करता है और वह बीज अगले वृक्ष को जन्म देता है । कर्म और फल का यह चक्र निरन्तर चलता रहता है । कर्म का फल नष्ट नहीं होता और बिना किए हए कर्म का फल नहीं मिलता । ''कर्म का परिणाम कर्त्ता के चरित्र, प्रवृत्ति, विचार, भावनाओं आदि पर प्रभाव डालता है और उसके व्यक्तित्व का एक अंग बन जाता है; जीवनपर्यनत उसके साथ रहता है और मरने के बाद भी दूसरे जीवन में उसके साथ जाता है । ब्राह्मण ग्रन्थों में भी कहा गया है कि मृत्यु के पश्चात् मनुष्य के अच्छे बुरे कर्मों को तराजू के दोनों पलड़ों पर रखा जाता है । उनमें से नीचे झुक जाता है उसी के अनुसार व्यक्ति को स्वर्ग या नरक मिलता है । साथ ही, यह आत्मा वैसी ही बन जाती है जैसा इसका कर्म तथा आचरण होता है । वह मनुष्य जिसके कर्म अच्छे होते हैं अच्छा बन जाता है और जिसके कर्म बुरे होते हैं वह बुरा बन जाता है । पुण्य कर्मों से पुण्यात्मा और पाप कर्मों से पापात्मा होती हैं । धर्मानुसार कर्म ही, श्रेष्ठ है । साथ ही, फलाशा को छोड़कर कर्म करना ही उचित है । गीता में कहा गया है कि मनुष्य को तो

केवल कर्म करने का अधिकार है, फल मिलता या न मिलना कभी उसके अधिकार में नहीं । इसलिए न तो मेरे कर्म का अमुक फल मिले, यह ध्येय मन में रखकर कभी कर्म नहीं करना चाहिए और न कर्म करने का आग्रह होना चाहिए (गीता,2/47)। अपने को निर्लिप्त रखते हुए कर्म करने पर भी ईश्वर को प्राप्त करना सम्भव हो सकता है ।

मनुष्य के पांच कर्म – कर्मवाद इसी मान्यता पर आधारित है कि बुरे कर्मों का परिणाम बुरा और अच्छे कर्म का परिणाम अच्छा ही होता है । अतः वैयक्तिक एवं सामाजिक हित इसी में निहित है कि मनुष्य अच्छे कर्मों को ही करे । अच्छे कर्म कौन से है, इसका उल्लेख धर्मग्रन्थों में नाना प्रकार से किया गया है । ये सत्कर्म बहुसंख्यक हैं परन्तु उनमें यज्ञ, तप, दान, शौच और स्वाध्याय ये पांच विशेष प्रशंसनीय कर्म माने गए हैं । भगवान श्री कृष्ण ने कहा है कि कर्म का आरम्भ किए बिना निष्कर्मता नहीं प्राप्त होती और न कर्म–सन्यास से पुरूष को सिद्धि ही प्राप्त होती है (गीता,3/4)। योगी लोक आसक्ति का त्याग करके आत्म–शुद्धि के लिए कर्म करते हैं तथा यज्ञ, दान, और तप मनीषियों को पवित्र करने वाले हैं, ऐसा मत अनेक स्थानों पर प्रगट किया गया है (गीता,18/5)। प्रो0 विश्वनाथ शुक्ल ने उपरोक्त पांच कर्मों का विस्तृत विवरण संकलित किया जो निम्नवत् है –

(1) यज्ञ – कर्मों में यज्ञ को सर्वश्रेष्ठ माना गया है । वेद में तो यज्ञ को ईश्वर बताया गया है । यज्ञ निर्मित किया हुआ कर्म मनुष्य को किसी बन्धन में नहीं बांधता । भगवान् ने प्रजा के साथ ही यज्ञ की सृष्टि की । मनुष्यों को इच्छित फल यज्ञों से ही प्राप्त होते हैं । इसलिए यज्ञ में देवताओं को अर्पित किए बिना जो उन देवताओं द्वारा उपलब्ध कराए गए भोगों को भोगता है उसे चोर कहा गया है (गीता 3/12)। यज्ञ से पाप का नाश होता है । यज्ञ से बचे हुए अन्न को खाने वाला सब पापों से छूट जाता है । जो केवल अपने लिए भोजन पकाते हैं, वे मानों साक्षात् पाप का ही भोजन करते हों (गीता, 3/13)।

(2) तप – धार्मिक क्रियाओं में तप के महत्व को स्वीकार किया गया है । आरम्भ में वैदिक आर्य यज्ञ को प्रधानता देते थे, परन्तु जैसे–जैसे वे लौकिक और पारलौकिक की तुलना में आध्यात्मिक तत्व पर बल देने लगे, वैसे–वैसे तप का महत्व भी बढ़ता गया (शांतिपर्व,79/17) । "स्वेच्छा से स्वीकार किया गया कष्ट जो आत्मशुद्धि अथवा किसी प्रकार की सिद्धि का साधन माना जाये 'तप' है । शुद्धि के लिये मनुष्य को तपना पड़ता है । चाहे

वह कार्य करने के पहले संयम आदि द्वारा तपे अथवा अधर्म कर डालने पर पश्चाताप रूपी अग्नि से तपे अथवा तीनों के अभाव में नरकाग्नि के ताप से तपे । प्रथम प्रकार का तपना सबसे अच्छा है । इसलिये इसको साधना का अंग माना गया है । पश्चाताप भी अच्छा है क्योंकि इससे भी शुद्धि होती है, पर चूंकि पश्चाताप की स्थिति अधर्म हो जाने के बाद आती है, इसलिये इसका स्थान तप की तुलना में नीचा है ।"[1] आश्रम–व्यवस्था के अन्तर्गत गृहस्थ आश्रम के बाद वानप्रस्थ के लिए क्रमशः कठिनतर उपवास तथा सर्दी–गर्मी आदि की पीड़ा का अभ्यास करने का विधान किया गया है । विश्वास यह था कि बिना तप के न आत्मशुद्धि होती है और न ही सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति । महाभारत, पुराण आदि में अनेक ऐसे राजर्षियों के प्रसंग हैं जो राजधर्म पालन करने के पश्चात् तप द्वारा उच्चतर सिद्धि प्राप्त करने के लिये वन में चले गए थे ।

(3) दान — दान का अर्थ है देना – ऐसा देना जिसमें बदले में कुछ लिया नहीं जाता है । दान में अन्तर्निहित दर्शन यह है कि समाज में ऐसे बहुत से लोग होते हैं जिनके पास अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये पर्याप्त साधन (धन आदि) नहीं होते, पर कुछ ऐसे लोग भी हैं जिनके पास आवश्यकता से अधिक साधन होते हैं । जिसके पास अधिक हैं वह उन्हें कुछ दे दे जिनके पास कुछ नहीं है या कम है ऐसा होने पर समाज में एकता, समानता और दया–प्रेम का वातावरण होगा । इसीलिये दान–कर्म पर सभी धर्म अत्यधिक बल देते हैं । ईसाई धर्म में दान की गणना उच्चतम गुणों में की गई है । इस्लाम धर्म में दूसरों के साथ मिल–बाँटकर खाना तथा ब्याज न लेने के सम्बन्ध में जो नियम है उसके पीछे भी यही भावना दिखाई देती है । हिन्दुओं की धर्म–व्यवस्था में दान को बहुत श्रेष्ठ कर्म माना गया है । ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य वर्णों के लिये दान–कर्म आवश्यक माना गया है । रामचन्द्र ओर युधिष्ठिर ने जो अश्वमेध यज्ञ किए थे, उनमें याचकों को तब तक दान देना बन्द नहीं किया गया था, जब तक उनकी पूर्ण तृप्ति न हुई । पशुराम ने इक्कीस बार क्षत्रिय राजाओं से पृथ्वी छीनकर उसे ब्राह्मणों को दे डाला था । राजा हरिश्चन्द्र द्वारा अपने पूरे राज्य का दान किए जाने की कथा प्रसिद्ध है । अन्न, गाय, रत्न, जमीन, वस्त्र, गृह, शैय्या, धन, दासी आदि वस्तुओं को दान दिये जाने को कहा जाता है । इनमें जमीन, गाय, बैल व अन्न दान को

---

1. प्रो0 विश्वनाथ शुक्ल – हिन्दू समाज व्यवस्था, नारायण प्रकाशन लखनऊ पृष्ठ 20–46

विशेष महत्व दिया जाता है क्योंकि ये सब जीविका पालन के साधन हैं । सद्गुणसम्पन्न ब्राह्मण एवं दीन–दुखी को दिया हुआ दान अधिक फलदायक होता है । पर अन्याय से प्राप्त धन या वस्तु को दान देने से पुण्य नहीं मिलता । गुरू, ग्रामयाजक (गाँव में यज्ञ करने वाले पुरोहित), स्त्री और नौकर को दान नहीं देना चाहिए । उसी प्रकार चोर ब्राह्मण, पापी, वेद विक्रयी जाने की कथा प्रसिद्ध है । अन्न, गाय, रत्न, जमीन, वस्त्र, गृह, शैय्या, धन, दासी आदि वस्तुओं को दान देने को कहा जाता है । इनमें जमीन, गाय, बैल व अन्न दान को विशेष महत्व दिया जाता है क्योंकि ये सब जीविका पालन के साधन हैं। सद्गुणसम्पन्न ब्राह्मण एवं दीन–दुखी को दिया दान अधिक फलदायक होता है पर अन्याय से प्राप्त धन या वस्तु को दान देने से पुण्य नहीं मिलता । गुरू, ग्रामयाजक (गाँव में यज्ञ करने वाले पुरोहित), स्त्री और नौकर को दान नहीं देना चाहिए । उसी प्रकार चोर ब्राह्मण, पापी, वेदविक्रयी, वृषणी पति (शूद्र स्त्री से विवाह करने वाला पुरूष) को भी दान वर्जित है । हिन्दुओं में आज भी सबसे लोकप्रिय ब्राह्म विवाह में तो वस्त्र, अलंकार आदि से सुसज्जित कन्या का दान उसके माता–पिता वर को करते हैं । कहा जाता है कि कन्या दान करने से बहुत पुण्य प्राप्त होता है । उसी प्रकार मरते हुए व्यक्ति के हाथों से अन्न, धन, जमीन, गाय आदि का दान करवाया जाता है ताकि उसके पाप का नाश हो और आत्मा को शांति मिले । किसी भी फल का लोभ किए बिना जो दान दिया जाता है उसी का परिणाम अच्छा होता है । स्वामी विवेकानन्दजी का उपदेश है, "इस संसार में दाता का स्थान ग्रहण करो और बिना फल की आशा जो कुछ दे सकते हो सब कुछ दान करो तो तुम देखोगे कि जो कुछ तुमने दिया है यह हजार गुना ज्यादा होकर तुम्हारे पास लौट आया है ।"

(4) शौच – शौच का साधारण अर्थ स्वच्छता या सफाई है । पर यह सफाई केवल शरीर या वसत्र की सफाई नहीं, अपितु मन, विचार व वाणी की सफाई है । अर्थात् शौच में शुद्धता व पवित्रता की भावना निहित है । एक पाखण्डी चाहे जितने बार स्नान करे, चाहे कितने ही साफ कपड़े पहने, वह स्वच्छ होते हुए भी शुद्ध व पवित्र कदापि नहीं हो सकता । प्रत्येक मनुष्य के लिये नित्य स्नान आदि के द्वारा शरीर को और पानी से धोकर वस्त्रों को स्वच्छ करना अच्छा माना गया है । ब्राह्मण, क्षत्रिय, व वैश्यों के लिये तो शौच पालन नित्य–कर्म के अन्तर्गत ही सम्मिलित कर दिया गया है । यद्यपि धर्म के रूप में उनके लिये शौच का विधान नहीं है । परन्तु शूद्र अपने सीमित साधन, आलस आदि के कारण कहीं शौच पर उचित ध्यान

न दें, इस डर से शौच उनके आवश्यक कर्तव्यों में सम्मिलित किया गया है । उसी प्रकार वानप्रस्थी व संयासी के लिये भी विशेष रूप से शौच का विधान है । शौच से मन विचार परिशुद्ध व पवित्र होते हैं और वैसा होने पर यज्ञ, तप, स्वाध्याय, योग या पूजा–पाठ–आराधना में ध्यान लगाना सरल होता है । इसीलिये कहा जाता है कि शुद्ध व पवित्र मन या हृदय स्वतः ही ईश्वर के अधिक निकट होता है । एक बार दैदास अपनी कुटिया के बाहर झाडू लगा रहे थे, उधर से एक सन्त निकले, उन्होंनें कहा, ''बाहर की सफाई से क्या होगा, मन की सफाई कर ।'' कुछ ऐसी ही कथा सन्त कबीर के सम्बन्ध में भी प्रचलित है । गंगा स्नान का कोई महापर्व था, कबीर जी अपने घर के बाहर बैठे काम कर रहे थे । कुछ साधुओं ने उधर से गुजरते हुए कबीर से पूछा कि स्नान का शुभ मूहूर्त बीता जा रहा है, कबीर क्या गंगा को नहीं चलेंगें? कबीर जी न उत्तर दिया, ''मन चंगा, तो कठौती में गंगा ।'' शौच का महत्व इसी से स्पष्ट है । जो लोग शुद्धता व पवित्रता के सिद्धान्त का सच्चे अर्थ में पालन करते हैं वे शरीर, विचार व मन के साथ–साथ वाणी की भी पवित्रता को बनाये रखते हैं । वे अपने मुंह से तीखा, चुभने वाला, किसी की भावना को ठेस पहुँचाने वाला या अश्लील शब्द अथवा गाली–गलौज नही निकालते हैं और सबसे मीठे–कोमल शब्दों में प्रेम–भाव सहित बोलते हैं । पवित्र वाणी ही उच्चारण करता है ।

(5) स्वाध्याय – विधाभ्यास का दूसरा नाम स्वाध्याय है । पाठन–पाठन की यह क्रिया हिन्दुओं में जीवन का प्रथम भाग (25 वर्ष की आयु तक) ब्रह्मचर्य आश्रम तो गुरूकुल में जाकर विद्याभ्यास करने तथा कुछ आवश्यक नियमों का पालन करने हेतु ही होता है । ब्रह्मचारी को अत्यन्त सरल, पवित्र तथा सदाचार का जीवन व्यतीत करना पड़ता है और एकाग्र मन से ज्ञानार्जन में संलग्न रहना पड़ता है । इस अवस्था में ब्रह्मचारी वेद, उपनिषद् आदि धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन करके अपने को षि–म से मुक्त करता है और अपनी परम्परा व संस्कृति के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करता है । निर्देश यह है कि तीनों वर्णों के पुरूष सब वेदों का अध्ययन गुरू की सेवा–सुश्रूषा में लगे रहते हुए करें । तत्पश्चात् दक्षिणा देकर गुरू को सन्तुष्ट कर ब्रह्मचर्य आश्रम का समापन करें (शांतिपर्व, 234/3)। यद्यपि ब्राह्मण जन्म से ही अपने उच्च कुल के कारण पूज्य है, फिर भी वेदों के अभ्यास के बिना वह पूर्ण श्रद्धा का अधिकारी नहीं होता । वैसे विद्याभ्यास से ज्ञान की प्राप्ति होती है, ज्ञान की प्राप्ति होने से अज्ञानता का अन्धकार दूर हट जाता है, और अज्ञानता का अन्धकार समाप्त हो

जोने पर हमारा सम्पर्क एक प्रकाशमय जगत् से होता है । इस प्रकार विद्याभ्यास मनुष्य को अन्धकार से निकालकर प्रकाश की ओर, ज्योतिर्गमय ईश्वर के निकट ले जाता है । जिन क्रियाओं द्वारा इस शरीर को ईश्वर प्राप्ति के योग्य बनाया जाता है उनमें स्वाध्याय को मनु ने पहला स्थान दिया है । उनके अनुसार ब्राह्मण निर्धन होन के कारण यदि वैदिक यज्ञ न कर सके तो वह स्वाध्याय द्वारा यज्ञ के फल को प्राप्त कर सकता है । मनु ने यह भी लिखा है कि आचार्यपुत्र, सेवक, ज्ञानान्तरदाता, धर्मात्मा, पवित्र, प्रामाणिक, धारणाशक्ति वाला, धन देने वाला, हितेच्छु और ज्ञाति – ये दस धर्म से पढ़ाने योग्य है अर्थात् इनको पढ़ाना कर्तव्य है (मनु0,2/109)। जिस शिष्य के पढ़ने में धर्म और अर्थ न हो और जिसकी गुरू में भक्ति भी न हो, इस प्रकार के शिष्य को विद्या न पढ़ावे, जैसे अच्छा बीज ऊपर में न बोवे क्योंकि इस प्रकार बोने से भी उत्पन्न नहीं होता (मनु0 2/112) इस प्रकार मनु का कठोर निर्देश है कि चाहे विद्या के साथ मरना पड़े, फिर भी वेदाध्यापक घोर आपत्ति में भी अयोग्य शिष्य को विद्या न देवे (मनु0, 2/113)। साथ ही, जो पढ़–लिखकर बुद्धिमान होते हुए भी अपने गुरू का मन, वचन, कर्म से आदर नहीं करते, वे जिस प्रकार गुरू ब्र के द्वारा स्वीकारने–योग्य नहीं हैं, उसी प्रकार उनका पढ़ना कुछ भी सफल देने वाला नहीं हो सकता (मनु0 2/116)। इससे यह ही स्पष्ट है कि वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति गुरू के बिना सम्भव नहीं । उत्तम गुण वाले विद्वान् पुरूष को गुरू बनाना चाहिये । यद्यपि ब्राह्मण गुरू की ही प्रशंसा की गई है, पर विद्या या ज्ञान सब–कहीं से प्राप्त कर लेनी चाहिये । जाललि ने तुलाधार से, जानश्रुति ने रैक्व से और कौशिश ने धर्म–व्याध से ज्ञान प्राप्त किया था । विद्वान पुरूष के अभाव में पुस्तक या गुरूमूर्ति अथवा गुरू–प्रतीक को भी गुरू माना जा सकता है । एकलव्य ने द्रोणाचार्य की मिट्टी की मूर्ति को गुरू मान लिया और कबीर ने स्वामी रामानन्द के पैर की ठोकर खाकर उनके मुँह से निकले 'राम–राम' के शब्द को ही गुरू–मन्त्र मान लिया । किसी भी अवस्था में गुरू के प्रति अटूट श्रद्धा व भक्तिभाव का होना आवश्यक है । गुरू से ज्ञान और ज्ञान से मुक्ति (मोक्ष) सम्भव होता है ।

इस प्रकार मनुष्य–जीवन के पाँच प्रमुख कर्मों के विषय में विवेचना कर लेने के पश्चात् मनुष्य–जीवन की उस प्रकिया को भी समझ लेना जरूरी होगा जिसके अनुसार मोक्ष प्राप्ति न होने तक मनुष्य को जन्म और मृत्यु के चक्र से छुटकारा नहीं मिलता और उसे

बार–बार इस संसार में जन्म लेकर देह धारण करना पड़ता है । इसी को पुर्नजन्म की प्रक्रिया कहते हैं ।

पुनर्जन्म — भारतीय मान्यता यह है कि अपने कर्मफल को भोगने के लिये जीव को बार–बार इस संसार में जन्म लेना पड़ता है । पर प्रश्न यह है कि जीव का पुर्नजन्म मृत्यु के पश्चात् तुरन्त इसी लोक में होता है या परलोक जाकर जब उसे लौटना पड़ता है? शास्त्रों में ऐसे वचन हैं जिनसे यह अर्थ निकलता–सा प्रतीत होता है कि मृत्यु का पश्चात् जीव तुरन्त इस लोक में दूसरे शरीर में जन्म लेता है । उदाहरणार्थ, जातक ग्रन्थों में कहा गया है कि 'मृत्यु–घड़ी में ही अगले जन्म की जन्मकुण्डली तैयार होती है ।' पर वास्तव में शायद ऐसा नहीं होता है । बृहदारण्यकोपनिषद् (4/4–6/2) के अनुसार अन्न खाने पर पुनः अन्न खाने का समय आने तक खाए हुए अन्न का पाचन होना जरूरी होता है, वैसे ही मृम्यु होने के बाद से पुनः जन्म लेने तक बीच में कर्म–विकाक के लिये (अर्थात् कर्म–फल को भोगने के लिये) कुछ समय परलोक में बिताना पड़ता है । इच्छा से कर्म, कर्म से वासना और उसका फल, कर्म और फल, इहलोक–वास और परलोक–वास, अन्न–सेवन और उसका पाचन, सृष्टिकम के ये असंख्य द्वन्द्व–आंदोलन हैं । इन्हीं में मृम्यु और पुनर्जन्म भी एक द्वन्द्व है । इसका उद्देश्य जीव को परिशुद्ध करना होता है ताकि वह परम–शुद्ध परमात्मा में जा मिलने योग्य बन सके। बार–बार जन्म लेने से उत्पन्न प्रतिकूल परिस्थितियों के साथ संघर्ष करते हुए, जीव की सामर्थ्य, वैराग्य, विवके–संयम आदि गुणों का संवर्धन होता है और वह मुक्ति के अधिक निकट हो जाता है । जीव अनुभव प्राप्त करते परम–गति, परमोच्च ध्येय को प्राप्त हो – यह एक जन्म में सधने वाली बात नहीं है । एक जन्म में, एक शरीर में, एक परिस्थिति में सबको सध जाये – यह संभव ही नहीं है । एक जन्म में देहात्मा का पूर्ण विकास होने के लिये कई वर्ष लगते हैं, इसी प्रकार क्षेत्रज्ञ आत्मा के पूर्ण विकास के लिये अनेक पुर्नजन्म आवश्यक होते हैं । पर स्मरण रहे कि पुर्नजन्म कोई नया जन्म नहीं है । सनातन आत्मा केवल नया वेश (शरीर) धारण कर प्रगट होती है क्योंकि उसे विकास की ओर (परमात्मा की ओर) बहुत ऊँचा जाना होता है । बहुत ऊँचे पर्वत पर चढ़ने के बीच में कहीं–कहीं उतार भी होते हैं । उसी प्रकार जीव के कर्मानुरूप तात्कालिक अधः पतन अथवा पशु–कोटि में पुर्नजन्म होना भी स्वाभाविक है । यही कारण है कि भारत को मृग का जन्म लेना पड़ा; नल–कूबर–मणिग्रीव वृक्ष बने । इसी प्रकार चढ़ाव–उतार चढ़ते–उतरते अन्त में

यह आत्मा अपने पूर्णत्व को प्राप्त होती है । पर जीव कितनी बार जन्म लेगा, कितनी उच्च्य या निम्न योनि में जन्म लेगा, यह बात उसके पूर्व–जन्म और वर्तमान जन्म के कर्मों पर निर्भर करती है । जीव को कर्म–फल भोगने के लिये अपने कर्म तथा वासना से बाध्य हाकर ऊँच–नीच विविध योनियों में जन्म ग्रहण करना पड़ता है (ब्रहदारण्यक 4/4/5/)। गीता में लिखा है कि मनुष्य कर्म करने में तो स्वतंत्र है परन्तु भोग में परतन्त्र है । गीता में यह भी कहा गया है कि जैसे पुराने वस्त्रों को त्याग कर मनुष्य नए वस्त्रों को ग्रहण करता है, उसी प्रकार जीवात्मा पुराने शरीर को त्यागकर नए शरीर को ग्रहण कर लेती है । मृत्यु के बाद जीव को उसी समय दूसरी देह मिल जाती है, वह स्थूल –देह नहीं होती । वह तेज –प्रधान या वायु–प्रधान 'अतिवाहिक' देह होती है जिसकी ग्रहण करके जीवन अपने पुण्य और पाप के अनुसार विविध देवलोक अथवा पितृलोक के विभिन्न स्तरों में पहुंचता है और वहां सुख–दुख का भोग करके पुनः निर्यात के विधान से यथायोग्य स्थूल–देह को प्राप्त होता है । निवृत्ति–साधक विरक्त जीव पुर्नजन्म से बचने की इच्छा करते होंगें, पर लोकसंग्रही सन्त पुरूष पुनर्जन्म का भय या तिरस्कार नहीं करते ।

पुरूषार्थ — हिन्दू–जीवन–दर्शन में पुरूषार्थ की धारणा अत्यन्त महत्वपूर्ण है । पुरूषार्थ मानव–जीवन के चार प्रमुख आधारें या उद्दश्यों की ओर संकेत करता है और वे हैं– धर्म, अर्थ, काम, तथा मोक्ष । धर्म मानव–जीवन का आदि या मूल आधार है । मनु ने लिखा है कि जीवन की प्रत्येक क्रिया धर्म की भावना से प्रेरित होनी चाहिये । मीमांसकों के अनुसार भगवद् आज्ञा धर्म का लक्षण है । अर्थात् ईश्वरीय नियामानुसार सबके कल्याण के लिये किये गये नैतिक कर्तव्यों को ही धर्म कहते हैं । हिन्दू–मान्यता के अनुसार इन कर्तव्यों के समुचित पालन से ही व्यक्ति अपनी आत्मा की उन्नति कर सकता है और इस प्रकार मोक्ष की ओर बढ़ सकता है । वर्णधर्म, आश्रम–धर्म, देश–धर्म, राज–धर्म, स्वधर्म आदि कर्तव्यों के विभिन्न रूप को ही दर्शाते हैं और इनके माध्यम से ही ईश्वर प्राप्ति सम्भव होती है । पर साथ ही महाभारत में लिखा है कि धर्म का पूर्ण रूप से पालन काफी सीमा तक अर्थ पर निर्भर है, जिसके जीवन में अर्थ का साधन नहीं है, वह अपने कर्तव्यों का उचित ढंग से पालन नहीं कर सकता । 'अर्थ' भौतिक सुखों की सभी आवश्यकताओं और साधनों का द्योतक है । अर्थात् हिन्दू–जीवन–दर्शन में भौतिक उन्नति की भी अवहेलना नहीं की गई है क्योंकि भौतिक उन्नति के बिना दान, यज्ञ, तीर्थयात्रा आदि सद्कर्मों या कर्तव्यों का करना सम्भव

नहीं हो सकता । पर भौतिक साधनों का संग्रह व उपयोग धर्मानुसार ही होना चाहिये । दूसरे शब्दों में यदि अन्यायपूर्ण ढंग से अर्थ का संग्रह किया गया है या यदि उसका व्यय धर्म–विरूद्ध कार्यों में किया गया है तो उसका फल बुरा होता है । कहा जाता है कि पापपूर्ण साधनों से उपार्जित धन व्यक्ति के लिये नरक जाने का मार्ग प्रशस्त करता है जबकि सत्कर्मों पर व्यय किया हुआ अर्थ स्वर्ग की सीढ़ी तैयार करता है । मानव–जीवन का एक और स्वाभाविक पक्ष 'काम' है । 'काम' यौन सम्बन्धी तमास इच्छाओं और प्रवृत्तियों की ओर संकेत करता है जोकि प्रत्येक जीव के लिये सहज व स्वाभाविक है । अतः धर्म पर आधारित और आध्यात्मिक उन्नति पर बल देने वाला हिन्दू–जीवन –दर्शन भी 'काम' की अवहेलना नहीं करता है । हिन्दू–शास्त्रकारों ने इस बात पर बल दिया है कि यौन–सम्बन्धी इच्छाओं की तृप्ति इस जीवन का एक सहज, स्वाभाविक अंग मानकर की जाये, पर इसी को सब कुछ समझकर इसी में डूबे रहने की नीति को कदापि न अपनाया जाये । इस प्रकार धर्म के अनुसार अर्थ और काम को नियंन्त्रित व निर्देशित करके मनुष्य को सदा मोक्ष प्राप्ति की ओर आगे बढ़ना चाहिये ताकि जीवन–मरण के चक्र से आत्मा विमुक्त होकर परमात्मा से जा मिले और परम आनन्द का अनुभव करे । इसलिये मनुस्मृति धर्मशास्त्र के रूप में धर्म की उच्चता पर नहीं, धर्म, अर्थ, काम तीनों के उचित समन्वय पर बल देती है । 'काम' हमारी सुष्टि के मूल में हैं । स्वयं प्रभु ने ही अपने को स्त्री तथा पुरूष दो भागों में विभाजित किया है । उसी प्रकार 'अर्थ' के बिना अनेक सद्कर्म अर्थहीन हो सकते हैं । अतः इन तीनों का सन्तुलित समन्वय ही आदर्श मानव–जीवन का प्रतीक है । धर्म अर्थ तथा काम के इस समन्वित रूप को ही मनु ने 'त्रिवर्ग' की संज्ञा दी है । यह समन्वित रूप ही मनुष्य के मोक्ष का साधन बन जाता है ।

भारतीय जीवन–दर्शन के अनुसार एक सार्थक जीवन का अन्तिम ध्येय 'मोक्ष' ही है । यही परम प्राप्ति है क्योंकि यहीं पर आकर जीव को जीवन–मरण के झंझट से छुटकारा मिल जाता है और उसे परम आनन्द की अवस्था प्राप्त हो जाती है। आत्मा को परमात्मा में महामिलन ही मोक्ष है । दूसरे शब्दों में आत्मा जब अपने सच्चे व सर्वोच्च स्वरूप या स्थिति को प्राप्त कर लेती है तो उसे मोक्ष कहते हैं । कहा जाता है कि आत्मा परमात्मा का ही एक अंग है । अतः परमात्मा ही आत्मा का सबसे सत्य तथा सर्वोच्च स्वरूप है । जब आत्मा जीवन–मृत्यु के चक्र से विमुक्त होकर उसे परमात्मा में एकाकार हो जाती है तो उसी

महामिलन की स्थिति को मोक्ष कहते हैं । हिन्दू–शास्त्रों के अनुसार यह तभी सम्भव होता है जबकि मनुष्य को सभी कर्मों से तृप्ति तथा उसकी इच्छाओं का नाश हो जाता है और वह अपने को समस्त सांसारिक बन्धनों से विमक्त पाता है । इसीलिये संसार से निवृत्ति को ही मोक्ष कहते हैं । 'शिव गीता' में कहा गया है कि हृदय की अज्ञान–ग्रन्थि का नाश हो जाने अर्थात् पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति को मोक्ष कहते हैं । 'गीता' में कहा गया है कि बाह्य सुख–दुखों की अपेक्षा न कर जो व्यक्ति अपने अन्तःकरण में ही सुखी हो जाये तो अपने आपमें ही 'आनन्द' का अनुभव करने लगे और जिसे अन्तः प्रकाश मिल जाये वह योगी ब्रह्म रूप हो जाता है और अनन्त आनन्द की वह स्थिति है जिसमें कि आत्मा अपने चरम व परम लक्ष्य या गति परमात्मा को प्राप्त कर लेती है । अति संक्षेप में, सत्य, शिव एवं सुन्दर की प्राप्ति ही मोक्ष है और भारतीयों का सम्पूर्ण जीवन–दर्शन इन्हीं सत्य, शिव एवं सुन्दर की आराधना पर आधारित है ।

पुरूष में चार बातें प्रधानतः पायी जाती है शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा। आत्मा रूपी पुरूष शरीर, मन एवं बुद्धि रूपी पुर में स्थित है – 'पुरि शेते इति पुरुषः'। व्यक्ति को शरीर मन एवं बुद्धि रूपी द्वारो से पार होकर आत्मा रूपी पुरुष तक पहुंचना है । यही मानव जीवन का अंतिम उद्देश्य है । शरीर और मन की इच्छाओं की संस्तुष्टि के लिये अर्थ और काम को साधन के रूप में प्रयोग किया जाता है । प्रत्येक शरीर को भोजन और वस्त्र की आवश्यकता होती है तथा मन की तृप्ति के लिये प्रेम, सौन्दर्य, कला, संगीत आदि अनेक साधन है, लेकिन इच्छाओं की तृप्ति के लिये अनीति और असत्य का सहारा नही लेना चाहिये । इसलिये इन पर धर्म का अंकुश रहना चाहिये । अर्थ सांसारिक जीवन जीने का साधन है । लेकिन अधर्म से उपार्जित धन कभी भी जीवन को सफल नही कर सकता । काम एक प्राकृतिक इच्छा है इसको पूरा करना भी व्यक्ति के लिये आवश्यक होता है, क्योंकि अतृप्त इच्छाओ वाला पुरूष मोक्ष तक कभी भी नही पहुंच सकता इसलिये काम से सम्बंधित इच्छाओं को जाग्रत होकर ही पूरा करना चाहिये । और यह भी सत्य है कि व्यक्ति की इच्छायें तो पूरी हो सकती है, लेकिन वासनायें नहीं । व्यक्ति को अपनी इन्द्रियों को साधन मानकर ही चलना चाहिये, साध्य कभी नही । अर्थात व्यक्ति को कभी भी अपनी इन्द्रियों के वशीभूत नहीं होना चाहिये। व्यक्ति का प्रथम पुरूषार्थ धर्म है । धर्म की व्याख्या करते हुये मनीषियों ने कहा है। कि धर्म जीवन की आचार संहिता है । धर्म में सत्य, प्रेम, अहिंसा, शुचिता, पवित्रता, और अपरिग्रह का

समावेश होता है । धर्म ही व्यक्ति के जीवन का आधारभूत एवं केन्द्रिय तत्व है । धर्म के बिना जीवित व्यक्ति भी निर्जीव के समान हो जाता है । पुरूषार्थ का अंतिम पड़ाव मोक्ष है । यह संसार नाना प्रकार के दुखों का घर है । यहां सन्ताप के अतिरिक्त कुछ भी नही है । भूमि के पुत्र रूपी पुरूष, पुरूषार्थो का पालन करके ही अपने जीवन के अंतिम उद्देश्य मोक्ष को प्राप्त कर सकते है । पुरूषार्थ का सिद्धान्त उस मूलभूत भारतीय आचारनीति व्यवस्था की परिकल्पना है जो एक "सम्पूर्ण पुरूष" को परिभाषित करती है ।

पुरूषार्थ का अर्थ :–

पुरूषार्थ शब्द का अर्थ है, मनुष्य का प्रयोजन और मनुष्य के प्रयोजन का अर्थ है सुखी एवं शान्त जीवन । सुखी जीवन उन सभी आवश्यकताओं, इच्छाओं और लक्ष्यों का पूरा को पूरा होने पर सम्भव है, जो अभ्युदय और निश्रेयस की सिद्धि के हेतु है । मनुष्य की इन आवश्यकताओं, इच्छाओं और उद्देश्यों पर दृष्टि रखते हुये ही भारतीय विद्वानों ने पुरूषार्थो की संख्या चार मानी है। ये चार पुरूषार्थ है धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष ।

श्री अरविन्द के अनुसार – कर्म, ज्ञान और भक्ति इन तीनों का जिस तरह ऐक्य होता है वही श्रेष्ठ पुरूषार्थ है ।

डा0 राधाकृष्णान के अनुसार :– पुरूषार्थ एक प्रकाश स्तम्भ है जो हिन्दू जीवन के सभी पक्षों को अवलोकित करता है। पुरूषार्थ एक कर्तव्य परायण हिन्दू पुरूष का उसके वर्ण और आश्रम के आधार पर वर्णन करता हैं ।

महात्मा गाँधी के अनुसार :– ईश्वर रूप होने का प्रयत्न ही सच्चा और एकमात्र पुरूषार्थ है ।

डा0 कपाडिया[2] ने विभिन्न पुरूषार्थो का अर्थ स्पष्ट करने की दृष्टि से बतलाया है । कि मोक्ष जीवन का अंतिम लक्ष्य है । इसका तात्पर्य है कि मानव की वास्तविक प्रकृति अध्यात्मिक है और जीवन का उद्देश्य इसको अभिव्यक्त करना है और इसके द्वारा ज्ञान और आनन्द प्राप्त करना है अर्थ मानव में भौतिक उपलब्धि प्राप्त करने की सहज प्रवृत्ति को बतलाता है । मानव का अपने जीवन में धन अर्जित करना और संग्रहीत करना उसके उपभोग की प्रवृत्ति को व्यक्त करता है । हिन्दू विचारकों ने धन को जीवन मे एक पुरूषार्थ के रूप में स्थान देकर उसे उचित मानवीय आकांक्षा माना है । काम मानव के भावुक जीवन

---

2. डा0 के0एम0 कपाड़िया, मैरिज एण्ड फेमली इन इण्डिया, पृ0 2527

और उसके सहज स्वभाव से सम्बंधित है । काम का तात्पर्य व्यक्ति के केवल मूल प्रवृत्ति सम्बंधी जीवन से नही है । इसका अर्थ साथ ही उद्वेगपूर्ण और सौन्दर्यात्मक जीवन से भी है। मानव की सौन्दर्यात्मक भावना की अभिव्यक्ति सुन्दर एवं उत्कृष्ट वस्तु निर्माण और उसकी प्रशंसा द्वारा होती है । जीवन का सर्वोपरि सृजनात्मक प्रवृत्ति मे ही है । अर्थ और काम को व्यक्ति के लिये वांछनीय अभीष्ट मानकर हिन्दू विचारकों ने बतलाया है कि मानव की आध्यात्मिकता की अभिव्यक्ति केवल तभी होती है जब उसका जीवन आर्थिक दरिद्रता या उद्वेगात्मक अतृप्ति से ग्रसित न हो । ज्ञानियों का यह भी मानना है कि काम और अर्थ साधन है न कि साध्य । वह जीवन, जो इनकी अनियंत्रित सन्तुष्टि में अपने आपको लगा देता है, अवांछनीय तथा घातक है । अतः यह आवश्यक है कि जीवन का निर्देशन अध्यात्मिक अनुभूति के आदर्श से होना चाहिए और धर्म को यही करने की आवश्यता है । पुरूषार्थ का सिद्धान्त भौतिक इच्छाओं और अध्यात्मिक जीवन में सामंजस्य स्थापित करता है। पुरूषार्थ सिद्धान्त बतलाता है कि व्यक्ति को अपने जीवन में क्या प्राप्त करना है ? उसके लक्ष्य क्या है? उसे किन मूल भूत दायित्वों को निभाना है ? अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि पुरूषार्थ व्यक्ति को उसके चार मौलिक कर्तव्यों का बोध कराता है । डा0 राधाकमल मुकर्जी ने लिखा[3] है कि वर्णो और आश्रामों के धर्मो और उत्तरदायित्वों की पूर्ति मनुष्य द्वारा चार पुरूषर्थो के आंकलन पर निर्भर है । भारतीय दृष्टि से जीवन के मूल्यों को चार पुरूषार्थो में बांट दिया गया है। गृहस्थ जीवन के उद्देश्य अर्थ और काम को धर्म और मोक्ष के अधीन रखा गया है । इसमें मोक्ष ही अंतिम ध्येय है, ऐसी जीवन में सर्वोच्च और शाश्वत आदर्श की प्राप्ति होती है । इस प्रकार जीवन के सभ मूल्यों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का समन्वय होना चाहिये ।

अतः कहा जा सकता है कि धर्म, अर्थ और काम के समन्वित प्रयास से ही मानव जीवन के अभिष्ट लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त किया जा सकता है ।

भारत रत्न महामहोपाध्याय डा0 पाण्डुरंग बामन काणे ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ धर्मशास्त्र का इतिहास के पांचवें भाग के 36वें अध्याय में पुरूषार्थ को स्पष्ट करते हुआ लिखा है कि – पुरूषार्थ की भावना मानवीय प्रयास (मनुष्य के उद्योग) के ध्येयों अथवा लक्ष्यों की घोतक है ।

---

3. डा0 राधाकमल मुकर्जी – भारतीय समाज विन्यास–पृ0 45 ।

पुरूषार्थ चार हैं – धर्म (सदाचार) अर्थ (अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र एवं नागरिकशास्त्र) काम (आनन्द भोग तथा सौन्दर्यशास्त्र) मोक्ष आत्मा द्वारा अपने वास्तविक स्वभाव की अनुभूति तथा हीन इच्छाओं तथा ध्येयों के बंधन से स्वतंत्रता मोक्ष आत्मा को परमपुरूषार्थ कहा गया है और तीनों को त्रिवर्ग की संज्ञा मिली है । धर्म की धारणा बहुत ही महत्वपूर्ण है और उन सिद्धान्तों की ओर इंगित करती है जिन्हे व्यक्तियों को जीवन भर अपने सम्बंधों मे आपने आचरणों में उतारना पड़ता है । उपनिषद काल में धर्म की धारणा सर्वोच्च स्थान ग्रहण करने लगी थी । वृहस्पति, उपनिषद (1/4/14)में कथित है – 'धर्म से उच्च कोई अन्य नही है। तैत्तिरीयारण्यक(10/63) में उल्लेख है –

धर्म सम्पूर्ण विश्व का आश्रय (आधार या शरण)

महाभारत के अनुसार –

'धर्मे च अर्थे च कामे च मोक्षे च भारतवर्षम।
यदि हास्ति तदन्यत्र यत्रेहास्ति न कुविचित्।।'

अर्थात् चारों पुरूषार्थो से सम्बंधित प्रत्येक वस्तु इसमे अवस्थित है । इसमें जो उनके विषय मे नही है । वह अन्यत्र नही है । उद्योगपर्व में आया है कि यह सभी जीवों को धारण करता है अतः धर्म कहलाता है । वनपर्व एवं मनु दोनो में उद्घोषणा है जब धर्म का हनन होता है तो वह हननकर्ता को मार डालता है और जब इसकी रक्षा होती है तो यह मनुष्य की रक्षा करता है । अतः धर्म कर हनन कभी नही होना चाहिये, नही तो धर्म हमें नष्ट कर देगा ।" व्यास ने महाभारत का अन्त एक पवित्र प्रार्थना के साथ किया है – मै हाथ ऊपर उठा कर उच्च स्वर में कहता हूँ किन्तु कोई नही सुनता है, धर्म से अर्थ एवं काम (सभी कामनाओं) की उत्पत्ति होती है, धर्म का आश्रय क्यो नही लिया जा रहा है । धर्म का त्याग किसी वांच्छित उद्देश्य से नही करना चाहिये, न भय से, न लोभ से और न जीवन के लिये ही इसका त्याग करना चाहिये । धर्म नित्य है । सुख और दुख अनित्य है । जीवात्मा नित्य है।

महाभारत में आया है कि तीन (धर्म, अर्थ एवं काम) सभी के लिये, धर्म तीनों में श्रेष्ठ है, अर्थ बीच मे आता है और काम सबसे नीचा होता है । इसलिये जब इनमें से किसी एक का विरोध होता है तो धर्म का अनुसरण करना चाहिये और अन्य दो को छोड़ देना चाहिये । इससे प्रकट होता है कि अर्थ एवं काम दोनो धर्म के अधीन है और तीनों (धर्म, अर्थ एवं

काम) आध्यात्मिक लक्ष्य (मोक्ष) के अधीन है । धर्मशास्त्र सबके लिये सन्यास की व्यवस्था नही देते किन्तु उन्होने मूल्यों की एक सोपान पद्धति निर्धारित की है ।

पुरूषार्थ के चर्तुवर्ग के सिद्धान्त का सबसे अधिक महत्व इस बात का है कि इसमे प्राचीन काल से चले आते हुये प्रवृत्ति और निवृत्ति के विरोध को दूर करके उनमें समन्वय स्थापित किया गया है । पुरूषार्थ चर्तुवर्ग केवल प्रवृत्ति का उसी प्रकार से विरोधी है जिस प्रकार अकेली निवृत्ति का । उसके अनुसार इन दोनो का समुचित सामंन्जस्य ही मनुष्य लौकिक और परलौकिक सुख समृद्धि अथवा अभ्युदय और निः श्रेयस की सिद्धि कर सकता है । चर्तुवर्ग का सिद्धान्त इस रहस्य का निर्देश है कि मनुष्य संसार में रहकर अपने और समाज के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करता हुआ, किस प्रकार अपने लक्ष्य पर पहुंच सकता है । इस सिद्धान्त में प्रवृतिपरक और निवृतिपरक प्रवृत्तियों मे सामंन्जस्य स्थापित किया गया है । प्रवृत्ति का अर्थ है – काम में लगना । निवृत्ति का अर्थ है – काम से हटना । बहुधा प्रवृत्ति शब्द का प्रयोग सांसारिकता के चक्र में फंसना और निवृत्ति का अर्थ इस संसार से मुंह मोड़कर परलोक के चिन्तन मे मग्न रहना लगाया जाता है । प्रवृत्ति का अर्थ संसार के झंझटों में फंसना और निवृत्ति का अर्थ संसार के झंझटों से दूर रहकर ज्ञान और वैराग्य की बातों को सोचना । प्रवृत्ति का अर्थ इस जगत को ही सुख और आनन्द का सागर समझना है । और निवृत्ति का अर्थ इस संसार का झूठा समझना बतलाया जाता है, परन्तु भारतीय संस्कृति में इन दोनो शब्दों का अर्थ सही तक सीमित नहीं है । वास्तविक प्रवृत्ति का अर्थ है उन कार्यो को करना जो मनुष्य को ऊंचा उठाते हैं ।

प्रवृत्ति को भारतीय संस्कृति में देह दृष्टि से नही देखा गया है । बल्कि उसकी आवश्यकता समझी गयी है । मनुष्य की कोई भी क्रिया ऐसी नही जो बिना प्रवृत्ति के सिद्ध हो जाय । प्रवृत्ति पर जो कुछ नियंत्रण भी है वह यह है कि मनुष्य ऐसे कामों में अपने को प्रवृत्त करें जो उसका नैतिक, आध्यात्मिक और सामाजिक पतन करें । बल्कि इसके विरूद्ध वह शास्त्रों द्वारा बतलाये गये नियमों द्वारा अर्थ, काम और धर्म में प्रवृत्त हो । निवृत्ति का अर्थ भी इसी प्रकार संसार को छोड़कर जंगलों में भाग जाना नही है, किन्तु अपने को उन बुराईयो मे निवृत्त होना चाहिये । इसी को गीता में निष्काम कर्मयोग कहा गया है । जिस प्रकार निष्काम कर्मयोग प्रवृत्ति में समन्वय और सामंजस्य स्थापित करता है, उसी प्रकार पुरूषार्थ चर्तुवर्ग का सिद्धान्त भी इसमें समन्वय स्थापित करता है ।

पुरूषार्थ का सामाजिक जीवन में महत्व :–

पुरूषार्थ का तात्पर्य उद्योग करने या प्रयत्न करने से है । इस सम्बंध में कहा गया है कि पुरूषैरथ्यते, जिसका अर्थ है अपने अभीष्ट को प्राप्त करने के लिये उद्यम करना ही पुरूषार्थ है । यहां अभीष्ट का अर्थ मोक्ष प्राप्ति से है । अतः मोक्ष जीवन का लक्ष्य है और इसकी प्राप्ति के लिये धर्म अर्थ और काम पुरूषार्थ या माध्यम है । लगातार प्रयत्न करते रहना और अपने लक्ष्य की ओर आगे बढते जाना ही पुरूषार्थ है । भारतीय परम्पराओं में पुरूषार्थों के औचित्य का जीवन के चार आधारभूत कर्तव्यों के रूप में उल्लेख मिलता है । जिन्हे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का नाम दिया गया है । इन चारों पुरूषार्थो को प्राप्त करके ही व्यक्ति जन्म–मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो सकता है ।

डा0 कपाड़िया ने अपनी पुस्तक "मैरिज एण्ड फैमिली इन इण्डिया" में उल्लेख किया है कि मोक्ष जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। इसका तात्पर्य है कि मानव की वास्तविक प्रकृति आध्यात्मिक है और मानव जीवन का अन्तिम उद्देश्य इसको अभिव्यक्त करना और इसके द्वारा ज्ञान और आनन्द प्राप्त करना है ।

डा0 प्रभु ने "पुरूषार्थ को आश्रम व्यवस्था का मनोवैज्ञानिक नैतिक आधार माना है"[1] पुरूषार्थ को मनोवैज्ञानिक आधार इसलिये माना गया है कि व्यक्ति धर्म, अर्थ और काम की पूर्ति द्वारा मानसिक सन्तोष प्राप्त करता है और जीवन के उच्चतम आदर्श मोक्ष की ओर आगे बढ़ता है। पुरूषार्थ को नैतिक आधार मानने का कारण यह है कि व्यक्ति को मानवीय गुणों के विकास और धर्मानुकूल आचरण की प्रेरणा देता है, कर्तव्यों के पालन हेतु प्रोत्साहित करता है । पुरूषार्थ का सिद्धान्त हिन्दू–मनीषियों की भारतीय समाज को एक अनुपम देन है, जो केवल भोगवाद की ओर व्यक्ति को प्रवृत्त न करके उसे आध्यात्मिकता की ओर बढ़ने को प्रोत्साहित करती है । पुरूषार्थ के सिद्धान्त में जीवन के प्रति एक समन्वित और व्यापक दृष्टिकोण अपनाया गया है। यदि कोई व्यक्ति केवल अर्थ और काम में ही डूबा रहे तो उसमें और पशु में कोई अन्तर नही होगा । महाभारत मे बतलाया गया है कि आहार, निद्रा, भय एवं मैथुन मनुष्यों और पशुओं के लिये समान रूप से स्वाभाविक है। यदि मनुष्य और पशुओं में

---

1. पी0एच0 प्रभु, हिन्दू सोशल आर्गेनाइजेशन, पृ0 79,80 ।

कुछ अन्तर है तो वह केवल धर्म का है । "जिस मनुष्य में धर्म नही वह पशु के समान है ।"[2] पुरूषार्थ का सिद्धान्त मानव की पशु प्रवृत्तियों का समाजीकरण करता है एवं उसकी आसुरी प्रवृत्तियों को नियंत्रित करता है । यह सिद्धान्त सांसारिक और आध्यात्मिक जीवन के बीच इहलोक और परलो के बीच अर्थात् स्वार्थ और परमार्थ के बीच एक सुन्दर समन्वय स्थापित करता है।

पुरूषार्थ के सिद्धान्त का समाजशास्त्रीय महत्व इस दृष्टि से भी है कि यह व्यक्ति और व्यक्ति के बीच तथा व्यक्ति और समाज के बीच सम्बंधों को संतुलित करता है । यदि व्यक्ति अपने को ही सब कुछ मान लें और अन्य व्यक्तियों या समाज की बिल्कुल चिन्ता न करे तो जन कल्याण नही हो सकता, समाज प्रगती की ओर आगे नही बढ सकता। पी0एच0 प्रभु ने बताया कि "पुरूषार्थ बतलाता है कि व्यक्ति और समूह के बीच किस प्रकार के सम्बंध होने चाहिये । वे व्यक्ति और समूह की क्रियाओं के बीच उचित सम्बंधों को परिभाषित करते है, वे व्यक्ति और समूह के बीच अनुचित सम्बधों की ओर ध्यान भी ले जाते है ताकि व्यक्ति ऐसे सम्बंधों से बच सके । इस तरह पुरूषार्थ व्यक्ति और समूह को नियंत्रित करते है और साथ उनके अन्तर सम्बधों को भी नियंत्रित करते है ।"[3]

धर्म का एक पुरूषार्थ के रूप में इसी दृष्टि से महत्व है कि यह काम और अर्थ को नियंत्रित करता है । काम और अर्थ जीवन के परम लक्ष्य नहीं है बल्कि धर्म और मोक्ष की प्राप्ति के साधन हैं। काम और अर्थ उचित मात्रा में उपभोग कर पुरूषार्थ सिद्धान्त के अन्तर्गत जोर दिया गया है । धर्म एक पुरूषार्थ है जो व्यक्ति को अपने कर्तव्यों के पालन की प्रेरणा देता है, और उसे गलत मार्ग पर जाने से रोकता है । यह अनुचित तरीके से धन कमाने या काम इच्छाओं की पूर्ति करने पर नियंत्रण लगाता है । सामाजिक दृष्टि से इस पुरूषार्थ का महत्व नही है कि यह सभी के कल्याण का आदर्श प्रस्तुत करता है । धर्म व्यक्ति को मानसिक संघर्षो के मुक्त करता है, उसे दायित्व का बोध कराता है, विपदाओं के समय भी धैर्य बनाये रखने को प्रेरित करता है । धर्म अन्य पुरूषार्थो का मार्ग दर्शन कराता है ।

अर्थ का एक पुरूषार्थ के रूप में यही महत्व है कि वह व्यक्ति और समाज दोनों

---

2. महाभारत शान्ति वर्ष 294,29 ।

3. पी0एच0 प्रभु, हिन्दू सोशल आर्गेनाइजेशन, पृ0 82 ।

की सुख समृद्धि की दृष्टि से आवश्यक है । यह व्यक्ति को प्रयत्न या उद्यम करने के लिये प्रेरित करता है । व्यक्ति अर्थ के उपार्जन द्वारा ही स्वधर्म का पालन करता है । विभिन्न ऋणों से मुक्त होता है । यह ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी, सन्यासी और यहां तक कि पशु पक्षियों की आवश्यताओं तक की पूर्ति करता है । निर्धनता को एक अभिशाप माना गया है क्योंकि एक निर्धन व्यक्ति न तो अपने परिवारजानों का ठीक प्रकार से भरण पोषण कर पाता है और न ही समाज के आर्थिक विकास मे योगदान कर पाता है व्यक्ति के द्वारा उद्यम किये बिना समाज का आर्थिक विकास सम्भव नही है और आर्थिक विकास के अभाव में समाज शक्तिशाली नही बन सकता । यही कारण है कि गृहस्थी के लिये अर्थ को एक पुरूषार्थ के रूप में जीवन का एक लक्ष्य माना गया है। लेकिन अर्थ को धर्म के अधीन रखा गया है ताकि इसका उपार्जन और उपभोग उचित रीति से ही हो । आज अनेक आर्थिक और सामाजिक समस्याओं का मूल कारण अर्थ को अपने आप मे लक्ष्य मानकर जीवन मे बहुत अधिक महत्व देना है । धर्म के नियंत्रण के शिथिल पड़ जाने से आज व्यक्ति धन कमाने या उसका उपभोग करने में उचित और अनुचित का विवेक खो चुका है । पुरूषार्थ सिद्धान्त के अन्तर्गत अर्थ का महत्व इसी दृष्टि से है कि व्यक्ति उद्यम करके उचित रीति से धन कमाये और अपनी तथा समाज के लोगो की आवश्यकताओं को पूरा करे । काम पुरूषार्थ का महत्व इस दृष्टि से है कि यह यौन इच्छाओं की सन्तुष्टि तथा मानसिक तनावों को कम करके और स्नेह सम्बधों को दृढ़ करता है । काम इच्छाओं की पूर्ति से सन्तानोत्पत्ति होती है, वंश परम्परा चलती रहती है, समाज की निरन्तरता बनी रहती है और सांस्कृतिक परम्पराएं पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होती रहती है । काम के द्वारा ही सन्तान को जन्म देकर व्यक्ति पित्–ऋण से उऋण होता है और धार्मिक दायित्वों को पूर्ण कर पाता है ।

काम के बिना व्यक्ति के जीवन में निष्क्रियता आ सकती है और व्यक्ति आर्थिक दायित्वों को नही निभा पायेगा । काम व्यक्ति की कलात्मक या सृजनात्मक प्रवृत्तियों को विकास का अवसर प्रदान करता है ।

काम व्यक्तित्व के विकास मे महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है । काम का इस दृष्टि से भी महत्व है कि काम इच्छाओं की पूर्ति या इन्द्रिय की सन्तुष्टि होने पर ही व्यक्ति मे विरक्ति की भावना जाग्रत होती है और वह मोक्ष की ओर आगे बढ़ता है । काम पुरूषार्थ का यद्यपि मे काफी महत्व है परन्तु इसे धर्म से अधीन रखा गया है ।

मोक्ष जीवन का अंतिम लक्ष्य माना गया है और धर्म, अर्थ तथा काम इसी लक्ष्य की पूर्ति के साधन माने गये हैं । व्यक्ति जीवन में अर्थ और काम का उपभोग करता है लेकिन इसके बाद भी उसे निराशा, कष्ट दुख चिन्ता और विपत्तियों का सामना करना पड़ता है इनसे विचलित हुये बिना कर्तव्य पथ पर बढ़ते रहने की प्रेरणा मोक्ष पुरूषार्थ द्वारा ही प्राप्त होती है । यहां पर मोक्ष की अवधारणा पर विशेष ध्यान दिया गया है। इस सम्बंध में व्यक्ति को यह आदेश दिया गया है कि सब ऋणों से उऋण हाने के पश्चात् ही मोक्ष पुरूषार्थ की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिये । इस पुरूषार्थ ने व्यक्तियों को मानवीय गुणों के विकास; आत्मज्ञान की प्राप्ति और परब्रह्म मे अपने को लीन करने की प्रेरणा दी गयी है ।

मनु ने लिखा है कि मानवता का कल्याण तीनों (त्रिवर्ग) अर्थात धर्म, अर्थ और काम के सन्तुलित समन्वय में है । आपने बताया कि कुछ कहते है कि मनुष्य का हित धर्म और अर्थ में है । कुछ कहते है कि केवल धर्म मे है, जबकि दूसरे इस बात पर जोर देते है कि इस पृथ्वी पर केवल अर्थ ही मनुष्य का प्रमुख हित है । लेकिन सही स्थिति यह है कि मनुष्य का हित या कल्याण इन तीनों के सन्तुलित समन्वय में है ।

सभी पुरूषार्थो का अपना अपना महत्व है और ये परस्पर सम्बंधित है । किसी एक पुरूषार्थ पर आवश्यकता से अधिक जोर देकर जीवन का सन्तुलित विकास नही किया जा सकता । संसार में शायद ही अन्यत्र कही ऐसी व्यवस्था रही हो जहां सांसारिक और परलौकिक जीवन में इतना व्यवहारिक समन्वय स्थापित किया हो जितना भारत में । पुरूषार्थ सिद्धान्त के अन्तर्गत व्यक्ति और समाज के दायित्वों का इस प्रकार निर्धारण किया गया है । कि दोनो एक दूसरे के विकास मे सहायक हो सकें । और अन्त मे व्यक्ति अपने जीवन के अभीष्ट लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर सके ।

अध्ययन का महत्व :— हमारी वर्तमान स्थिति सांस्कृतिक विलम्बना की है क्योंकि वर्तमान में मनुष्य ना ही पूर्णतः परम्परावादी ही है और न ही पूर्णतः भौतिकवादी एक मिश्रित संस्कृति में जीवनयापन कर रहा है । इस अवधारणा का सर्वप्रथम प्रयोग ऑगबर्न ने सन् 1922 में अपनी पुस्तक 'सोशल चेंज' में किया । ऑगबर्न ने संस्कृति के दो पक्षों की चर्चा की है, भौतिक तथा अभौतिक संस्कृति । ऑगबर्न के अनुसार संस्कृति के इन दोनों पक्षों में समान गति से परिवर्तन नहीं होता । संस्कृति के भौतिक पक्ष अर्थात् सभ्यता में अभौतिक पक्ष अर्थात् मूल्यों, विश्वासों, आदतों, परम्पराओं आदि की अपेक्षा तीव्र गति से परिवर्तन होता है ।
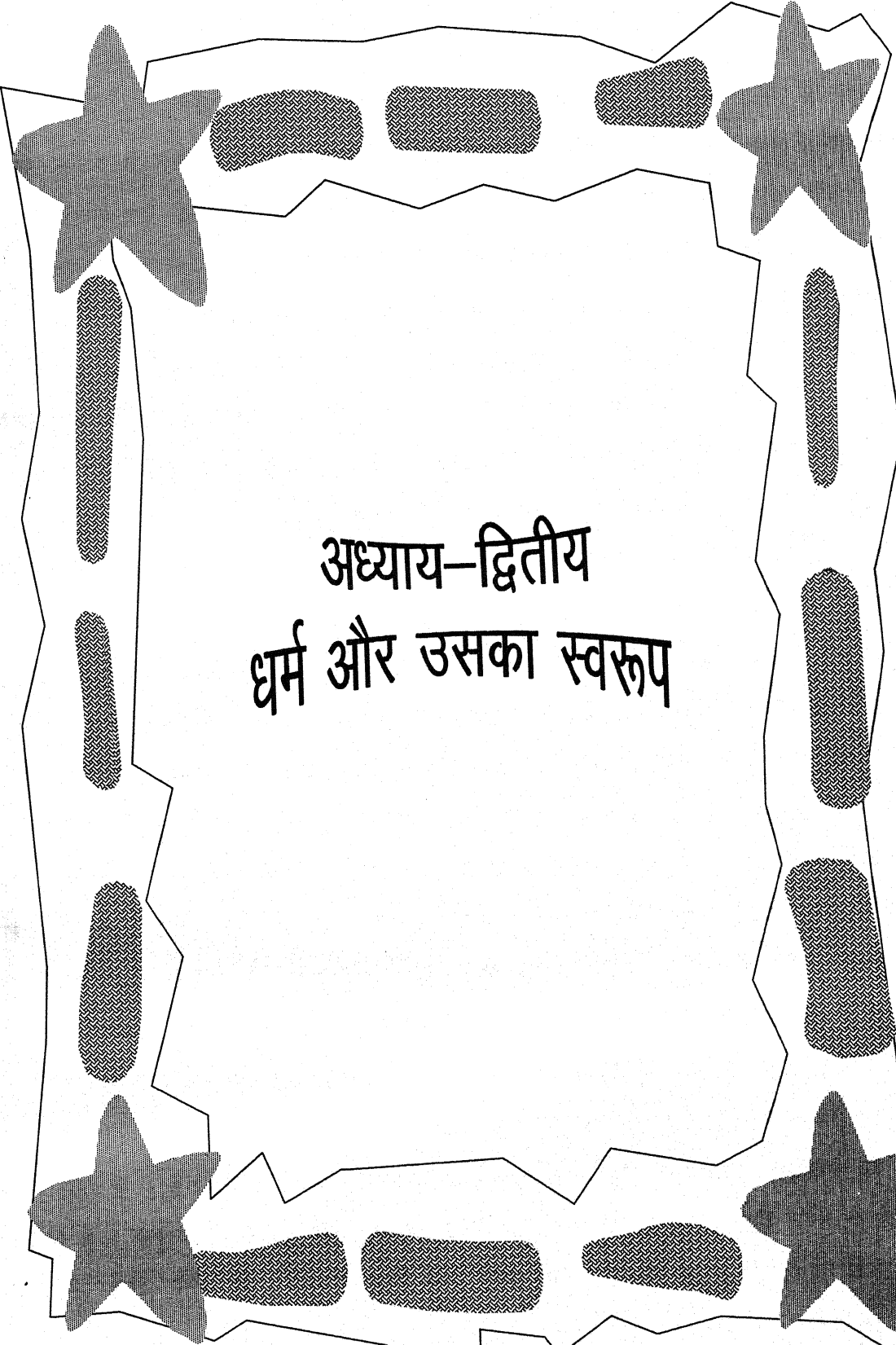
परिणामतः परिवर्तन की दौड़ में संस्कृति का अभौतिक पक्ष भौतिक पक्ष से पिछड़ जाता है । इन दोनों संस्कृतियों के बीच उत्पन्न इस पिछड़न की स्थिति को ही ऑगबर्न ने सांस्कृतिक विलम्बना या सांस्कृतिक पिछड़न के नाम से इंगित किया है ।

ऑगबर्न ने कहा है कि जब हम 'विलम्बना' शब्द का प्रयोग करते हैं तब इसका अभिप्राय किसी वस्तु के जो आगे बढ़ने में होने वाली देरी से है । अतः जब संस्कृति के दोनों संबंधित पक्षों में तनाव उत्पन्न होने के कारण उनमें असमान गति से परिवर्तन होता है तब हम इसे उस अंग की विलम्बना या पिछड़न कहते हैं जो मन्द गति से परिवर्तन हो रहीं हैं क्योंकि इसमें एक अंग दूसरे से पीछे रह जाता है ।

यह अवधारणा यह बताती है कि एक समाज के तकनीकी विकास और उसकी नैतिक एवं कानूनी संस्थाओं में समान गति से परिवर्तन नहीं होता है । तकनीकी विकास में तीव्र गति से परिवर्तन होता है, परिणामतः दोनों में एक अन्तराल उत्पन्न हो जाता है । इस पिछड़न और अन्तराल के कारण कभी–कभी कुछ समाजों में सामाजिक संघर्ष और समस्याएं उत्पन्न हो जातीं हैं । जो वर्तमान भारत की स्थिति हैं ।

इस शोध कार्य को करने के लिये कुछ प्रश्नों के उत्तर शोधों द्वारा ही खोजे जा सकते हैं । शोध के लिये प्रथम प्रश्न यह है कि क्या आज व्यक्ति और समाज का पतन प्राचीन पुरूषार्थों की अवधारणा का पालन न करने से हुआ है ? दूसरा प्रश्न यह है कि क्या आज वर्तमान सामाजिक स्थिति में पुरूषार्थों की प्रासंगिकता है ? और अन्तिम प्रश्न यह है कि क्या आज वर्तमान विसंगतियों को पुरूषार्थों की अवधारणा का पालन कर दूर किया जा सकता है ? तथा जिसके पालन से हम तथा हमारा सामाजिक जीवन सुख शान्ति और सुस्कृत हो सकता है ? इस सभी प्रश्नों के उत्तर प्राप्त करने के बाद ही हमें अपने मूल प्रश्न का उत्तर प्राप्त हो सकेगा कि मैं कौन हूँ ? कहां से आया हूँ ? और यहां आने का क्या उद्देश्य है ?

प्रस्तुत शोध विषय के अध्ययन के लिए ऐतिहासिक व्यावहारिक अवलोकन अनुभवात्मक पद्धतियों का प्रयोग किया है । इन विधियों के द्वारा ही शोध कार्य को पूरा किया गया । इस शोध विषय का अध्ययन करने के लिये बांदा नगर का चुनाव किया गया तथा इस नगर के प्रत्येक वर्ग के कुछ व्यक्तियों का साक्षात्कार लेकर अध्ययन के निष्कर्ष तक पहुँचने का प्रयास किया है ।

अध्याय–द्वितीय
धर्म और उसका स्वरूप

धर्म और उसका स्वरूप

प्रस्तुत अध्याय में बताया गया है कि धर्म का पुरूषार्थ में प्रथम स्थान है, धर्म क्या है, मानव जीवन में धर्म का क्या महत्व है ? और धर्म का समाज में क्या कार्य है यह किस प्रकार समाज को एकीकृत और सुव्यवस्थित करता है । इस अध्याय में बताया गया है कि मानव को धर्म के अधीन रहकर ही अपने जीवन के कर्तव्यों को पूरा करना चाहिये ।

हिन्दू धर्म का आधार वेद है किन्तु कतिपय व्यक्ति ही उस आधार के शुद्ध रूप और मर्म से अवगत रहते है । अन्य धर्म ग्रन्थ वेद वृक्ष की शाखाओं की भांति है । प्रायः हम किसी एक शाखा के नश्वर फल चख कर ही धर्म के मूल्यों को आंकने लगते है । पर उस मूल का पता लगाने का किंचित भी प्रयत्न नहीं करते जिससे सम्पूर्ण धर्म उत्पन्न हुआ है । इसलिये धर्म का व्यापक स्वरूप समझने में प्रायः भूल कर जाते है । ऐसी ही भूल हम उपनिषदों के अध्ययन में भी करते है । उपनिषदों पर आचार्यो के भाष्य पढ़कर ही आजकल के पाठक सन्तोष कर लेते है । हमारा ज्ञान आचार्यो के साम्प्रदायिक आग्रह से ही सीमित रहता है। हमे धर्म की झांकी के पूर्ण दर्शन के लिये उपनिषदों और वेदों के मूल तक पहुंचने का प्रयत्न करना चाहिये । किन्तु यह तभी सम्भव होगा जब पहले बुद्धि को स्वतंत्र विचारों से शुद्ध कर लिया जाय । हम अपनी बौद्धिक स्वतंत्रता खो कर ही दूसरों के विचारों से प्रभावित होते है और अपने विचारों का विकास नही कर पाते । इसलिये हम धार्मिक ग्रन्थों को ठीक नही समझ पाते । धर्म ग्रन्थों को समझने के लिये पाठक को पहले अपनी विचार शक्ति को स्वतंत्रता से जाग्रत करने की आवश्यकता होती है । तब वह आचार्यो के भाष्य तथा ग्रन्थों के मूल को समझ सकता है । हमारा धर्म उस त्रिवेणी की भाँति है, जहां पर ज्ञान, कर्म, और प्रेम की विविध धाराएं आकर एक हो जाती है । अन्तरात्मा, मानसिक जगत् और स्थूल जगत् इन तीनो स्वरूपों में एक ही महाशक्ति की अभिव्यक्ति होती है । ज्ञान भक्ति और कर्म के समन्वित उपाय से मनुष्य उस युक्तावस्था को प्राप्त कर लेता है जो हमारे धर्म का मूल सत्य एवं उत्स है । इन तीनों उपायों के द्वारा आत्मा के साथ एकाकार हो जाना धर्म का मुख्य उद्देश्य हैं । मनुष्य की प्रधान तीन वृत्तियां सत्य, प्रेम, और शक्ति हैं । इन्ही तीनों के विकास के द्वारा मानव जाति की क्रमोन्नति होती है । सत्य, कर्म और प्रेम के द्वारा धर्म के त्रिमार्ग पर

अग्रसर होना ही प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है । आज हमको जाग्रत होकर अपने धर्म के मूल सिद्धान्तों को पुनर्जीवित करना है ।

भारतीय समाज धर्म–प्राण समाज कहलाता रहा है । और धर्म की प्रत्येक क्षेत्र में महत्ता रही है । धर्म व्यक्ति, परिवार, समाज और सम्पूर्ण राष्ट्र के जीवन को अनेक रूपों में प्रभावित करता रहा है । यहां भौतिक सुख प्राप्ति को जीवन का परम लक्ष्य न मानकर धर्म संचय को प्रधानता दी गयी है । भारतीय सामाजिक व्यवस्था मूलतः धर्म पर आधारित है । यहां धर्म के आधार पर जीवन के समस्त कार्यो की व्यवस्था करने का प्रयास किया गया है । भारतीय समाज में व्यक्ति कर्म, ज्ञान एवं भक्ति के द्वारा परमेश्वर के स्वरूप को समझने का प्रयत्न करता रहा है । डा0 राधाकृष्णन ने लिखा है, धर्म की धारणा के अन्तर्गत हिन्दू उन सब अनुष्ठानों और गतिविधियों को करता है, जो मानवीय जीवन को गढ़ती और बनाये रखती है । हमारे पृथक–2 हित होते है, विभिन्न इच्छाऐं होती है और विरोधी आवश्यकताएं होती है, जो बढ़ती और बढ़ने की दशा में ही परिवर्तित हो जाती हैं । उन सबको घेरकर एक समूचे रूप में प्रस्तुत कर देना धर्म का प्रयोजन है । धर्म का सिद्धान्त हमें आध्यात्मिक वास्तविकताऐं को मान्यता देने प्रति सजग करता है, संसार से विरक्त होने के द्वारा नही, अपितु इसके जीवन में इसके व्यवसाय (अर्थ) और इसके आनन्दों (काम) में आध्यात्मिक विश्वास को नियंत्रक शक्ति का प्रवेश कराने के द्वारा । जीवन एक है और इसमें पारलौकिक (पवित्र) और ऐहिक (सांसारिक) का कोई भेद नही है । भक्ति और मुक्ति एक दूसरे के विरोधी नही है । धर्म, अर्थ और काम साथ ही रहते है । दैनिक जीवन के सामान्य व्यवसाय सच्चे अर्थो मे भगवान की सेवा है । सामान्यकृत भी उतने ही प्रभावी है जितनी कि मुनियों की साधना है ।"[1] स्पष्ट है कि धर्म हिन्दुओं के जीवन को जन्म से लेकर मृत्यु तक अनेक रूपों में प्रभावित करता रहा है । डा0 राधाकमल मुकर्जी ने बताया है "भारतीय जीवन रचना का निर्माण आत्मा, प्रकृति तथा परमात्मा और उनके पारस्परिक सम्बंधों की विवेचना करने वाले सूक्ष्म आध्यात्मिक दर्शन के आधार पर हुआ है।"[2]

---

1. *डा0 राधाकृष्णन, धर्म और समाज– पृ0 121–22*
2. *डा0 राधाकमल मुकर्जी– भारतीय समाज विन्यास पृ 46*

धर्म का अर्थ :–

धर्म के अर्थ को रिलीजन (Religion) अनुवाद के रूप में नही समझा जा सकता । धर्म एक अत्यन्त व्यापक प्रत्यय है । धर्म उस मौलिक शक्ति के रूप में जाना जा सकता है जो कि भौतिक और अभौतिक व्यवस्था का आधार रूप है और जो उस व्यवस्था को बनाये रखने के लिये आवश्यक है । गिलिन तथा गिलिन ने धर्म को परिभाषित करते हुये लिखा है, ''एक सामाजिक समूह में व्याप्त उन संवेगात्मक विश्वासों को जो किसी अलौकिक शक्ति से सम्बंधित हैं और साथ ही ऐसे विश्वासों से सम्बंधित प्रकट व्यवहारों, भौतिक वस्तुओं एवं प्रतीकों को धर्म के सामाजशास्त्रीय क्षेत्र में सम्मिलित माना जा सकता है।''[1]

सामान्यतः धर्म का अर्थ अदृश्य अलौकिक एवं अतिमानवीय शक्तियों पर विश्वास से लिया जाता है । कई समाज वैज्ञानिकों ने धर्म को इसी रूप मे परिभाषित किया है ।

टायलर के अनुसार – ''धर्म आध्यात्मिक शक्तियों पर विश्वास है ।'' [2]

सर जेम्स फ्रेजर के अनुसार – ''धर्म को मै मनुष्यों से श्रेष्ठ उन शक्तियों की संतुष्टि या आराधना समझता हूँ जिनके सम्बंध में यह विश्वास किया जाता है कि वे प्रकृति और मानव को मार्ग दिखती और नियंत्रित करती है ।''[3]

किन्तु हिन्दुओं में धर्म शब्द की उत्पत्ति "धृ" धातु से हुई है, जिसका अर्थ है धारण करना, बनाये रखना, पुष्ट करना आदि होता है । अर्थात इस लोक में अभ्युदय (लौकिक उन्नति) और परलोक मे परम कल्याण (पारलौकिक कल्याण) की प्राप्ति हो, वह धर्म है ।

मीमांसकों के अनुसार ''चोदना लक्षणर्थो धर्मः'' अर्थात भगवद् आज्ञा धर्म का लक्षण है अथवा शास्त्र से अनुशासित या स्वीकृत कर्म या आचरण पद्धति ही धर्म है । वेदों मे इस शब्द का प्रयोग धार्मिक विधियों के अर्थ में किया गया है । छन्दोग्य उपनिषद मे धर्म की तीन शाखाओं का उल्लेख किया गया है, जिनका सम्बंध ब्रह्मचारी, गृहस्थ, तपस्वी के कर्तव्यों से है । वैशेषिक सूत्रों में धर्म शब्द की परिभाषा करते हुये कहा गया है कि – ''यतोऽभ्युदयनिः प्रेयससिद्धिः स धर्मः'' समाज को अथवा प्रजा को एक सूत्र मे पिरो देने के कारण ही उसे धर्म का नाम दिया है यथा –''धारणात् धर्म मित्याहु धर्मो धारयति प्रजाः।।''

---

1. *गिलिन एवं गिलिन – कल्चरल सोशियॉलाजी पृ0 459*
2. *ई0बी0 टायलर –प्रिमिटिव कल्चर, पृ0 224 ।*
3. *सर जेम्स फ्रेजर –गोल्डन बांउ पृ0–459*

पंचतंत्र नामक नीति ग्रन्थ में धर्म की परिभाषा मनुष्य को दूसरे पशुओं से अलग करने के आधार पर की गयी है । धर्म ही मनुष्यों को पशुओं से अलग करता है खाना, सोना, भय और सन्तानोत्पत्ति मनुष्य और पशुओं दोनो में एक से है । धर्म ही मनुष्य मे एक विशेष तत्व है । यदि यह धर्म मनुष्य में नही है तो मनुष्य और पशु मे कोई अन्तर नही है जैसा कि कहा गया है –

"आहार निद्रा भय मैथुनं च सामान्यमेतत् च पशुर्भिनराणाम् ।
धर्मोहि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः सभानाः।।"

धर्म का निष्काम भक्ति स्वरूप :–

धर्म का निष्काम शक्ति के रूप में प्रयोग किया गया है । गीता में निष्काम कर्म की ओर व्यक्ति को अग्रसर किया गया है । उसे सुझाया गया है कि बिना फल की कामना के अपना कर्म करना चाहिए एवं अपने कर्तव्यों पर सदैव बढ़ना चाहिये । परम सत्य अथवा ईश्वर के रूप में भी धर्म को माना गया है । धर्म का प्रयोग रीति–रिवाजों, परम्पराओं, सामाजिक नियमों और कानून के रूप में भी किया गया है । गीता में धर्म के महत्त्व को स्वीकार किया गया है गीता के अठाहरवें अध्याय में श्री कृष्ण ने अर्जुन को धर्म का महत्व बतलाते हुये कहा कि –

"श्रेयान्स्वधर्मे विगुणः परधर्मात्स्नुष्ठितात्।
स्वभाव नियतं कर्म कुर्वन्नप्नोति किल्विषम्।"

अर्थात गुण रहित होने पर भी अपना धर्म पालन करना अच्छा है, चाहे दूसरे का धर्म कितना अच्छा क्यो न भी हो । यदि मनुष्य अपने धर्म का पालन करता है तो उसे पाप नही लगता है । इस प्रकार स्पष्ट है कि धर्म को भारतीय संस्कृति में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है । गीता में तो यहां तक कहा गया है कि अर्थात दूसरे के धर्म को पालन करने की अपेक्षा अपने धर्म पालन के लिये प्राण भी गवां देना अच्छा है, क्योंकि उसे सदैव भय बना रहता है । यथा –

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः

धर्म के इस महत्व को पुराणों में भी स्वीकार किया गया है। पुराणों का कहना है कि अधर्मी पुरूष यदि काम और अर्थ सम्बंधी कियाएं करता है तो उनका फल वांझ स्त्री के पुत्र

के समान होता है अर्थात उसने किसी प्रकार के कल्याण की सिद्धि नही होती है । भारतीय संस्कृति में धर्म को इतना महत्व इसलिये दिया गया क्योकि वह समाज में शान्ति और सुव्यवस्था बनाये रखे ।

धर्म की समाजशास्त्रीय परिभाषा :–

अध्ययन के किसी भी विषय को स्पष्ट रूप से समझने में उसकी परिभाषा सहायक होती है । हर समाजशास्त्री का शोध से पहले मूल उद्देश्य होता है अध्ययन के विषय की परिभाषा निश्चित करना । अक्सर परिभाषा के माध्यमसे विषय का सार मिल जाता है । किन्तु इस बात के लिए सतर्क रहना होगा कि परिभाषा में अध्ययन के विषय के आवश्यक विचार आ जाएं । मोटे तौर पर धर्म अथवा धर्मों की निम्नलिखित चार विशेषताएं उसकी समाजशास्त्रीय परिभाषा के लिए दी जातीं हैं ।

1. धर्म एक सामूहिक तत्व है –

सबसे पहले तो हम यह समझें कि धर्म कहते ही लोगों को एक ऐसा समूह का आभास होता है जो एक धर्म का पालन करते हैं । धर्म सामूहिक रूप से मान्य विश्वासों और आचारों की प्रणाली है । सभी धर्मों में सामूहिक प्रार्थना पर बल दिया जाता है। उत्सवों और अनुष्ठानों के अवसरों पर लोग एकत्रित होते हैं । एम0एन0 श्री निवास (1978:202) ने कुर्ग के गाँवों के अध्ययन के दौरान पाया कि ग्रामीण उत्सवों में गाँव के लोग सामूहिक रूप से नाचते हैं, सामूहिक शिकार करते हैं और साथ ही सामूहिक रात्रि भोज भी होता है । सामूहिक रात्रि भोज जिस में पूरा गाँव भाग लेता है "उरोर्मे" (अर्थात् ग्रामीण तालमेल) कहलाता है । दर्खाइम (1922), एक अग्रणी समाजशास्त्री, ईश्वर और समाज में इतनी अधिक समानता देखता है कि ईश्वर की आराधना को समाज की ही पूजा कहता है। दर्खाइम के अनुसार ईश्व मानव द्वारा सृजित परिकल्पना है और साथ में यह एक सामाजिक सृजन का परिणाम है । ईश्वर का सृजन उस सामूहिक अनुभूति (या उत्तेजना) में निहित है जिसमें लोग एकत्रित होकर अनुष्ठान सम्पन्न करते हैं । संभव है कि कुछ लोगों की धारणा हो कि अपनी धार्मिक निष्ठा को सार्वजनिक रूप से अनुष्ठानों अथवा धार्मिक उत्सवों द्वारा सबके सामने प्रकट नहीं करना चाहिये । उनके अनुसार धर्म पूर्ण रूप से व्यक्तिगत विषय है । कुछ माता–पिता तो

अपने बच्चों की धर्म संबंधी आस्थाओं की ओर से बिल्कुल चिंतित नहीं होते हैं, क्योंकि वे मानते हैं कि यह बच्चों का व्यक्तिगत मामला है । कुछ लोग 'मेरा हाथ जगन्नाथ'' की घोषणा करते हैं, तो कुछ लोग ''अपने कर्म को ही अपना धर्म'' मानते हैं । अब आपके मन में ये सवाल उठ सकता है कि क्या इन वैयक्तिक विश्वासों से धर्म बनता है या नहीं । इसका उत्तर यह है कि जिस सीमा तक ये वैयक्तिक विश्वास सामूहिक और सामाजिक मूल्यों और प्रतिमानों के संदर्भ में ही परिभाषित होते हैं उस सीमा तक उन्हें धर्म माना जा सकता है । हम में से बहुत लोग धर्म की आलोचना भी कर सकते हैं और कुछ इसे साफ नकार भी सकते हैं । फिर भी तथ्य तो यही है कि चूंकि धर्म संस्कृति का एक अंग है, और व्यक्ति जैसे–जैसे समाज में बड़ा होता है उसी प्रकार धार्मिक मल्यों, आस्थाओं और कर्मों को भी सीखता है ।

2. धर्म दैविक और पवित्र चीजों से संबद्ध हैं –

प्रायः हर धर्म के केन्द्र में एक दैविक या अलौकिक शक्ति का स्थान होता है । यह दैविक शक्ति सामान्यजन के अनुभवों के परे हैं । वह असीम है, वही सर्वशक्तिमान है और असाधारण है । विख्यात नृशास्त्री टाइलर (1871) के अनुसार, ''दैविक सत्ता में विश्वास रखना '' ही धर्म की परिभाषा है । दैविक सत्ता में विश्वास रखने के अर्थ में अदृष्य शक्ति, देव दूतों और दिवंगत पूर्वजों की आत्मा पर विश्वास करना भी निहित हो सकता है । आस्तिक लोन इन अलौकिक शक्तियों को उनकी शक्ति और प्रकार्यों के आधार पर श्रेणीबद्ध करते हैं उदाहरणतः यह मान्यता है कि ब्रह्म, विष्णु और शिव, इन तीनों हिन्दू देवताओं का प्रकार्य क्रमशः सृष्टि की रचना, उसका पालन–पोषण और उसका विनाश करना है । यद्यपि दैविक शक्ति, ''सर्वशक्तिमान'' है, अनंत है और इन्द्रियातीत है फिर भी कुछ लोग उसे मानव रूप में स्वीकार करते हैं । इसे दैविक शक्ति को समझने के लिए लोगों का प्रयास माना जा सकता है । साथ ही कुछ नैसर्गिक आपदाओं को उसी दैविक शक्ति का क्रुद्ध और प्रचंड रूप माना जाता है । फिर भी यह अनिवार्य नहीं है कि हमेशा ही दैविक शक्ति को मानवीय रूप दिया जाये । दैविक शक्तियाँ हवा, आग, पर्वत आदि प्राकृतिक शक्तियों के रूप में भी मान्यता पाती है ।

यह भी जरूरी नही है कि सभी दैविक शक्तियाँ ''पवित्र'' हों । दैविक शक्तियाँ भी कई प्रकार की होती हैं जैसे शैतान, दुष्ट आत्मा आदि जो कि शक्तिमान तो हैं परन्तु ''दुष्ट मानी जातीं हैं । बाईबिल के अनुसार, जब सैटन (शैतान) मरूभूमि में तपस्या कर रहा था तो उसने एक बार तो ईसा मसीह को भी अपनी शक्ति से विचलित कर दिया था । कुछ ऐसी भी निष्पक्ष दैविक शक्ति मनुष्य के मन में भय अथवा श्रद्धा को जन्म देती है ।

कुछ विद्वानों का मत है कि ''पवित्र'' और ''लौकिक'' चीजों में स्पष्ट अन्तर है । उनके अनुसार यह विभेद वैसे ही है जैसे कि पारलौकिक और इहलौकिक के बीच,पवित्र और असाधारण के बीच । दर्खाइम (1912) के अनुसार भी ''पवित्र'' लौकिक वस्तुओं से सर्वथा भिन्न हैं और उसे पृथक रखा जाता है । 'लौकिक' का अभिप्राय है अपवित्र, धर्मनिरपेक्ष । अनुष्ठान ही ऐसे अवसर है जब 'पवित्र' और सांसारिक वस्तुओं के बीच संचार होता है । यदि कोई व्यक्ति ''पवित्र'' कार्य में हिस्सा लेना चाहे तो पहले उसे अपनी शुद्धिकरण की प्रक्रिया करनी पड़ती है । कई विद्धानों ने इस ''पवित्र''तथा ''लौकिक'' के पार्थक्य की आलोचना भी की है । चर्च या मंदिर आदि को धर्म का केन्द्र मानने वाले इस प्रकार के पार्थक्य को बढ़ावा देते हैं । विद्धानों का यह भी कहना है कि दैनिक जीवन की लौकिक या सांसारिक गतिविधियों में हमें ''पवित्रता'' का आभास होता है तो दूसरी ओर दैनिक सांसारिक जीवन में पवित्र और लौकिक के बीच अंतःक्रिया होती ही रहती है ।

3. धर्मः विश्वास और आचार की एक व्यवस्था :–

धार्मिक विश्वास ज्ञान की वह व्यवस्था है जिसमें अलौकिक शक्ति और उसके साथ मनुष्य के संबंध की व्याख्या की जाती है । अलौकिक शक्ति के अस्तित्व पर विश्वास करना मात्र पर्याप्त नहीं है । अगली पीढ़ी के लिये इसके अस्तित्व की व्याख्या भी आवश्यक होती है । इस अलौकिकता और धर्म के अस्तित्व के उद्‌घोषणा में विश्वास बहुत सहायक होता है । विश्वास ही अलौकिक शक्ति की प्रकृति, उसकी प्रक्रियाओं और भाषा को समझाता है और साथ ही उसके साथ संपर्क स्थापित करने के तरीके निर्धारित करता है ।

विश्वास में अतीत का बोध अनिर्वायतः ही निहित होता है । विश्वास में लंबे समय से चले आ रहे पारंपरिक रीति–रिवाज समाहित होते हैं । विश्वास अलौकिक शक्ति और मनुष्य के बीच संबंधों का विवरण भी देते हैं। विश्वास अनुष्ठान को अर्थ प्रदान करते हैं ।

रीति–रिवाज़ के अनुसार बार–बार किए जाने वाली प्रक्रिया को अनुष्ठान कहते हैं । अनुष्ठान को समारोहपूर्वक और औपचारिक रूप से सम्पन्न किया जाता है । बहुधा अनुष्ठानों को विशेष उद्देश्य से सम्पन्न किया जाता है । अनुष्ठानों प्रतीकात्मक कृत्यों के व्यवस्थित क्रम होते हैं । जिनका धार्मिक विश्वासों के सन्दर्भ में विशिष्ट अर्थ होता है । प्रायः अनुष्ठान एक सर्वमान्य रूप में बारम्बारता और संक्षिप्त ढंग से सम्पन्न किए जाते हैं । पूर्व आधुनिक समाज में अनुष्ठान बड़े लम्बे–चौड़े होते हैं और इसके छोटे से छोटे भाग को भी सावधानीपूर्वक सम्पन्न किया जाता है । ताकि उससे फल की पूर्ण प्राप्ति हो सके । अनुष्ठान वैयक्तिक और सामूहिक दोनों रूप से किये जा सकते हैं । जहाँ अनुष्ठान सामूहिक रूप से किये जाते हैं, वहाँ या तो पूरा समूह उस में भाग लेता है अथवा कोई व्यक्ति विशेष अनुष्ठान करता है और शेष समूह उस में भाग लेता है । शमन, पुजारी, पादरी आदि अनुष्ठानों के विशेषताएं माने जाते हैं । ये विशेषज्ञ भांति–भांति की प्रार्थनाएं करते हैं अथवा मंत्रोचार करते हुए अनुष्ठान करते है ।

धर्म के समाजशास्त्र में विश्वास तथा अनुष्ठान की प्रकृति पर काफी चर्चा है । कुछ विद्धानों का मत है कि विश्वास की लम्बी–चौड़ी व्यवस्था बनने के पूर्व की अनुष्ठान का उदय हो जाता है । दर्खाइम भी इसी मत को मानता है । कुछ अन्य विद्धानों का मत है कि लोग रहस्यों को विश्वास के माध्यम से समझाते हैं और तब अनुष्ठान का जन्म होता है।

4. धर्म नैतिक आचार संहिता प्रदान करता है –

जैसा कि पिछले भाग में कहा जा चुका है धार्मिक विश्वास और अनुष्ठान मनुष्यों के बीच एक दूसरे से संपर्क स्थापित करने में सहायक होते हैं । मनुष्य जब अपने आप को "पवित्र" से जोड़ते हैं तो साथ ही साथ ऐसा करने से एक दूसरे के बीच संबंध भी स्थापित करते हैं । ईश्वर से संपर्क स्थापित करने के लिये कुछ आचार संहिताएं नियत की जातीं हैं । इस प्रकार धर्म से ही नैतिक या आचार संहिताएं उपतजी हैं । उदाहरण के लिये, यहूदी–ईसाई धर्म के दस आदेश उसका मूलभूत भाग हैं । ये आदेश एक प्रकार की नैतिक या आचार संहिता हैं जो मनुष्य को ईश्वर से जोड़ते हैं । धर्म नैतिक संहिताओं का स्रोत है, यों कहें कि नैतिक या आचार संहिता के बिना धर्म संभव ही नहीं है । अन्य सामाजिक संस्थाओं की अपेक्षा धर्म अधिक स्पष्ट रूप से सही और गलत के बीच भेद कर सकता है ।

समाज में आचार संहिताओं के अनेक स्रोत हैं जैसे परिवार, शिक्षा, कानून आदि । जो लोग धर्म विशेष में आस्था रखते हैं, उनसे यही अपेक्षा की जाती है कि वे उस धर्म की नैतिक संहिताओं का पालन करें । आज के युग में धर्म और उसकी अनेक नैतिक संहिताएं अधिक उपयोगी हैं, क्योंकि कुछ लोगों का यह विश्वास है कि विज्ञान अधिकाधिक रूप से अमानुषिक होता जा रहा है । एक ओर तो अरबों रूपये अस्त्र–शस्त्र, सैन्य बल व तकनीकी आदि पर खर्च किये जा रहे हैं वहीं दूसरी ओर अफ्रीकी, लैटिन अमेरिका आदि विश्व के अनेक भागों में लोग अकालग्रस्त हैं । इस संदर्भ में देखें तो सैन्य शक्ति पर किये जाने वाला खर्च एक नैतिक प्रश्न बन जाता है । उदाहरण के लिये, अहिंसा के धार्मिक सिद्धांत का पालन करने वालों के लिए विज्ञान का युद्ध में उपयोग का विरोध करना नैतिक दायित्व का मुद्दा बन जाता है ।

डा0 इन्द्रदेव ने अपनी पुस्तक 'भारतीय समाज' में लिखा है कि – धर्म के अन्तर्गत नैतिक कानून, रीति–रिवाज एवं वैज्ञानिक नियम इत्यादि बहुत सी धारणायें आ जाती हैं । मीज ने अपनी पुस्तक 'धर्म एण्ड सोसाइटी' में प्राचीन साहित्य में प्राप्त धर्म शब्द के अनेक अर्थों का विवेचन किया गया है । उन्होंनें बतलाया है कि धर्म शब्द का प्रयोग मूर्त अथवा अमूर्त दोनों रूप में हुआ है । भागवत एवं महाभारत आदि में धर्म की एक देवता के रूप में कल्पना की गयी है ।

स्वामी विवेकानन्द ने धर्म का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "धर्म वह है जो मानव को इस संसार और परलोक में आनन्द की खोज के लिये प्रेरित करता है । धर्म कर्म पर प्रस्थापित है । धर्म मानव को रात–दिन इस आनन्द को प्राप्त करने के लिये कार्य करवाता है ।"

पी0वी0 काणे ने धर्म को परिभाषित करते हुये अपनी पुस्तक "हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र" में लिखा है कि – धर्म शास्त्रों के लेखकों ने धर्म का अर्थ एक मत या विश्वास नही माना है । अपितु उसे जीवन के एक ऐसे तरीके या आचरण की एक संहिता माना है जो व्यक्ति की समाज के सदस्य के रूप में कार्य एवं क्रियाओ को नियमित करता है । और जो व्यक्ति विकास की दृष्टि से किया गया है । और जो उसे मानव अस्तित्व के उद्देश्य तक पहुंचने मे सहायता करता है ।"

धर्म के इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि यह व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन का आधार है । जीवन का शाश्वत सत्य है, जो कुछ श्रेष्ठ है, धर्म उसकी आदर्श अभिव्यक्ति है । धर्म का तात्पर्य धारण करने से है, बनाये रखने से है और जिससे सभी बने रहे, संयमित रहें, वही धर्म है । हिन्दू धर्म व्यक्ति के श्रेष्ठ विकास में योग देता है एवं उसके सर्वांगीण विकास में सहायता पहुंचाता है । उसमें मानवी गुणों को जाग्रत करता है, उसे परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व के प्रति कर्तव्यों का बोध कराता है, उसके सफल समायोजन मे योग देता है एवं धार्मिक मर्यादाओं में अर्थ का उपार्जन और काम का उपभोग करते हुये जीवन के परम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति की ओर अग्रसर करता है । हिन्दू धर्म में आसक्ति और विरक्ति का आदर्श समन्वय पाया जाता है। व्यक्ति को यहां सांसारिक सुखों का उपभोग करते हुये जीवन के परमल लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति की ओर अग्रसर करता है । हिन्दू धर्म में आसक्ति और विरक्ति का आदर्श समन्वय पाया जाता है । व्यक्ति को यहां सांसारिक सुखों का उपभोग और जीवन की वास्तविकता से परिचय कराते हुये, अपने इहलोक और परलोक को उत्तम बनाने की ओर अग्रसर किया गया है । हिन्दू धर्म में कर्तव्यों की भावना पर जोर दिया गया है ।

धर्म के लक्षण :–

उपरोक्त विवेचन से ही धर्म के कुछ लक्षणों का स्पष्टीकरण हो जाता है पर उसे और भी स्पष्ट रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है ।

1. मनु ने कहा कि – वेदोऽखिलो धर्ममूलम् 2/6 अर्थात समस्त वेद अर्थात ऋग, यजुः,साम, और अर्थवेद धर्म का मूल है । श्रीमद्भागवत में भी स्पष्ट कहा है – वेदप्रणिहितो धर्मोहयधर्मस्तद्विपर्ययः अर्थात वेद में कहा हुआ धर्म है और जो उससे विपरीत है वह अधर्म है।

2. धर्म का दूसरा लक्षण – कियासाध्यत्वे सति श्रेयस्कत्वमिति लौकिकः अर्थात किया या कर्म द्वारा सिद्ध होकर कल्याणकारी कर्म, धर्म का लक्षण है, यह लौकिक पुरूषों का मत है ।

3. धर्म का तीसरा लक्षण इस प्रकार है – ''सत्ययज्जायायते दयया दानेन च वर्धते क्षमाया तिष्ठती कोधन्नश्यति'' अर्थात धर्म की उत्पत्ति सत्य से होती है, दया और दान से वह बढ़ता है, क्षमा में वह निवास करता है और क्रोध से उसका विनाश होता है ।

4. धर्म का चौथा लक्षण उपनिषद के अनुसार यह है कि धर्म समस्त विश्व का आधार या नींव है, क्योकि इसके द्वारा व्यक्ति के आचरण की वे समस्त बुराइयां दूर हो जाती है जो कि विश्वकल्याण के विपरीत है ।

5. कौटिल्य के अनुसार धर्म वह शाश्वत सत्य है जो कि सम्पूर्ण संसार पर शासन करता है । यह धर्म का पांचवा लक्षण है ।

6. धर्म का छठा लक्षण यह है कि जो धर्म दूसरे धर्म को बाधा दे वह धर्म नही है, बल्कि अधर्म है । जो समस्त धर्मो का अविरोधी है वही यथार्थ धर्म है । जो धर्म के बिल्कुल विपरीत है वह अधर्म कहलाता है ।

7. धर्म का सांतवा लक्षण है कि स्वधर्म ही श्रेय है, और पराये धर्म का त्याग ही कल्याणकारी है गीता में श्रीकृष्ण का निर्देश है कि पराये धर्म का आचरण कितना सुखकर ही क्यो न हो, तो भी उसकी अपेक्षा स्वधर्म ही अधिक श्रेयकर होता है । चाहे वह स्वधर्म सदोष भले ही हो । स्वधर्म पालन में यदि मृत्यु हो जाये तो वह भी श्रेयकर है,परन्तु दूसरो का धर्म भयावह या भयंकर होता है ।

8. धर्म का अंतिम लक्षण यह है कि :–

"एक एव सुहद् धर्मो निधनेऽयनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति।।"

अर्थात एक धर्म ही ऐसा मित्र है जो मरने पर भी जीव के साथ जाता है । और बाकी सब शरीर के नाश के साथ ही छोड़कर चले जाते है ।

धर्म के श्रोत :–

जहां तक धर्म के श्रोतो का प्रश्न है, महाभारत के अनुसार सत्यता के अनुसार सत्यता, हितकर–प्रथायें तथा आचरण धर्म के मुख्य श्रोत है । मनुस्मृति के अनुसार धर्म के चार श्रोत इस प्रकार है –

(क) वेद

(ख) स्मृति या धर्मशास्त्र

(ग) धर्मात्मा लोगो का आचरण

(घ) व्यक्ति का अपना अन्तःकरण

इन श्रोतो का स्पष्टीकरण इस प्रकार है –

(क) वेद हिन्दू धर्म के मूल ग्रन्थ है । वेद शब्द का वास्तविक अर्थ ज्ञान है । वेद चार हैं –ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अर्थवेद । इन वेदों में जो मंत्र है वे हमारे ऋषियों के दिव्य ज्ञान का प्रकाश है । ऋषियों ने जगत की उत्पत्ति मनुष्य की चरम गति एवं कर्मकाण्ड से सम्बद्ध अनेक लौकिक विषयों पर मानव कल्याणार्थ अपनी विश्वास पूर्ण व्यवस्थायें दी है । वेदो का उद्‌घोष तमसो मा ज्योतिर्गमय है ।

(ख) मानव आचरण के लिये सुव्यवस्थित नियमो एवं आदेशों का प्रतिपादन स्मृतियों एवं धर्मशास्त्रों में किया गय है। इन नियमों को यदि मानव अपना कर्मव्य मानकर करें तो यही धर्म पालन है । ऋुति (वेद) और स्मृति (धर्मशास्त्र) के सम्बंध में मनुस्मृति मे लिखा है कि ऋुति और स्मृति में जो कहा गया है वह धर्म कहलाता है । इन दोनो मे कहे हुये कर्तव्य आचरणों को करता हुआ अर्थात धर्म का पालन करता हुआ मनुष्य, इस लोक में यश को पाता है और मरकर परलोक मे उत्तम सुख या मोक्ष को प्राप्त होता है ।

(ग) सत्पुरूष या धर्मात्मा लोगो का अचाण धर्म का अन्यतम श्रोत है । वेदो को जानने वाले आदर्श पुरूष जो आचरण करते है वे साधारण व्यक्तियों के लिये पथ प्रदर्शक होते है । महाभारत में जब महाराज यक्ष ने धर्मपुत्र युधिष्ठिर से पूछा कि धर्म क्या है – तो इसके उत्तर मे उन्होने यह उत्तर दिया कि महाजन जिस मार्ग से गये वही सच्चा धर्म है ।

(घ) धर्म का अन्तिम श्रोत स्वंय व्यक्ति का अन्तःकरण है । विशुद्ध अन्तःकरण व्यक्ति को विशुद्ध पथ पर ही परिचालित करता है । अन्तःकरण का निर्देश ही, हमारा यथार्थ मार्गदर्शक बन जाता है ।

धर्म के सम्बंध में कतिपय आवश्यक ज्ञातव्य बातें इस प्रकार हैं –

1. धर्म से तात्पर्य है जीवन के स्थान पर ईश्वर को स्वीकार करना । ईश्वर की स्वीकृति का अर्थ है सत्य और विवेक को जीवन पर शासन करने देना तथा स्वार्थपरता, दरिद्रता, अविवेक एवं काम, क्रोध आदि को दूर करना । धर्म का निचोड़ नैतिकता के पालन मे है । अपने अन्दर जितनी पवित्रता एवं शुद्धता होगी, हम धर्म के उतने ही निकट होगें ।

2. किसी भी बाल, वृद्ध, युवा, पुरूष एवं स्त्री को नवीन धर्म का पाठ पढ़ाने की आवश्यकता नही बस उन्हे उनकी परिस्थितियों और जन्म–स्वभाव के अनुकूल पवित्र करने की पूर्ण चेष्टा

होनी चाहिये । एक नारी पवित्र एवं स्वच्छ हो एक बालक स्वस्थ, बुद्धिमान,और अपने कर्तव्य का पालन करने वाला हो, एक मनुष्य अपना तथा अन्य मानव का कल्याण करने में समर्थ हो, यही सच्चा धर्म है ।

3. धर्म का प्रवेश जीवन के हर पक्ष मे होना चाहिये । मनुष्य का कल्याण आत्मा के धुरी तक पहुंचने में है । ब्रह्मभाव में प्रवेश करने में है ज्ञान में ऊपर उठकर सहज ज्ञान प्राप्त करना, और अन्धविश्वास से ऊपर उठ कर पूर्ण विश्वास में लीन हो जाना, उसके साधन है ।

4. धर्म अधिभौतिक कोलाहल से छाये हुये काल में मनुष्य एवं राष्ट्र की रक्षा करता है । अतएव धर्मयुक्त नीति ही मानव के लिये हितकर है ।

5. राजनीति ने धर्म से मुंह मोड़कर आज की सभ्यता को उसके सबसे बडे शत्रु, अधर्म के हवाले कर दिया है । कल्याण इसी में है कि हम अपना उद्धार पुनः करें। यह कार्य धर्म को क्रियात्मक एवं व्यापक रूप देने पर ही हो सकता है।

6. धर्म मनुष्य को सांसारिकता में विलीन होने से बचता है यदि धर्म अपने इस स्वभाव को समेट ले तो आसुरी शक्तियां उसका गला घोंट देंगी । आज धर्म ने भौतिकता से समझौता कर लिया है । जो व्यक्ति समाज और राष्ट्र के लिये हितकर नही है ।

7. सत्य और शांति के अनुसंधान का नाम धर्म है, किन्तु इसका प्रयोग समष्टि में होना चाहिए । जो लोग सांसारिक उद्देश्य को छोडकर एकमात्र ईश्वर का ध्यान करते है, विरक्त हो जाते है, वे भी दोषी है क्योकि अन्य मानवों के हितार्थ वे कुछ नही कर पाते । धर्म का प्रारम्भ व्यष्टि से होकर उसकी परिणति समष्टि में होनी चाहिये ।

8. मानव समाज के अन्दर धर्म की भावना जाग्रत कर उसके पथ प्रदर्शन की आवश्यकता हैजिससे वह जरा, मृत्यु और व्याधि के रहते हुये भी पूर्ण सुख अनुभव कर सके । संसार में रहते हुये भी अलिप्त और असंग रहे ।

9. हमारे धर्म में मानवता के व्यापक स्वरूप का आख्यान हुआ है । उदार चरित्र एवं "वसुधैव कुटुम्बकम" की घोषणा केवल हमारे धर्म से ही की जा सकती है और यदि विश्व धर्म की कभी स्थापना हुई तो वह हमारे सिद्धान्तो पर ही आधारित होगी ।

10. धर्म अपने आप मे शुद्ध है । उसे कोई अशुद्ध नही कर सकता ।

11. व्यक्ति का समष्टि से एकाकार ही धर्म है अर्थात् एकात्मकता की खोज ही धर्म है । जो कुछ सत्यता, मानव और मानवीय समाज में होनी चाहिये उसकी पूर्णता धर्म का उद्देश्य है । हमारा धर्म जीवन के अतीत और वर्तमान की व्याख्या करते हुये हमें उज्जवल भविष्य के निर्माण की ओर अग्रसर करता है ।

12. धर्म अमृत की खोज है ।

मानव जीवन में धर्म की स्थिति :–

धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष इन चार कों चतुवर्ग कहा गया है । प्रत्येक व्यक्ति इनकी आकांक्षा करता है इसलिये इन्हे पुरूषार्थ की संज्ञा भी दी गयी है । पुरूषार्थ चतुष्टय में मोक्ष ही सर्वोत्तम है । मनुष्य के रूचिभेद के अनुसार धर्म, अर्थ, एवं काम मे प्रत्येक का प्राधान्य होते हुये भी धर्म सर्वप्रधान है, क्योकि धर्माचरण द्वारा मनुष्य अर्थ एवं काम की प्राप्ति कर सकता है इनके लिये उसे पृथक चेष्टा नही करनी पडती है । धर्म से गृहस्थ मोक्ष प्राप्त कर सकता है ।[1]

धर्म का प्रयोजन :–

धर्म किसे कहते है, इस प्रश्न का उत्तर तरह–2 से दिया गया है । एक वाक्य में उनका सार यह है कि इहलोक व परलोक के अनुकूल आचरण करना ही धर्म है । आत्मतुष्टि, चितशुद्धि, लोकस्थिति तथा मोक्ष प्राप्ति धर्म का उद्देश्य है। महाभारत में धर्म की अनेकों शाखाएं वर्णित हैं, जैसे समाजधर्म, वर्णाश्रम धर्म, लौकिक धर्म, कुलधर्म आदि । कहा गया है कि धर्म की वृद्धि से समाज का कल्याण होता है और नाश से अकल्याण होता है ।

अनिंद्य आचरण ही धर्म है :–

व्यवहारिक रूप से कुछ शुद्ध आचरणों को ही धर्म माना जाता है । अनेको अर्थो मे प्रयुक्त धर्म शब्द को अनिंद्य आचरण के रूप मे भी प्रयोग किया जा सकता है । धर्म आचरण केवल बाहरी आचरण ही नही होता, मन की अच्छी भावनाएं भी धर्माचरण मे विद्यमान है ।

धार्मिक कृत्य का प्रधान लक्ष्य चित्तशुद्धि :–

ऐसे बहुत से शास्त्रज्ञ–धार्मिक व्यक्ति हैं जो धर्म को ही जीवन का सार मानते हैं ।

---

1. शान्ति 167 वां अध्याय । शान्ति 260/24–27

धर्म द्वारा जिस अर्थ की प्राप्ति हो, उसी से व्यक्ति को सन्तुष्ट रहना चाहिए । नीच से नीच व्यक्ति में भी अगर कोई गुण हो तो धर्मज्ञ व्यक्ति उससे अनुराग करते हैं । धर्मध्यानी हर अवस्था में सन्तुष्ट रहता है, वही ऐहिक एवं पारत्रिक सुख का भोगी होता है ।

धर्म ही मोक्ष का साधन है :–

धर्मज्ञ व्यक्ति को शब्द, स्पर्श, रूप, रस, व गंध आदि बहिर्विषियों पर पूर्ण संयम होता है । धर्माचरण से जब चित की शुद्धि हो जाती है तो केवल अनुष्ठान से संतुष्ट नही होता है । वह अतृप्ति उस व्यक्ति के अन्तर में वैराग्य का बीज डाल देती है और वह बीज एक विशाल वृक्ष के रूप में परिणत हो जाता है । कालान्तर में संसार की असारता जानकर वह व्यक्ति विषयों से विमुख हो जाता है । यही वैराग्य उसे मुक्ति के पथ पर अग्रसर करता है ।

धर्म की सनातनता :– धर्म की सनातनता के विषय मे कहा गया है कि –

ब्रह्मचर्य तथा सम्त्नुक्रोशो धृतिः क्षमा।

सनातन धर्मस्य मूलमेतत् सनातनम्।। इत्यादि।

अश्व 91/33/अनु 22/19//

ब्रह्मचर्य, सत्य, दया, धृति व क्षमा सनातन धर्म के सनातन मूलस्वरूप है । यहां धर्म व उसके मूल दोनो को सनातन कहा गया है ।

धर्म का पथ सच्चा व सीधा :–

धर्म अधर्म के बारे में सोचने के लिये सर्वप्रथम नैतिक और अनैतिक पर दृष्टि डालनी पड़गी । जिस आचरण से बुराई को आश्रय मिलता हो वह कभी धर्म नही हो सकता । धर्म मे पाप व अन्याय की गंध भी नही रह सकती । निष्कुल कपटरहित व्यवहार को अनुष्ठेय तथा मन की सद्वृत्तियों के अनुशीलन को सार्वभौमिक धर्म की संज्ञा दी जा सकती है ।

धर्म कभी परिजात्य नही :–

मानव को कभी भी धर्म का परित्याग नही करना चाहिये, यही महाभारत का उपदेश है कैसी भी विपत्ति क्यों न आये, धर्म छोड़ना असंगत है । यहां तक कहा गया है कि यदि जीवन बचाने के लिये धर्म का त्याग करना पड़ तो वह जीवन मृत्यु के ही समान है ।

धर्म ही रक्षक है :–

"धर्मेण पापं प्रणुदतीह विद्वान धर्मो

बलीयनिति तस्य सिद्धिः।"

अर्थात धर्म मनुष्य की विपत्ति से रक्षा करता है । पापों का नाश करके शान्ति का अवसाद देता है । यानि मनुष्य के ऊपर धर्म का नियंत्रण रहता है । जिससे वह गलत मार्ग पर जाने से बचता है ।

"यतो धर्मस्ततो जयः"

"जहां धर्म है वहीं जय है" यह वाक्य महाभारत का मूल सूत्र कहा जा सकता है । इस वाक्य को सूत्र मानकर ही मानों सम्पूर्ण महाभारत की रचना हुई है ।

धर्म के विविध रूप – जीवन के कर्तव्य धर्म के रूप में :–

हिन्दू धर्म में व्यक्ति के कर्तव्यों की विशद् व्याख्या करते हुये यह बतलाया गया है कि अलग–2 परिस्थितियों में देश, काल और पात्र के अनुसार व्यक्तियों के कर्तव्य भिन्न–भिन्न होते है । व्यक्ति–2 की रूचियों, मानसिक–योग्यताओं और कार्यक्षमताओं मे भी अन्तर पाया जाता है । इस अन्तर के कारण सभी लोग धर्म के अनेक रूपों का विकास हुआ है । अलग–2 साधन प्रणालियों और आचार संहिताएं विकसित हुई है । हिन्दू धर्म की एक मौलिक विशेषता यह है कि प्रत्येक को अपने धार्मिक विश्वासों के अनुसार आराधना करने, ध्यान–पद्धति अपनाने, विधि संस्कार सम्पन्न करने और स्वयं के आत्म कल्याण की स्वतंत्रता प्रदान की गयी है । यही कारण है कि हिन्दू धर्म आज तक अपने अस्तित्व को बनाये हुये है और विभिन्न व्यक्तियों और समूह के लिये शान्ति और प्रेरणा का अमित श्रोत सिद्ध हुआ है । यहां हिन्दू धर्म के प्रमुख स्वरूप पर निम्न प्रकार से विचार किया गया है ।

(1) सामान्य धर्म

(2) विशिष्ट धर्म

(3) आपद्धर्म

1. सामान्य धर्म :– सामान्य धर्म को मानव धर्म भी कहते है । इसके अन्तर्गत वे नैतिक नियम आते है, जिनके अनुसार आचरण करना प्रत्येक मानव का परम दायित्व होता है । इस

धर्म का लक्ष्य मानव– मात्र मे सद्गुणों का विकास और श्रेष्ठता को जाग्रत करना है। यह धर्म है, जो प्रत्येक के लिये अनुसरणीय है । चाहे बालक हो या वृद्ध, स्त्री हो या पुरूष गरीब हो या अमीर, सवर्ण, राजा हो या प्रजा, सबके लिये सामान्य धर्म के तीस लक्षण बताये गये है सत्य, दया, तपस्या, पवित्रता, कष्ट सहने की क्षमता, उचित–अनुचित का विचार, मन का संयम, इंद्रिय का संयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वस्थ्य सरलता, सन्तोष सभी के लिये समान दृष्टि सेवा, उदासीनता, मौन, आत्मचिंतन, सभी प्राणियों में अपने आराध्य को देखना और उन्हें अन्न देना, महापुरूषों का सत्संग, ईश्वर का गुण–गान ईश्वर चितंन, ईश्वर सेवा पूजा और यज्ञों का निर्वाह ईश्वर के प्रति दास भाव, ईश्वर वन्दना, सखा भाव, ईश्वर को आत्म समर्पण आदि । धर्म के ये लक्षण सामान्यतः सभी संस्कृतियों में पाये गये है । ये ऐसे लक्षण है जो व्यक्तित्व के चहुंमुखी विकास में योगदान करते है और व्यक्ति को दायित्व निर्वाह की ओर अग्रसर करते है तथा आध्यात्मिकता की ओर बढ़ने के लिये प्रेरित करते है ।

मनुस्मृति में धर्म के दस लक्षणों पर प्रकाश डालते हुये बतलाया गया है :–

धृतिः क्षमा दमोस्तेयं शोचमिन्द्रिनिग्रहः।

धी विद्या सत्यमक्रोधी दशकं धर्मलक्षणम्।।

ये दस लक्षण हैं – धृति अर्थात अपनी जीभ पर, इन्द्रियों पर संयम रखना, क्षमा अर्थात् शक्तिशाली होते हुए भी क्षमाशील होना, उदारता दूसरो को क्षमा कर देना, काम एवं लोभ पर नियंत्रण अर्थात शारीरिक वासनाओं पर संयम रखना, अस्तेय अर्थात् सोये हुये पागल या अविवेकी व्यक्ति से विविध तरीकों द्वारा कपट करके कोई वस्तु न लेना, शुचिता अर्थात् पवित्रता, अपने मन जीवात्मा और बुद्धि को पवित्र रखना । सत्य के द्वारा मन, ताप के द्वारा जीवात्मा और ज्ञान के द्वारा बुद्धि पवित्र होती है । मनुस्मृति में न्याय से प्राप्त किया गया धन, सर्वश्रेष्ठ माना गया है एवं इन्द्रिनिग्रह अर्थात् इन्द्रियों पर नियंत्रण रखना श्रेष्ठ धर्म है । गीता मे बताया गया है कि इन्द्रियों पर नियन्त्रण नही रखने के विषयों से आसक्ति बढ़ती है, कामनाओं की संतुष्टि नही होने पर क्रोध पैदा होता है, क्रोध से अविवेक होता है, अविवेक से स्मृति भ्रम हो जाता है, स्मृति का नाश होने परबुद्धि नष्ट हो जाती है और बुद्धि नष्ट होने पर मनुष्य का सर्वनाश हो जाता है ।

2. विशिष्ट धर्म :— विशिष्ट धर्म स्वधर्म के नाम से जाना जाता है । विशिष्ट धर्म के अन्तर्गत वे कर्तव्य आते है जिनका समय, परिस्थिति और स्थान विशेष को ध्यान रखते हुये पालन करना व्यक्ति के लिये आवश्यक है । ब्राह्मण और शुद्ध का एक दूसरे से भिन्न धर्म है, अलग अलग कर्तव्य है, ब्रह्मचारी और गृहस्थ के धर्म मे भी भिन्नता पाई जाती है स्त्री और पुरूषों का धर्म पिता और पुत्र का धर्म, गुरू और शिष्य का धर्म, एक दूसरे से भिन्न है एवं दोनो के अलग अलग कर्तव्य है ।

समाज के अन्य सदस्यों के सन्दर्भ में व्यक्ति अपनी प्रस्थिति और परिस्थिति को ध्यान मे रखते हुये जिन कर्तव्यों का निर्वाह करता है, वह विशिष्ट धर्म कहलाता है । अपने विशिष्ट धर्म का पालन करने पर ही व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी बनता है, हिन्दू समाज मे ऐसी मान्यता पायी जाती है । विशिष्ट धर्म के पालन से सम्पूर्ण, सामाजिक व्यवस्था के बने रहने में सहायता मिलती है । विशिष्ट धर्म को स्वधर्म भी कहा गया है । क्योंकि वह व्यक्ति विशेष का अपना धर्म होता है । जहां कहीं सामान्य धर्म और विशिष्ट धर्म पालन करने में व्यक्ति से विरोधी अपेक्षायें की जायें, एक दूसरे के विपरीत निर्देश पाये जायें, वहां शास्त्रों में स्वधर्म पालन को अधिक महत्ता दी गयी है । स्वधर्म के निर्धारण का आधार यद्यपि शास्त्रो को ही माना गया है तथापि विवेक को काम मे लेना भी आवश्यक है ।

विशिष्ट धर्म के अन्तर्गत वर्ण धर्म, आश्रम धर्म, कुल धर्म, राजधर्म, युग धर्म, मित्र धर्म, गुरूधर्म आदि आते है ।

(1) आश्रम धर्म :— हिन्दू शास्त्रकारों ने व्यक्ति के जीवन को चार अवस्थाओं में विभाजित किया है, जिन्हे ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम और सन्यास आश्रम कहा गया है । ब्रह्मचारी का धर्म गुरू के आश्रम में सादा जीवन व्यतीत करते हुये विधाध्ययन, अपने व्यक्तित्व का सर्वागीण विकास तथा मानवोचित गुणों से अपने को विभूषित करना था । धर्म, अर्थ, और काम की पूर्ति गृहस्थ के परम कर्तव्य थे । वह पंच महायज्ञो के द्वारा अन्य लोगो के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करता था और सन्तानोत्पत्ति के द्वारा समाज की निरन्तरता में योग देता था । वानप्रस्थी निष्काम भाव से धर्म संचय और मानव कल्याण के लिये अपने आपको लगा देता था । सन्यासी का धर्म संसार का पूर्णतया त्याग

करके अपने सत्य की खोज में लगाना । सत्य की प्राप्ति के पश्चात उसको समाज को बांटे, यही उसका धर्म था ।

(2) वर्ण धर्म :– वर्ण धर्म के अन्तर्गत चारों वर्णो अर्थात ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र प्रत्येक के अलग अलग कर्तव्य बतलाये गये है । ब्राह्मण का धर्म अध्ययन – अध्यापन और धार्मिक कार्यो की व्यवस्था करना आदि है, क्षत्रिय का जीवन व सम्पत्ति की रक्षा, युद्ध और प्रशासन है, वैश्य का धर्म कृषि उद्योग एवं व्यवसाय से धनोपार्जन और विभिन्न वर्णो की आवश्यकतओं की पूर्ति और शूद्र का उपर्युक्त तीनों वर्णो की मन, वचन, और कर्म से सेवा करना ही धर्म है ।

(3) कुल धर्म – कुल धर्म का लक्ष्य पारिवारिक संगठन को बनाये रखना, कुल परम्पराओं की रक्षा और विभिन्न संस्कारों को पूर्ण करना है । परिवार के सदस्य के रूप में व्यक्ति के अन्य सदस्यों के प्रति कुछ कर्तव्य होते है । पति का पत्नी के प्रति, पत्नी का पति के प्रति, माता पिता का सन्तान के प्रति और सन्तान का माता पिता के प्रति, भाई का भाई के प्रति कुछ कर्तव्य होते है यही कुल धर्म होता है ।

(4) राज धर्म :– राज धर्म के अन्तर्गत राजा या शासक के भी कुछ कर्तव्य होते है, जिनका पालन करना उसके लिये जनहित के दृष्टि से आवश्यक है । राजा का धर्म है कि वह राजोचित व्यवहारों का पालन करें अर्थात उसे दृढ़प्रतिज्ञ होना चाहिये । राजा का धर्म है कि वह प्रजा को पुत्रवत समझें ।

(5) युग धर्म :– युग धर्म को काल धर्म के नाम से भी जाना जाता है । हिन्दू शास्त्रकार इस तथ्य से परिचित थे कि समय परिवर्तन के साथ–2 समाज के कर्तव्यों मे परिवर्तन आना भी आवश्यक है । जो धर्म स्थिर हो जाता है जिसमें गति नही रहती, वह मनुष्य के व्यवहारों को अधिक समय तक प्रभावी नही कर सकता है और विघटित होने लगता है । इसलिये भारतीय संस्कृति में समाज को चरैवेति चरैवेति का निर्देश दिया गया है ।

(6) मित्र धर्म – मित्र धर्म के अन्तर्गम एक मित्र के दूसरे मित्र के प्रति कर्तव्य आते है, जो दोनो पक्षों के लिये समान रूप से मान्य होते है । मित्र और मित्र में आयु, धन, और पद

के आधार पर किसी प्रकार का कोई भेद नही किया जाता है । एक मित्र का अपने मित्र के प्रति यह कर्तव्य है कि वह सुख–दुख में उसका साथ दें ।

(7) गुरू धर्म :– भारतीय संस्कृति में गुरू को बहुत उच्च स्थान दिया गया है परन्तु साथ ही उसके कुछ कर्तव्य (धर्म) भी बतलाये गये है । उसे सदैव अपने शिष्यों के हित की कामना, लोभ एवं दम्भ से दूर रहना तथा अहिंसा और त्याग भावना से ज्ञान का प्रसार करना चाहियें ।

(8) आपद् धर्म :– आपद्धर्म का तात्पर्य है कि आपतकाल में या संकट के समय व्यक्ति को अपने सामान्य और विशिष्ट धर्म मे कुछ परिवर्तन कर लेना चाहिये । रोग, शोक, विपत्ति और धर्म संकट की स्थिति में व्यक्ति को कर्तव्य – नियमों में कुछ छूट दी गयी है व अपवाद की अनुमति प्रदान की गयी है । यह परिस्थिति विशेष से सम्बंधित अस्थायी धर्म है । जब व्यक्ति के कर्तव्यो की दृष्टि से दो धर्मो की बीच टकराव की स्थिति पैदा हो जाए तो अधिक महत्वपूर्ण धर्म का दायित्व के निर्वाह के लिये दूसरे धर्म के नियमों का कुछ समय के लिये छोड़ देना आपद् धर्म है । आपद धर्म के नियमों के अन्तर्गत व्यक्ति को अपने प्राणों की रक्षा के लिये किसी भी प्रकार का आचरण करने की स्वीकृति दी है । दूसरे के जीवन के प्राण रक्षा के लिये यदि असत्य भी बोलना पड़े तो असत्य का साथ वहां अनुचित नही होगा । यही आपद्धर्म है ।

धर्म :– समाजशात्रीय परिप्रेक्ष्य :–

धर्म में विद्वानों की रूचि कोई नई बात नहीं है । वेदों, उपनिषदों से लेकर ग्रीक दार्शनिक अरस्तू और प्लेटो आदि द्वारा रचित ग्रन्थों में धर्म के प्रति विद्वानों की रूचि साफ झलकती है । यह मानना होगा कि धर्म के समाजशास्त्र जैसे नये विषय की अपेक्षा धर्मशास्त्र और दर्शनशास्त्र में धर्म का कहीं अधिक गहरा अध्ययन किया गया है । यहाँ हमने धर्म के सामाजिक पक्ष की ओर अधिक ध्यान दिया है । दर्खाइम और बेबर जैसे प्रतिष्ठित समाजशास्त्रियों ने धर्म के महत्व का अलग–अलग ढंग से अध्ययन किया है । वर्तमान युग में धर्म के अध्ययन में पुनः सबकी रूचि पैदा हुई है । धर्म के समाजशास्त्र की मुख्य रूप से तीन प्रत्यक्ष धाराएं अभी तक सामने आईं हैं ।

(1) समुद्र यात्रा करने वाले व्यापारी, मिशनरी (धर्मप्रचारक) और उपनिवेशवादियों द्वारा पूर्व–आधुनिक समाजों की खोज के बाद धर्म में समाजशास्त्रीय रूचि लेना आरम्भ हुआ । साथ ही नृशास्त्रियों और समाजशास्त्रियों ने भी धर्म के अध्ययन में काफी रूचि दिखाई ।
(2) धर्म के प्रति समाजशास्त्रीय रूचि को यूरोप में तेजी से आनेवाली औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप और भी बल मिला पंद्रहवीं सदी में औद्योगिक क्रांति के कारण सामंतवाद का पतन हो गया । इस क्रांति की विचारधारा के विद्वानों ने इस नई औद्योगिक दुनिया में धर्म के "भाग्य" के अध्ययन में बहुत रूचि ली ।
(3) धर्म के अध्ययन में समाजशास्त्रीय रूचि तब और सुस्पष्ट हुई जब समाजशास्त्रीय अध्ययनों में समाजों के औद्योगिक एवं उत्तर औद्योगिक चरणों में धर्म के पुनरूत्थान की चर्चा की गई । इस धारा के विद्वान उन कारणों का विश्लेषण करते हैं जिससे मालूम हो कि धर्म का अस्तित्व हर तरह के समाज में कैसे बना रहा । इस तीसरी धारा में तीसरी दुनिया के अनेक विद्वान हैं जो कि इस्लामी कट्टर पंथ, सिंहल–बौद्ध और हिन्दू साम्प्रदायिकता के प्रश्नों से उलझे हैं ।

पूर्व आधुनिक समाज में धर्म का स्वरूप :–

धर्म के समाजशास्त्र के विकास के आरम्भिक दौर में धर्म की उत्पत्ति और उसके प्रसार की ओर अधिक ध्यान दिया गया । हमें दो प्रकार की व्याख्याएं मिलतीं हैं –व्यक्तिपरक व्याख्याएं और समाजपरक व्याख्याएं । व्यक्तिपरक व्याख्याएं धर्म के या तो बोध ज्ञान (बुद्धिवादी) या भाव–प्रवण पक्षों पर जोर देती है । ये दोनों प्रकार के विश्लेषण दुनिया भर में पाई जाने वाली जनजातियों पर नृशास्त्रियों द्वारा इकट्ठी की गई सामग्री पर आधारित थे । एडवर्ट वी0 टाइलर (1881) और हर्बर्ट स्पेंसर (1882) दोनों को बुद्धिवादी माना जा सकता है क्योंकि उन्होंनें यह कहा कि स्वप्न, अनुगूंज और मृत्यु की प्रक्रिया को समझने और उसका विश्लेषण करने के लिये आदिम मनुष्य ने धर्म का सहारा लिया । उनके मत में यदि इन तत्वों की व्याख्या या विश्लेषण विज्ञान कर दें तो धर्म का कोई अर्थ या महत्व नहीं रहता ।

कुछ विद्वान, जैसे पॉल रैडिन (1938), धर्म के भाव–प्रवण पक्ष पर अधिक बल देते हैं । इस विचारधारा के अनुसार धर्म और कुछ नहीं अपितु भयावह परिस्थितियों के निकलने की पूर्व–आधुनिक मनुष्य की एक भावात्मक अभिव्यक्ति है । इस दृष्टिकोण के अनुसार धर्म मनुष्य

को उस के शक्तिहीन होने की भावना से उबारता है । दर्खाइम (1912) ने भी धर्म के भाव–प्रवण भाग पर ही अधिक ध्यान दिया है । उसके अनुसार 'पवित्र' के प्रति विश्वास और उससे संबंद्ध अनुष्ठान और कुछ नहीं अपितु एक प्रकार की भावात्मक अभिव्यक्ति है । उदाहरणतः यह झलकती है जब आखेटक जनजातियों के सदस्य शिकार से वापिस लौट कर एकत्रित होते हैं ।

इसके साथ –साथ धर्म के विश्लेषण में दर्खाइम धर्म के सामाजिक आयाम और उसकी प्रकार्यात्मक अनवार्यताओं की चर्चा करता है । दर्खाइम (1961:52–6) कहता है "धर्म " विश्वासों और प्रथाओं की वह मिली–जुली पद्धति है जो "पवित्र" से संबंद्ध है, यानि उन चीजों से जिन्हें अलग जाना जाता है और जिनका अतिक्रमण निषिद्ध होता है । इन विश्वासों और आचारों को मानने वाले एक नैतिक संहिता वाले समुदाय (चर्च) का निर्माण करते हैं । दर्खाइम के अनुसार धर्म का प्रारंम्भिक रूप टोटमवाद में पाया जाता है। टोटम वह पवित्र वस्तु है जो समाज या समूह विशेष का प्रतीक भी होता है । समूह में एकत्रित हुए व्यक्तियों की "सामूहिक उत्तेजना" की अभिव्यक्ति के समय टोटम को परम मान्यता दी जाती है । अनुष्ठान और विश्वास न केवल समूह से पैदा होते हैं अपितु वे समूह की एकात्मता को शक्ति भी प्रदान करते हैं । दर्खाइम का यह भी मानना है कि आदिम युग में धर्म किसी न किसी रूप में अवश्य ही जीवंत रहा है क्योंकि धर्म समाज के लिए कुछ विशिष्ट प्रकार्य करता है । धर्म का मुख्य प्रकार्य है समाज में समन्वयता पैदा करना । इन प्रकार्यात्मक तर्कों टॉलकस पार्सन्स (1954) और मिल्टन यिंगर (1957) शामिल हैं ।

औद्योगिक समाज में धर्म का स्वरूप :–

कार्ल मार्क्स (1818–1883) और वेबर (1864–1920) दो ऐसे प्रमुख विद्वान हैं, जिन्होंने औद्योगिक समाज में धर्म का विस्तार से अध्ययन किया है । कार्ल मार्क्स (1976) और मैक्स वेबर (1963) दोनों का यम मानना है कि दिन–प्रतिदिन धर्म के अस्तित्व का आधार घटता जा रहा है और भविष्य में ऐसा कोई समय अवश्य आयेगा जब धर्म का नामोनिशान नहीं रहेगा । इस संदर्भ में मैक्स वेबर तर्कसंगतिकरण की मुख्य चर्चा करता है और कार्ल मार्क्स वर्ग–संघर्ष की । कार्ल मार्क्स (1976) के अनुसार शोषण की इस दुनिया में धर्म मनुष्य के दुख दर्द की अभिव्यक्ति का साधन है और साथ ही शोषण पीड़ा के विरूद्ध संघर्ष का प्रतीक

भी । दूसरे शब्दों में दमनकारी सामाजिक स्थितियों के कारण ही धर्म का अस्तित्व बना हुआ है । जब इस दमनकारी और शोषक व्यवस्था का अंत हो जायेगा तब धर्म अपने आप ही अप्रासंगिक हो जायेगा । मार्क्स अपनी कल्पना के साम्यवादी संसार में धर्म को कोई स्थान नहीं देता । कार्ल मार्क्स के अनुसार धर्म अधिसंरचना का एक हिस्सा है । वह यह भी मानता है कि विचारों की दुनिया अलग नहीं होती, वह केवल उत्पादन प्रणाली का प्रतिबिंब मात्र होती है । उत्पादन प्रणाली में उत्पादन की शक्तियां व उत्पादन के संबंध आते है । मार्क्सवादी तथा गैर–मार्क्सवादी विद्धानों के बीच यह लम्बी बहस का मुद्दा रहा है कि क्या आधार या भौतिक दशाओं से अधिसंरचना की दुनिया अपेक्षाकृत इतना स्वतंत्र हो जाती है कि उसके प्रभाव से भौतिक दशाएं या आधार निर्धारित होने लगते हैं ।

आज तो धर्म को भी सामाजिक परिवर्तन का एक संभव माध्यम माना जाने लगा है । यद्यपि मैक्स वेबर यह मानता है कि अतंतः धर्म का अस्तित्व नहीं रहेगा फिर भी उसने यह दिखाया है कि धार्मिक विचारों की शक्ति से सामाजिक विकास होता है । प्रोटेस्टंट पंथों जैसे लुथरेनिज्म, पायटिज्म आदि के सिद्धान्तों के व्यवस्थित विश्लेषण द्वारा बेबर इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि इन पंथों के नीति शास्त्र अनेक यूरोपीय देशों के पूंजीवादी विकास में सहायक सिद्ध हुए हैं । कैल्विन (1509–1564) के पूर्वनियतिवाद के अनुसार ईश्वर ने कुछ अपने लोगों को पहले से चुन रखा है और हर किसी के लिए केवल आस्था से ही जीवित रहना संभव है । कैल्विन ने कैथोलिक संप्रदाय द्वारा मान्य जादू टोने की प्रथा का खंडन किया । पूर्वनियतवाद ने कैल्विन के अनुयायियों के मन में यह प्रश्न खड़ा किया कि "क्या मैं ईश्वर द्वारा चुने गये लोगों में से एक हूँ? " इस प्रश्न के कारण लोगों में कड़ी मेहनत और त्याग के लक्षण दिखने लगें । अब काम स्वंय में ही लक्ष्य बन गया, यह काम ईश्वर की महिमा को बढ़ाने के लिये किया जाने लगा । अब काम लौकिक सुख और समृद्धि के उद्देश्य से नहीं किया जाता था । कड़ी मेहनत और त्याग के परिणामस्वरूप धम एकत्रित होने लगा जो कि बढ़ते हुए औद्योगीककरण में लगाया जाने लगा । वेबर के अनसुार प्रोटेस्टेंट पंथ के धार्मिक विचार इस तरह पूंजीवादी विकास में सहायक सिद्ध हुए ।

धार्मिक पुनरूत्थान :–

यद्यपि बहुत से विद्वानों की यह मान्यता बन गई थी कि धर्म अधिक दिनों नहीं बना रह सकता, हमने पाया कि धर्म का अस्तित्व आज भी बना हुआ है । न ही केवल इतना ही वरन् विश्व के अनेक भागों में धार्मिक पुनरूत्थान की प्रकिया तेजी से चल रहीं हैं । उदाहरण के तौर पर हाल ही में अमेरिका के कट्टरपंथी "प्रोटेस्टेंट' पंथों का फिर से उदय हुआ है । इसी प्रकार एशिया के अनेक देशों में धार्मिक पुनरूत्थान हुआ है । उत्तरोत्तर धर्म राजनीतिक गतिशीलन का साधन बनता जा रहा है । दूसरी ओर कुछ लैटिन अमेरिकन देशों में ईसाई धर्म के माध्यम से शोषण का विरोध किया जा रहा है । जहां एक ओर मंदिरों और चर्चों में लोगों की अनुपस्थिति के कारण धर्म का वर्चस्व कम हो रहा है तो दूसरी ओर समाज में भीतर–एक प्रकार के वैयक्तिक या निजी धर्म का उदय हो रहा है । दूसरे शब्दों में धार्मिक सिद्धातों की वैयक्तिक ढंग से व्याख्या करने का अधिकार भी स्वीकृत हो रहा है । कुछ विद्धान यह संदेह करने लगे हैं कि मानव इतिहास में क्या कभी भी धर्म पूर्ण रूप से विलुप्त हो जाएगा ? इन विद्धानों ने तथाकथित धर्मनिरपेक्ष व्यवस्थाओं जैसे राज्य, साम्यवाद और राष्ट्रवाद में धार्मिक अनुष्ठानों और आस्थाओं के विन्यासों का अध्ययन कर ऐसा कहा है । एक तरह से देखा जाये तो साम्यवाद भी धर्म का ही एक रूप हैं ।

टर्बर के अनुसार,"धर्म न तो बोध ज्ञान प्रणाली है और न ही सिद्धांतों का एक संग्रह, अपितु यह एक अर्थपूर्ण अनुभव है और अनुभूत अर्थ है । " अर्थात् धर्म का अस्तित्व मात्र हमारे अनुभवों का परिणाम है ।

धर्म और उससे संबंद्ध अन्य सामाजिक तथ्य :–

यहाँ हमने धर्म, जादू–टोना और विज्ञान के बीच संबंध और अंतर पर विचार किया है । बहुधा विज्ञान को धर्म के विरूद्ध मान लिया जाता है और जादू–टोना को धर्म के साथ वर्गीकृत किया जाता है । इन मनमानी पूर्वधारणा को स्पष्ट कर लेना चाहिए तभी संभव है कि हमें धर्म, विज्ञान व जादू–टोने की सही समझ हो पाएगी । नृशास्त्रीय एवं समाजशास्त्र अध्ययनों में धार्मिक तथ्यों की व्याख्या करते हुए इस विषय पर हमेशा चर्चा की जाती है और यही कारण है कि यहां भी इस विषय को उठाया जा रहा है ।

धर्म और जादू–टोना :–

धर्म और जादू–टोने के बीच बहुत कुछ साम्य दिखता है क्योंकि दोनों का अदृश्य शक्तियों से संबंध है । विशेष की पूर्ति के लिये अलौकिक शक्ति को कई विधियों द्वारा वश में करने का प्रयास किया जाता है । मलिनॉस्की और फ्रेजर ऐसे दो विद्वान है जिन्होंने धर्म और जादू–टोना को समझने में बहुत योगदान दिया है ।

इन विद्वानों के अनुसार धर्म का संबंध मनुष्य की आधारभूत समस्याओं और मानव अस्तित्व के अर्थ जैसे मृत्यु विफलताएं आदि से है, जबकि जादू–टोने का संबंध उसकी छोटी –मोटी समस्याओं जैसे मौसम के परिवर्तन अकाल, युद्ध में विजय, रोगों की रोकथाम आदि से है । धर्म में एक लोग जहां ईश्वर की पूजा अभ्यर्थना करते हैं । वहीं जादू–टोना में जादूगर अलौकिक शक्ति को वश में करने की कोशिश करता है । धर्म में अलौकिक शक्ति के प्रति अपना विश्वास दिखाते हैं । उसके विपरीत जादू–टोने में जादू करने वाले अलौकिक शक्ति को वश में करने के लिए अपनी शक्ति पर विश्वास करते हैं ।

वर्मोन (1962:63) का कहना है कि जादू–टोना एक प्रकार से ग्राहक–विक्रेता जैसी स्थिति में किया जाता है जबकि धर्म में मालिक और चाकर की भावना होती है अर्थात भक्त भगवान की शरण में होता है । धर्म में मनुष्य परमात्मा के समक्ष स्वंय को तुच्छ और शक्तिहीन पाता है और उस परम शक्ति को सर्वशक्तिमान मानता है । उपासक अपने परमात्मा से प्रार्थना और याचना करता है । वस्तुतः धर्म अपने आस्था वालों से एक प्रबल भावात्मक संबंध की अपेक्षा रखता है जो कि पूर्ण रूप से व्यक्तिगत होता है । जब कि जादू–टोने में जादूगर एक प्रकार का व्यापारी होता है और वह अपनी शक्ति से अलौकिक शक्ति द्वारा काम करवाने की कीमत पाता है। जादुई कार्य औपचारिक रूप से किया जाता है और एक पूर्व निश्चिय नियम या विधि का पालन करता है । जबकि धर्म एक सामूहिक गतिविधि है । धर्म में अनुयाइयों का एक निश्चित ध्येय या लक्ष्य रहता है, उसके अपने विश्वासों का पुंज होता है और समान रूप से मान्य सामूहिक आचार होता है । एक धर्म के अनुयाइयों का एक धार्मिक समुदाय बनता है । सीधी–सीधी तुलना करें तो स्पष्ट हो जाएगा कि जादू–टोने से आस्थावानों में किसी प्रकार की सामुदायिक भावना नहीं पैदा होती । जादू–टोना अधिकतर वैयक्तिक स्तर पर किया जाता है । धर्म की तरह जादू–टोना न तो किसी प्रकार का दर्शन होता है, न कोई जीवन पद्धति, न कोई नैतिक संहिता । जादू–टोने

में जादूगर स्वंय अपने कौशल को काम में लाता है व इस तरह जादू में उसकी ही मान्यता होती है। जबकि धर्म धार्मिक कार्य सम्पन्न कराने वाले उस धर्म में आस्था रखने वाले समूह का प्रतिनिधित्व करते हैं । जाने माने नृशास्त्री फ्रेजर के अनुसार जादू–टोने के व्यावसायिक रूप और जादुई नुस्खों पर आस्था को दृष्टि में रखकर जादू को विज्ञान का आदिम रूप कहा जा सकता है ।

धर्म और विज्ञान :–

विज्ञान का अर्थ है ज्ञान की खोज और समस्याओं के समाधान की एक पद्धति । धर्म और विज्ञान, दोनों ही मानवीय बोध के तरीके हैं । ये दोनों ही मनुष्य को तथ्य या वास्तविकता से जोड़ने के तरीके हैं । धर्म और विज्ञान दोनों ही उस अज्ञात को ज्ञेय बनाने या उजागर करने का प्रयास करते हैं । यद्यपि विज्ञान की अपेक्षा धर्म का रूप अधिक सामूहिक है विज्ञान भी वैज्ञानिक समुदाय में मिल जुल कर आपसी सहयोग से काम करने पर जोर देता है । धर्म और विज्ञान दोनों की स्वयं को सत्य के करीब मानते हैं । फिर भी विगत और वर्तमान में हो रहे युद्धों में धर्म और विज्ञान दोनों ही मनुष्य जाति के विरूद्ध क्रियाशील हो गए हैं । धर्म और विज्ञान दोनों में काम कर रहे लोगों के लिये दोनों ही विशेष योग्यताएं नियत करते हैं ।

विज्ञान जोर देता है कि केवल दिखने मात्र से ही किसी तथ्य पर विश्वास नहीं किया जा सकता है । वैज्ञानिक पद्धति में केवल प्रयोग के बाद ही तथ्य विशेष का अर्थ–मूल्य जाना जा सकता है । समय, स्थान, व्यक्ति, उपकरण आदि जो तत्व प्रयोगों के परिणामों पर प्रभाव डाल सकते हैं । प्रयोगशाला में उन सारे तत्वों को नियंत्रण में रखा जाता है । विज्ञान धर्म से भिन्न है क्योंकि विज्ञान में निष्पक्षता व तटस्थता पर आस्था की जाती है । वैज्ञानिक पद्धति में पूर्वाग्रहों को मान्यता नहीं मिलती है । विज्ञान में सूक्ष्मता तथा परिमाणन पर जोर दिया जाता है जो कि धर्म के संदर्भ में संभव नहीं है । विज्ञान अज्ञात वस्तु को प्रेक्षणीय वास्तविकता के स्तर पर लाता है । किन्तु धर्म ईश्वरीय अभिव्यक्ति का प्रेक्षणीय साक्षात्कार नहीं करवा सकता । वैज्ञानिक ज्ञान तकनीकों के द्वारा प्रकृति में ठोस परिवर्तन कर सकता है, किन्तु धर्म इस प्रकार का कोई ठोस और तुरंत परिणाम नहीं दिखा सकता । वैज्ञानिक ज्ञान तथा पद्धति विश्वव्यापी रूप से मान्य है किन्तु धार्मिक जीवन के सिद्धान्त विभिन्न

समाजों में भिन्न–भिन्न हैं । धर्म को भली भांति समझने के लिए विकासवादी दृष्टिकोण अभिव्यक्त करना आवश्यक है ।

विकासवाद और इसके मूलाधार :–

मोटे तौर पर विकासवाद की मान्यता है कि सभी जगह समाजों के विकास का एक सामान्य विन्यास होता है । इसमें इस बात को भी माना जाता है कि मानव मन और समाज दोनों एक ही दिशा में प्रगति करते हैं । इसका अभिप्राय यह है कि वे सीधी लाइन में बढ़ते हुए उत्तरोत्तर सरल रूप से जटिलता और तर्कसंगति की ओर बढ़ते हैं । इस तरह की एक सीधी लाइन में बढ़ने के कुछ विशिष्ट चरण रहे हैं । ''उद्‌भव'' से लेकर मानव सभ्यता की मौजूदा स्थिति तक पहुंचने का लंबा इतिहास है । अधिकांश विकासवादियों ने समाज तथा सामाजिक संस्थाओं की उत्पत्ति तथा विकास के बारे में जानने के लिए विश्व के आदिम समाजों का अध्ययन किया । लेकिन वे मानव समाज के विकास के किसी एक विन्यास के बारे में सहमत नही हो सके । मानव समाज को विकास की जिन–जिन संभवतः स्थितियों में से गुजरना पड़ा होगा, उसका उन्होंनें अपने–अपने ढंग से विवरण दिया है ।

मानव समाजों के बारे में विकासवादी चिंतन ने उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में एक निश्चित रूप धारण कर लिया था । विज्ञान, दर्शन और नृशास्त्र/समाजशास्त्र आदि विषयों पर इस चिंतन का जबरदस्त प्रभाव पड़ा । विकासवाद के इस प्रभाव के फलस्वरूप नृशास्त्रियों ने समाज, धर्म, परिवार और अन्य सामाजिक संस्थाओं के उद्‌भव की खोज का कार्य शुरू किया । इस कदम का परिणाम हुआ कि धर्म के उद्‌भव तथा विकास से संबंधित नृशास्त्री सिद्धांतों के साथ विकासवाद शब्द को जोड़ा जाने लगा । जनजातीय समाजों के बारे में उपलब्ध सामग्री के आधार पर इन विकासवादियों ने मानव समाज के विकास की विभिन्न अवस्थाओं को खोजने के प्रयास किए ।

ऐसा लगता है कि धर्म संबंध में विकासवादियों की समझ प्रत्यक्षवाद और प्रज्ञावाद की दो धारणाओं पर आधारित है । इसलिए धर्म के विकासवादी सिद्धातों का विस्तार से अध्ययन करने से पूर्व इन दोनों धारणाओं के बारे में संक्षेप में विवरण निम्नवत् है ।

1.प्रत्यक्षवाद – प्रत्यक्षवाद का अर्थ है – प्राकृतिक विज्ञान के सिद्धातों के प्रति वचनबद्धता । समाजशास्त्र में प्रत्यक्षवाद की मान्यता का अर्थ है यह स्वीकार करना कि अन्य प्राकृतिक विज्ञानों की तरह समाजशास्त्र में भी सामाजिक तथ्यों की विज्ञान–सममत व्याख्या हो सकती है । प्रत्यक्षवादी विद्धान प्रायः धर्म को विज्ञान का विरोधी बताते हैं । उनके अनुसार अगर धर्म का वैज्ञानिक विश्लेषण किया जाए तो धर्म एक तर्कहीन तथ्य के रूप में सामने आता है । प्रत्यक्षवादी ऐसा मानते हैं कि परीक्षणों और ऐंद्रिय बोध–क्षमता पर आधारित विज्ञान की विजय के सामने धर्म का मूल्य स्वयंमेव ही कम हो जाता है । उनके अनुसार आज जिस तेजी से औद्योगीकरण हो रहा है उसी अनुपात में धर्म का प्रभाव घट रहा है । हमने प्रत्यक्षवादी धारणा के समर्थक दो विद्धानों के उदाहरण नीचे प्रस्तुत किए हैं –

फ्रांसीसी समाजशास्त्रीय ऑगस्ट कॉम्टे (1798–1857) के अनुसार मानव समाजों के विकास की प्रकिया में सबसे पहली अवस्था धर्मशास्त्रीय अवस्था है । इसके बाद तत्वमीमांसात्मक अवस्था आई और अंतिम अवस्था वैज्ञानिक अवस्था है । कॉम्टे ने यह बात जोर देकर कही कि विज्ञान के विकास के बाद ईश्वर के अस्तित्व पर आधारित धर्म समाप्त हो जाएगा ।

अंग्रेज विद्धान हरबर्ट स्पेंसर (1820–1903) की मान्यता है कि धर्म का उद्‌भव पूर्वजों की प्रेत–पूजा की परंपरा से हुआ । उसके मत में आदिम जन समुदायों में पूर्वजों की प्रेत पूजा का आम प्रचलन था । इसके बाद बहुदेववाद (बहुत से देवताओं की पूजा) की अवस्था आई और अंत में एकेश्वरवाद (एक देवता की पूजा) की अवस्था आई । सन् 1859 में चार्ल्स डार्विन की प्रसिद्ध पुस्तक *द ओरिजिन ऑफ स्पीशीज* प्रकाशित हुई । इसने जीव विज्ञानों के क्षेत्र में क्रांति ला दी । इससे भी पूर्व स्पेंसर (1857) ने अपने निबंध प्रोग्रेसः इट्‌स लॉ एंड कॉज में यह प्रतिपादित किया कि विज्ञान की प्रगति के साथ साथ विज्ञान पर आधारित समाज का विकास होगा तथा ईश्वर केंद्रीय धर्म धीरे–धीरे समाप्त हो जाएगा । इसके परिणामस्वरूप वैज्ञानिक युग का धर्म अज्ञेयवाद या अनीश्वरवाद होगा जिसकी मान्यता है कि ईश्वर के बारे में कुछ भी जाना नहीं जा सकता । यह कहना उचित होगा कि स्पेंसर(1876–1896) पहला विद्धान था जिसने अपनी पुस्तक *'प्रिसिंपल ऑफ सोशियोलॉज'* के तीन खंडों में धर्म के बारे में सिद्धात का सुव्यवस्थित रूप में अनुशीलन किया ।

2. प्रज्ञावाद :–

प्रज्ञावाद का अभिप्राय है विषय विशेष की व्याख्या के लिए प्रयुक्त तर्क विधि। प्रज्ञावादी धारणा को मानने वाले विद्वानों के अनुसार "धर्म का उद्‌भव प्राकृतिक तथ्यों के प्रति व्यक्ति की तर्कसंगत प्रतिक्रिया के रूप में हुआ । दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि दैविक तत्वों को समझने के लिए आदिम लोगों द्वारा प्रयुक्त व्याख्याओं को धर्म का नाम दे दिया जाता है। प्रज्ञावादी मान्यताओं पर आधारित विकासवाद का यह दावा है कि धर्म में विश्वास एक प्रज्ञावादी क्रिया है अर्थात् धार्मिक विश्वासों को तर्क के आधार पर समझा जा सकता है । उन्नीसवीं शताब्दी के प्रज्ञावादियों ने धर्म के भावात्मक पक्ष को अनावश्यक अधिसंरचना कहकर नजरअंदाज कर दिया था । आगे चलकर बीसवीं शताब्दी में, धर्म के प्रति एकतरफा दृष्टिकोण अपनाने के कारण इन प्रज्ञावादियों की आलोचना भी हुई । इस युक्तिसंग आलोचना के बावजूद उनके पक्ष में यह कहा जा सकता है कि ये प्रज्ञावादी ही थे जिन्होंनें पहली बार यह प्रतिपादित किया कि आदिम समाजों के लोग बुद्धिहीन और अनीश्वरवादी नहीं थे जैसा कि मिशनरियों (धर्म प्रचारकों) और देश देश की यात्रा करने वालों के विवरणों से ज्ञात होता है । प्रज्ञावादियों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि आदिम लोग तर्क बुद्धि परक जीव थे, भले ही प्राकृतिक तत्यों की व्याख्या करने के उनके तरीके भोंडें और मिथ्या थे।

दूसरे, उन्नीसवीं शताब्दी के ये प्रज्ञावादी पहले यूरोपीय थे । जिन्होंने संपूर्ण समाज को एक इकाई के रूप में देखा । इसका एक परिणाम था कि तथाकथित उच्च समझे जाने वाले यूरोपीय वैज्ञानिक द्वारा मान्य धारणाओं को चुनौती दी गई । साथ ही शास्त्रीय अध्ययन की प्रकृति और महत्व में भी परिवर्तन आया। इन नई गतिविधियों ने यूरोपीय बौद्धिक उपलब्धियों के दृष्टिकोण में भी बदलाव की प्रक्रिया शुरू की । यहां प्रज्ञावादी विकासवादियों के विशिष्ट उदाहरणों की चर्चा नहीं की जाएगी क्योंकि आगे आने वाले भागों में हमने इनके योगदान के बारे में विस्तार से विचार किया है ।

अभी यह स्मरण रखना उचित होगा कि प्रज्ञावादियों में प्रत्यक्षवाद और विकासवाद का अनोखा मिश्रण था । बींसवीं शताब्दी के नृशास्त्रियों और समाजशास्त्रियों ने इनकी कड़ी आलोचना की । उदाहरण के लिए, एफ.बी. जेवॉन्स (1896) की *इंट्रोडक्शन टू द हिस्ट्री ऑफ रिलीजन* नामक पुस्तक का वर्णन करते हुए इवन्स–प्रिचर्ड(1965:5) ने कहा है कि 'यह

पुरातनकाल के बारे में उटपटांग ढंग से निर्मित निराधार, परिकल्पनाओं और अटकलबाजियों का संग्रह है जिनकी पुष्टि संभव नही है । इसके अलावा, इसमें बेकार की प्रत्याशाएं अनुमान और मान्यताएं तथा अनुपयुक्त सादृश्य, भ्रांतियाँ और गलत व्याख्याएं आदि हैं ।

विकासवाद की दो उपर्युक्त आधारभूत मान्यताओं पर विचार करने के बाद आइए, अब हम धर्म के विभिन्न विकासवादी सिद्धांतों के बारे में चर्चा करें । हम पहले धर्म के उद्‌भव और विकास के संबंधित प्रज्ञावादियों सिद्धांतों के बारे में विचार करें और उसके बाद उन विकासवादी सिद्धांतों पर भी नजर डालें जो धर्म के उद्‌भव को मनो–जीववैज्ञानिक प्रक्रियाओं में खोजते हैं ।

3. धर्म के प्रज्ञावादी सिद्धांत :–

धर्म के उद्‌भव और विकास पर विद्वानों के विचार हमें पहले–पहल मिशनरियों और साहसिक यात्रियों की रिपोर्टो में मिलते हैं । इनमें आदिम समाजों में पाये जाने वाले धर्म के रूप का विवरण दिया गया है । उदाहरण के तौर पर डी.ब्रॉसेस (1760) को लें जिसने एक सिद्धांत प्रतिपादित किया । इस सिद्धांत के अनुसार धर्म का उद्‌भव जड़ पूजावाद से हुआ जिसमें जादुई ताबीजों या वस्तुओं पर विश्वास किया जाता है । इसी प्रकार पुर्तगाली नाविकों ने पश्चिमी–अफ्रीकी तटवर्ती नीग्रो लोगों के बारे में लिखा कि ये जनजातीय लोग जड़ वस्तुओं और जानवरों की पूजा करते थे । कॉम्ट (1980) ने इस सिद्धांत पर विचार करते हुये लिखा कि कालान्तर में जड़ पूजा का स्थान बहुदेववाद ने ले लिया । कॉम्ट के इस सिद्धांत के स्थान पर बाद में प्रेतवाद और फिर जीवात्मवाद का बोलबाला हुआ । बाद में आने वाले इन सिद्धांतो को धर्म के अध्ययन के प्रज्ञावादी सिद्धांतों के रूप में जाना जाता है क्योंकि इन दोनों सिद्धांतों का यह मत है कि आदिम मानव तर्क बुद्धिपरक प्राणी था, भले ही प्राकृतिक तथ्यों की व्याख्या के उसके प्रयास कुछ–कुछ अधकचरे से थे ।

इससे पहले कि हम प्रज्ञावादी सिद्धांतों पर विचार करें, हमें धर्म के उद्‌भव के बारे में एक और व अपने समय के बहुत सशक्त, सिद्धांत पर ध्यान देना होगा । यह है प्रकृति–मिथकवाद । धर्म के अध्ययन के संदर्भ में कालक्रम की दृष्टि से प्रकृति –मिथक सिद्धांत का स्थान उपयुर्क्त सिद्धांतों से पहले आता है । अतः इसकी चर्चा यहीं कर लेना श्रेयस्कर है –

प्रकृति–मिथकवाद :–

भारत–यूरोपीय धर्मों से संबद्ध प्रकृति–मिथकवाद जर्मनी में उदित हुआ था । उसके अनुसार प्राचीन देवता (चाहे वे किसी भी देश–काल के हों) प्राकृतिक तथ्यों के मानवीकृत रूप हैं । इस सिद्धांत का प्रवर्तक जर्मन भाषाविद् मैक्स मूलर था । अपना अधिकांश जीवन उसने ऑक्सफोर्ड में प्रोफेसर और *"फेलो ऑफ ऑल सोल्स"* (ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के एक कॉलेज के फेलो) के रूप में बिताया । वह संस्कृत का महान विद्वान था और प्राचीन भारतीय देवताओं में उसकी गहरी रूचि थी । मूलर के अनुसार, मनुष्य तथा प्रकृति के बीच भय, आश्चर्य, आतंक का संबंध है अर्थात् प्राकृतिक जगत ने मनुष्य के सामने ऐसी दुनिया खोलकर रख दी जिसे उसके लिए समझना संभव नहीं था । फलतः उसने भय तथा विस्मय के वशीभूत प्रकृति की पूजा शुरू कर दी । मैक्स मूलर की मान्यता थी कि विशाल प्राकृतिक वस्तुओं को देखकर लोगों में अनंत की भावना पैदा होती थी । इसीलिए ये वस्तुएं लोगों के लिए अनंत का प्रतीक बन गईं थीं । अंतरिक्ष में विचरण करने वाले सूरज, चांद, सितारे तथा उषाकाल और उनकी विशेषताओं को लोग रूपक तथा प्रतीक की भाषा में समझते थे ।

मैक्स मूलर के विचार में समय के साथ इन प्रतीकात्मक प्रतिरूपों ने अपना स्वतंत्र स्थान बना लिया और प्रतीकों का महत्व उन वस्तुओं से अधिक हो गया जिनका वे प्रतीक प्रतिनिधित्व कर रहे थे। मैक्समूलर और उसके अनुयायियों ने कभी कभी अपने सिद्धांतों को हास्यास्पद तक बना दिया । उदाहरण के लिए, उसके अनुसार ट्रॉय (उत्तर–पश्चिमी एशिया माइनर का एक प्राचीन शहर) की घेराबंदी की घटना केवल एक सौर–मिथक थी । इस प्रकार की व्याख्या के समर्थन में ऐतिहासिक साक्ष्य न मिलने के कारण समकालीन विद्वानों ने प्रकृति–मिथकवाद के विरूद्ध कई आरोप लगाए । हर्बर्ट स्पेंसर, एडवर्ट टाइलर और एंड्रयू लैंग आदि विद्वान प्रकृति–मिथकवाद के मुख्य विरोधी थे । इन विद्वानों ने न केवल धर्म की वाड् मीमांसात्मक और व्युत्पत्तिपरक व्याख्या की आलोचना की बल्कि उन्होंनें इसके विपरीत एक बिल्कुल की भिन्न दृष्टिकोण का विकास किया ।

प्रेतवाद :– जहाँ मैक्समूलर की रूचि भारत–यूरोपीय धर्मों में थी तो हर्बर्ट स्पेंसर और एडवर्ट टाइलर के अध्ययन का केंद्र आदिम समाजों में पाए जाने वाला धार्मिक आचरण था

। स्पेंसर तथा टाइलर के अनुसार आदिम समाजों में धर्म के आदि रूप का पता चलता है । आदिम समाजों में पाए जाने वाले धार्मिक विश्वासों के संबंध में इन दोनों के विचार लगभग समान हैं । टाइलर की पुस्तक प्रिमिटिव कल्चर सन 1871 में प्रकाशित हुई और इसके ग्यारह वर्ष बाद 1882 में स्पेंसर ने अपने विचारों को प्रकाशित किया । वास्तव में स्पेंसर के इन विचारों का निर्माण पुस्तक रूप में प्रकाशित होने से पर्याप्त पहले हो चुका था । इसलिए यहाँ धर्म के बारे में स्पेंसर के विचारों की चर्चा पहले की है ।

स्पेंसर (1882) ने *प्रिंसिपल्स ऑफ सोशियोलॉजी* नामक अपनी पुस्तक के बहुत बड़े भाग में आदिम धार्मिक विश्वासों से बारे में चर्चा की है । उसने यह दिखाने का प्रयास किया है कि ज्ञान की मात्रा बहुत सीमित होते हुए भी आदिम समाज के लोग तर्कसंगत थे । वे प्राकृतिक तथ्यों के बारे में तर्कसंगत अनुमान लगाते थे, भले ही उनके ये अनुमान पूर्णतः सही नहीं होते थे । सूरज, चांद, बादलों और तारों के आने जाने की क्रिया को द्वैत का बोध स्वप्नों से होता था । इन विद्वानों के अनुसार आदिम समाजों के लागों के लिए स्वप्न वास्तविक जीवन के अनुभव के समान था । आदिम लोगों की दृष्टि में रात को स्वप्न की स्थिति में व्यक्ति का स्वप्न इधर उधर विचरण करता है जबकि दिन में उसी व्यक्ति का छाया आत्म क्रियाशील होता है । लोगों में द्वैत की इस धारणा की पुष्टि अस्थायी तौर पर संवेदना के लुप्त होने के बाद उसके पुनः आ जाने के अनुभव से भी होती है जैसे बेहोश हो जाने के बाद होश में आने पर । आदिम लोगों की दृष्टि में मृत्यु की घटना भी लंबी बेहोशी की हालत की तरह थी । द्वैत की इस धारणा को वे प्राणियों, पौधों और भौतिक वस्तुओं पर भी लागू करते थे । आदिम समाजों में ऐसे विश्वासों को मूर्त रूप देने वाले तरह तरह के प्रतीक पाए जाते हैं ।

स्पेसर के अनुसार स्वप्न में मृत व्यक्तियों को देखने का यह मतलब समझा जाता था कि मरने के बाद भी अस्थायी रूप से जीवन अस्तित्व होता है । यह माना गया कि इसी विचार से प्रेत के रूप में अलौकिक शक्ति की संकल्पना का उदय हुआ । संसार के मत में प्रेतों के अस्तित्व के विचार से ही देवताओं की धारणा का जन्म हुआ और पूर्वजों के प्रेत ही देवता बन गए । स्पेंसर (1882:440) ने यह निष्कर्ष निकाला कि प्रत्येक धर्म का मूल आधार पूर्वजों की पूजा है ।

विश्व के बहुत से हिस्सों में आदिम समाजों में सामान्यतः पूर्वजों या अन्य उच्च कोटि के जीों पर देवत्व के भाव को आरोपित किया जाता है । इसलिए कुछ लोगों को स्पेंसर के सिद्धांत में कुछ सही सही बातें दिखाई दीं । परंतु यहां यह बात पूर्णतया स्पष्ट है कि स्पेंसर स्वयं भी गलत ढंग के तर्क का दोषी है जिसे वह आदिम लोगों पर आरोपित करता है । इवन्स प्रिचर्ड (1965:24) के अनुसार स्पेंसर का तर्क उस भ्रामक तर्क का उदाहरण है जिसमें स्वयं के मन की बात दूसरे पर आरोपित करके कही जाती है । स्पेंसर कभी भी आदिम लोगों के निकट संपर्क में नहीं आया, फिर भी वह उनके तर्क करने के तरीकों के बारे में जानकार व्यक्ति की भांति लिखता है । वास्तव में यह उसका आदिम लोगों की ओर से स्वयं सोचने का प्रयास है ।

इससे अलग अनुभाग में हमने यह देखा है कि किस प्रकार एक और विद्वान ने भी धर्म के बारे में लगभग स्पेंसर के ढंग से ही सोचा । इस विद्वान के विचारों का केंद्र प्रेतों के बजाय जीवात्मा रहा है । इसका नाम एडवर्ड बी. टाइलर है । उसके सिद्धांत को जीववाद के नाम से जाना जाता है ।

जीवात्मवाद या जीववाद :–

एडवर्ड टाइलर के जीववाद के सिद्धांत में आत्मा के एक विचार पर विशेष बल दिया है । इस सिद्धांत में धर्म के उद्भव और विकास दोनों पर विचार किया गया है । जिस प्रकार प्रेतवाद में धर्म के उद्भव का मूल प्रेंतात्माओं के विचार में निहित है उसी प्रकार जीवत्मवाद में धर्म के उद्भव का मूल जीव की आत्मा के विचार में है । टाइलर के अनुसार, मृत्यु, रोग दिव्य दृष्टि स्वप्न आदि के अनुभवों के फलस्वरूप आदिम लोगों के मन में अभौतिक शक्ति अर्थात् ''आत्मा'' के अस्तित्व का विचार पैदा हुआ । आत्मा का यह विचार बाद में अन्य प्राणियों और यहां तक कि निर्जीव वस्तुओं पर भी आरोपित किया जाने लगा। भौतिक शरीर से परे आत्मा का अस्तित्व होता है और इसमें प्रेतात्माओं में विश्वास का उदय हुआ । टाइलर ने धर्म की न्यूनतम परिभाषा देते हुए कहा है कि धर्म का उद्भव प्रेतात्माओं में विश्वास से हुआ ।

टाइलर के मत में ये प्रेतात्माएं की बाद में देवताओं के रूप में मानी जानें लगीं हैं । उनमें महती शक्तियाँ होती हैं और वे मनुष्यों के भाग्य की नियंत्रक होती हैं । संक्षेप में यही

टाइलर का जीववाद का सिद्धांत है । ठीक जिस प्रकार स्पेंसर के प्रेतवाद की आलोचना हुई, उसी प्रकार की आपत्तियाँ टाइलर के जीववाद के प्रति भी लगाई गईं। यह बात स्पष्ट है कि टाइलर ने अपने विचारों को आदिम लोगों की विचार प्रक्रिया पर आरोपित किया । हमारे पास यह जानने का कोई साधन नहीं है कि आदिम लोग वास्तव में यही अथवा इससे कुछ भिन्न बात सोचते थे । टाइलर का सिद्धांत भी भ्रामक तर्क के दोष से ग्रस्त हैं । स्वैन्टन (1924:358–68) ने टाइलर की आलोचना इसीलिए की कि उसने ऐसे कारण सिद्धांतों का प्रतिपादन किया जिन्हें सिद्ध नहीं किया जा सकता था । टाइलर यह बात जोर देकर कहता है कि मृत्यु, रोग और स्पप्नों के अनुभव से आदिम लोगों को एक अभौतिक सत्ता के अस्तित्व पर विश्वास करना पड़ा । यह टाइलर का एक अनुमान मात्र है । टाइलर इस अनुमान से रूप में हमसे स्वीकार कराना चाहता है । परंतु यह सिद्ध कर पाना संभव नहीं कि टाइलर का यह अनुमान एक स्पष्ट या एकमात्र संभव अनुमान है । अनुमानों की दुनिया में तो और भी हजारों अनुमान लगाए जा सकते हैं ।

दूसरे हमें कोई ऐसी तार्किक प्रक्रिया समझ में नहीं आती जिससे आदिम लोग आत्मा संबंधी विचार से प्रेतात्मा के विचार तक पहुंच सकें । वास्तव में जीवात्मा की संकल्पना और प्रेतात्मा की संकल्पना दोनों एक–दूसरे से पूर्णतया भिन्न है, यहां तक कि एक –दूसरे के विपरीत भी हैं ।

धर्म पर टाइलर के जिस सिद्धांत का यहां विचार किया जा रहा है वह तब तक पूर्ण नहीं होगा जब तक कि हम जादू–टोने के संबंध में उसके विचारों का उल्लेख न कर लें । टाइलर के विचार में आदिम लोगों का धर्म तर्कसंगत है और वह पर्यवेक्षणों और उन पर आश्रित अनुमानों पर आधारित है । टाइलर ने जादू–टोने के प्रयोग में भी तर्कसंगति के तत्व पर बल दिया । उसका कथन है कि आदिम लोगों में जादू–टोना भी पर्यवेक्षण और समान तत्वों के वर्गीकरण पर आधारित है । टाइलर के अनुसार जादू–टोने की कभी–कभी होने वाली असफलता का कारण दृष्टि की बजाय विचारों के स्तर पर अपने व्यक्तिगत अनुमानों को आरोपित कर दिया जाता है ।

टाइलर की जादू–टोने के विषय में यह चर्चा प्रज्ञावादी व्याख्या का एक अच्छा उदाहरण है । अगर कोई यह पूछे कि आदिम लोगों से गलतियां कैसे हो जातीं हैं तो

टाइलर का उत्तर है कि आदिम लोग बड़ी चतुराई से जादू–टोने की निरर्थकता पर ध्यान नहीं देते । जब कभी जादू विफल हो जाता है तो उसकी विफलता को यह कहकर समझाया जाता है कि ऐसा किसी निर्दिष्ट कार्य को न करने या, किसी जरूरी कार्य को नजरअंदाज करने से अथवा किसी विरोधी जादू–टोने के प्रभाव से हुआ है ।

टाइलर के शिष्य एंड्रयू लैंग (1849–1912) ने टाइलर द्वारा धर्म पर दिए गए सिद्धांत की आलोचना की । यद्यपि लैंग विकासवादी सिद्धांतों का समर्थक था, लेकिन वह इस बात से सहमत नहीं था कि उत्तरवर्ती विकास के रूप में प्रेतों या प्रेतात्माओं में विश्वास से देवताओं के अस्तित्व का विचार उपजा । मिथ, रिचुअल और रिलीजन नामक अपनी पुस्तक में लैंग (1896) ने बताया कि बहुत से आदिम लोग उच्च कोटि के देवताओं में विश्वास करते थे और उनके बीच प्रेतात्मा में विश्वास कभी नहीं रहा था । जबकि टाइलर जैसे प्रज्ञावादियों के अनुसार आदिम लोगों में सर्वज्ञ देव के अस्तित्व को अमूर्त रूप से समझने की योग्यता का अभाव सर्वथा था । लैंग (1898:2) ने तर्क दिया कि ईश्वर या देवता के विचार को "स्वप्नों" और "प्रेतों" के बारे में चिंतन से विकसित करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इन दोनों का उद्भव तो स्वयं ही भिन्न–भिन्न स्रोतों से हुआ है । उसकी दृष्टि में ईश्वर में विश्वास पहले से है जो बाद में बिगड़कर जीववाद में बदल गया । लैंग का एक अद्भुत सिद्धांत था कि एक्वेश्वरवाद और जीववाद दोनों धाराएं ईसाई धर्म में हिब्रू और यूनानवादी स्रोतों से आईं । धर्म के बारे में लैंग के विचारों बहुत गंभीरता से नहीं लिया गया क्योंकि उसे साहित्यिक अधिक और धर्म के अध्ययन में पड़ने वाला नौसिखिया समझा जाता था । ऐसा होते हुए भी हमें यह तो मानाा ही होगा कि लैंग द्वारा टाइलर की आलोचना ने बहुत से विद्वानों को (इनमें से एक विल्हेम भी था) आदिम लोगों में सर्वशक्तिमान,स्रष्टा ईश्वर की संकल्पना के विषय में अध्ययन के लिए प्रेरित किया ।

टाइलर के एक अन्य आर.आर. मैरेंट (1866–1943) ने जीववाद सिद्धांत की आलोचना की और मैरेंट के विचारों को शिक्षाविदों ने अधिक गंभीरता से लिया । उसने आर.एच. कॉड्रिंगटन की मैलेनेशिया से एकत्रित सामग्री की ओर ध्यान दिलाया और दावा किया कि प्रेतात्माओं में विश्वास से पहले आदिम लोगों को एक निवैयक्तिक शक्ति में विश्वास था । मैरेंट ने इस शक्ति को "माना" कहा और बताया कि ऐतिहासिक और सैद्धांतिक दोनो

दृष्टियों से ''माना'' पर एक लेख लिखा और यह स्थापित किया कि ''माना'' तथा ''टेबू'' (वर्जना) के विचारों से जादुई–धर्म की परिभाषा दी जा सकती है । मैरेंट ने विकासवादी सिद्धांतों का एकदम परित्याग तो नहीं किया लेकिन उसने टाइलर की रचनाओं की जो आलोचना की, उसके परिणामस्वरूप दूसरे विद्वान धर्म के विकासवादी विश्लेषण की वैधता के बारे में प्रश्न करने को बाध्य हो गए । अपने प्रश्नों के उत्तरों की खोज में उन्हें नृजातिविवरण सामग्री को और अधिक सावधानी से देखने की आवश्यकता महसूस हुई । आगे चलकर इसी प्रवृत्ति ने धर्म के अध्ययन के बारे में प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण की नींव डाली ।

जादू–टोने पर निर्भरता :–

कुछ विद्वानों का कथन है कि आकस्मिक घटनाओं का मुकाबला करने के लिए धर्म के बजाय जादू–टोना करना अधिक आदिम तरीका है । धर्म और जादू–टोने में आधारभूत अंतर यह है कि धर्म में समर्पण भाव से प्रार्थना, पूजा और धार्मिक अनुष्ठान के माध्यम से अलौकिक शक्ति का सामना किया जाता है । जादू–टोने में हमें अलौकिक शक्तियों को वश में करने के लिए जादू–टोने का सहारा लेना पड़ता है । सर जेम्स फ्रेजर ने द गोल्डन बाउ नामक पुस्तक में जादू–टोने और आदिम अंधविश्वासों के बारे में लिखा है । उसने आदिम लोगों में बोद्धिक प्रौढ़ता के विकासवादी क्रम को सामने रखा । उसके मत में जादू–टोने पर निर्भरता से शनैः शनैः धर्म की ओर हमारी प्रवृत्ति होती है और उसके बाद अंततः वैज्ञानिक चिंतन की ओर । फ्रेजर ने भी अलौकिक जगत् को समझने के लिए ओझाओं और पुजारियों या पादरियों जैसे धार्मिक विशेषज्ञों की भूमिका पर जोर दिया । सबसे महत्वपूर्ण योगदान है फ्रेजर द्वारा जादू–टोने, इसके विभिन्न प्ररूपों और प्रकार्यों पर विशेष जोर दिया जाना ।

फ्रेजर ने जादू–टोने के प्रयोग को एक अर्ध–वैज्ञानिक कार्यकलाप के रू॰ में देखा । उसके अनुसार इस कार्यकलाप के पीछे कुछ न कुछ तार्किक आधार अवश्य हैं । इसीलिए फ्रेजर ने जादू–टोने को ''विज्ञान की जारज बहन'' कहकर पुकारा । उसने आदिम लोगों द्वारा प्रयोग किए जाने वाले जादू–टोने के दो प्ररूपों के बीच अंतर किया है ।

क) समचिकित्सात्मक या अनुकारी जादू :– अनुकारी जादू ''समः समं शमयति'' या समानता के यिम पर आधारित होता हैं । उदाहरण के लिए – भारत के छोटा

नागपुर इलाके के कुछ जनजातीय समूहों में यह विश्वास है कि गर्जन या गड़गड़ाहट के कारण वर्षा होती है । इसीलिए जब वर्षा नहीं होती है तो जनजातीय लोग एक पहाड़ी के शिखर पर जाते हैं और एक छोटे जानवर की बलि चढ़ाने के बाद वे पहाड़ के ढलान पर बड़े बड़े शिलाखंड ओर पत्थर लुढ़काते हैं । इनके ढलान पर लुढ़कने से जोरदार गड़गड़ाहट होती है ।

ख) संक्रामक जादू :–

फ्रेजर के अनुसार दूसरे प्रकार का जादू इस विचार पर आधारित है कि कोई वस्तु जब किसी से संपर्क में आती है तो वह हमेशा उसके संपर्क में रहेगी । अतः यह संक्रमण का नियम लागू होता है । यहां जो आधारभूत धारणा कार्यरत है वह है जनजातीय लोगों का यह विश्वास कि व्यक्ति विशेष के कपड़े आदि चीजें उस व्यक्ति के एक अंश का प्रतिनिधित्व करती है । इसी तरह व्यक्ति विशेष के कटे हुए बाल या नाखून भी उस व्यक्ति का प्रतिनिधित्वा करते हैं जिसके वे वास्तव में होते हैं । प्रायः जादू–टोना करने वाले ओझा व्यक्ति विशिष्ट के जीवन को प्रभावित करने के लिए इन वस्तुओं का प्रयोग करते हैं । वे उस व्यक्ति के कपड़े के अंशों, बालों या नाखून पर जादू–टोने का अनुष्ठान करते हैं । सामान्यतः यह कार्य निषेधात्मक प्रयोजनों के लिए किया जाता है अर्थात् जब कोई काम रूकवाना या बिगड़वाना होत तो इस प्रकार के जादू का प्रयोग होता है ।

इस प्रकार फ्रेजर की दृष्टि में धर्म की तरह जादू–टोने का प्रयोग भी अलौकिक शक्तियों के साथ समझौता करने के लिये अपने उस वातावरण पर नियंत्रण के लिए होता है जो उन आदिम लोगों के लिए खतरे और विपत्ति का कारण हो सकता है । जब जादू–टोना और उससे संबंधित अनुष्ठान विफल हो जाते हैं तब आदिम लोगों के विचार प्राकृतिक जगत में विद्यमान एवं कार्यरत् कहीं अधिक बड़ी शक्ति की संभावना की ओर मुड़ते हैं । वे शीघ्र ही उस महती प्राकृतिक शक्ति को अपनी पूजा के योग्य समझने लगते हैं । फ्रेजर का कहना है कि इस प्रकार आदिम लोग प्रकृति और जादू–टोने पर निर्भरता को छोड़कर धार्मिक पूजा–पाठ तथा धार्मिक कार्यकलाप की ओर बढ़ते हैं । फ्रेजर के अनुसार, यहां मुख्य बात यह स्मरण रखने की है कि धर्म से आगे भी एक अवस्था है । यह अवस्था है – विज्ञान की

अवस्था । जब लोग इन "शक्तियों" को पहले की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक तार्किकता से समझने लगेंगें, फ्रेजर के अनुसार, तब मनुष्यों की बुद्धि का पूर्ण विकास हो जाएगा ।

मनो–जीववैज्ञानिक प्रकियाओं में धर्म का उद्‌भव :–

कुछ विद्वानों ने धर्म के भाव–प्रवण पक्ष को महत्व दिया है । धर्म के समाजशास्त्रीय अध्ययन से संबंधित अधिकांश पाठ्य–पुस्तकों में धर्म के बोध (प्रज्ञात्मक) और भाव–प्रवणात्मक पक्षों पर साथ–साथ विचार किया गया है । इवन्स प्रिचर्ड (1965) ने इस दोनों विचारधाराओं की अत्यधिक रोचक और प्रभावशाली समीक्षा की है । अगर हम धर्म में भाव–प्रवण पक्ष के अध्ययन को कट्टर प्रज्ञावादियों के कामों पर हुई व्याख्याओं से असहमत हों, उतना ही हम मनोभाव की दृष्टि से धर्म के विश्लेषण के बारे में भी प्रश्न–चिन्ह लगा सकते हैं । परंतु ऐसा करने के लिए हमें पहले इन सिद्धांतों को समझना होगा । इनको समझने से वह पृष्ठीूमि भी तैयार होगी जिसके आधार पर उत्तरवर्ती विद्वानों को प्रकार्यवादी एवं संरचनावादी व्याख्याएं विकसित करने का वातावरण मिला । यहां हमने कुछ उन महत्वपूर्ण और सुपरिचित सिद्धांतों के बारे में चर्चा की है जो धर्म का उद्‌भव मनो–वैज्ञानिक प्रकियाओं से मानते हैं । पहले हमने उन दृष्टिकोण पर विचार किया है, जिसके अनुसार धर्म का उद्‌भव मुख्य रूप से भय के कारण होता है । दूसरे नंबर पर हमने मलिनॉस्की की अभिधारणा को लिया है जिसके अनुसार, धर्म का उद्‌भव भावात्मक तनाव की स्थिति में होता है । तीसरे नंबर पर हमने फ्रॉयड के मत पर विचार किया है, जिसके अनुसार धर्म का उद्‌भव अपराध–भावनाओं से होता है ।

1. धर्म – भय का परिणाम :–

टाइलर के अनुसार, आत्मा के विषय में विचार से प्रेतात्मा के विचार का जन्म हुआ और इसी विचार ने बाद में ईश्वर की धारणा का रूप ले लिया । टाइलर के समकालीन अधिकांश विद्वानों ने धर्म के बारे में इस दृष्टिकोण को स्वीकार किया । इस बात को हमने इससे पहले भी उल्लेख किया है कि इस सिद्धांत की सबसे अधिक आलोचना करने वालों में टाइलर के अपने ही शिष्य प्रमुख थे ।

क्लासिक्स के विद्वान और एक स्कूल के प्रधानाध्यापक, ए.ई. क्रॉले ने प्रेतात्मा के विचार के उद्भव के संबंध में टाइलर के मत के पीछे निहित तर्क के बारे में संदेह व्यक्त किया । क्रॉले (1909:78) ने स्वप्नों से आत्मा के विचार के उदय की संभावना से इंकार किया । उसका कथन था कि आत्मा के संबंध में विचार का उदय संवेदना से हुआ, जबकि प्रेतात्माओं का अस्तित्व केवल लोगों के मनों में है । उसने कहा कि माानसिक जगत ही प्रेतात्माओं का जगत है । यह भी प्रज्ञावादी दृष्टिकोण ही है । लेकिन इवन्स प्रिचर्ड (1965:36) ने यह संकेत किया कि क्रॉले केवल यही नहीं कहना चाहता था । उसने सन 1927 में प्रकाशित दस मिस्टिक रोज नामक अपनी पुस्तक में धर्म पर अपने सिद्धांत का खुलासा दिया है ।

क्रॉले का मत था कि धर्म या अंधविश्वास आदिम लोगों के मानसिक चिंतन पर छाए होते हैं । आदिम लोगों की दृष्टि में धर्म और जादू–टोने में कोई अंतर नहीं होता है । वे रहस्य के उस जगत में रहते हैं, जहाँ स्वयं को महसूस होने वाली तथा बाह्रय जगत में पायी जाने वाली वास्तविकताएं गड्डमड्ड हो जातीं हैं । क्रॉले के अनुसार आदिम विचारधारा के पीछे सामाजिक संबंधों के बिगड़ जाने का भय बना रहता है । उदाहरण के लिए, उन्हें खाना खाते समय विशेष रूप से खतरे की संभावना बनी रहती है । इसीलिए उनके समाज में खाने से जुड़े इतने निषेध हैं । इन्हीं खतरों और भय का अवधारणीकरण प्रेतात्माओं के रूप में हुआ । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि क्रॉले` धर्म के सिद्धांत का निर्माण भी कुछ हद तक निषेधों के दायरे में हुआ है और ये निषेध भय के कारण उत्पन्न होते हैं । उसके अनुसार लोगों को जितने बड़े खतरे का सामना करना पड़ता है, वे उतने ही अधिक धार्मिक होते जाते हैं । उसके मत में एक रूचिकर बात यह भी है कि चूंकि स्त्रियों को पुरूषों की अपेक्षा अधिक खतरों का सामना करना पड़ता है अतः वे पुरूषों से अधिक धार्मिक मनोवृत्ति वाली होती है । उसकी नजर में ईश्वर की मान्यता मनोवैज्ञानिक और जीववैज्ञानिक प्रक्रियाओं का परिणाम है।

इस विचार धारा का एक उदाहरण विल्हेम वुंट की कृतियों में मिलता है । क्रॉले के समान वह भी प्रज्ञावादी और भावुकतावादी दोनों था । वुंट (1916:17) के अनुसार व सभी विचार अपने सहज ज्ञान का अंश नहीं है या जो पुराण कथाओं पर आधारित है उन सबकी उत्पत्ति मनोभावों से होती है । ये मनोभाव बाह्रय जगत की ओर उन्मुख होते हैं । यही धर्म

की पहली अवस्था है जिसमें जादू–टोने ओर राक्षसों आदि में विश्वास किया जाता है । विकास के अगले चरण में लोग जंतु जगत के प्राणियों की पूजा आरंभ कर देते हैं । इसी को उसने टोटम युग कहा है । इसमें प्रायः जनजातियों के विभिन्न भाग किसी न किसी पक्षी या पशु को अपना प्रतीक मान लेते हैं तथा उस प्रतीक की पूजा करते हैं । इस प्रतीक को "टोटम" संज्ञा दी जाती है । धीरे–धीरे टोटम की पूजा की जगह पूर्वजों की पूजा होने लगती है । कालांतर में इसका स्थान वीर पुरूषों की पूजा ले लेती है और बादमें देवताओं की पूजा पद्धति इसका स्थान ले लेती है । इसे वीर पुरूषों और देवताओं के युग की अवस्था कहा जा सकता है। इस विकास चक्र की अंतिम अवस्था मानवतावादी युग है ।

कॉले और वुंट दोनों ही पूर्णतया विकासवादी थे । वुंट की विचारधारा समाजशास्त्र या नृशास्त्र के बजाय ऐतिहासिक दर्शन के अधिक निकट हैं । आर.एच. लोवी, पॉल रैडिन और गोल्डनवाइजर जैसे अमरीकी नृशास्त्रियों ने भी आदिम समाजों में धर्म के बारे में काफी रूचिकर सिद्धांत दिए हैं ।

2. धार्मिक भावनाएं और रोमांच :–

आर.एच.लोवी (1925) ने क्रो अंडियनों (प्लैट और यलोस्टोन नदियों के बीच के क्षेत्र में रहने वाले अमेरिइंडियन लोग) के बारे में अपने अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि आदिम लोगों के लिए धर्म का अर्थ है, उनकी भावनाएं । उनके धर्म की विशेषताएं हैं, असाधारणता, रहस्यमयता और अलौकिकता के भाव । लोवी ने क्रो इंडियनों के धार्मिक व्यवहार के बजाय बनकी आश्चर्य और भय की भावात्मक प्रतिक्रियाओं के बारे में लिखा । कोई भी बात जो उपरोक्त भावों को पैदा करती हो उसे लोवी ने धर्म कहा है । इस प्रकार, लोवी के अनुसार यदि जादू–टोने का संबंध किसी मनोभाव से हो तो उसे भी धर्म कहा जाएगा । भावात्मक तत्व के बिना जादू–टोना लोवी के लिए विज्ञान के समान है ।

एक अन्य अमरीकी नृशास्त्री पॉल रैडिन ने विनेबागो इंडियनों (संयुक्त राल्य अमरीका के पूर्वी विसकौसिन में विनेबागों लेक के आसपास बसे इंडियन लोग) के बारे में किए गए अध्ययन के आधार पर उनकी धार्मिक भावनाओं को उनके विश्वासों और रीति–रिवाजों के पति अत्यधिक संवेदनशील के रूप में देखा । इस संवेदनशीलता की अभिव्यक्ति रोमांच के रूप में होती है । सामान्य रूप से इस धार्मिक रोमांच की अभिव्यक्ति जीवन में संकट की

घड़ी में होती है । पॉल रैडिन (1932) जादू–टोने को धर्म के रूप में तभी स्वीकार करता है जब उससे धार्मिक भावनाएं पैदा हों । धार्मिक मनोभावों से रहित जादू–टोने को रैथ्डन केवल लोककथा मानता है ।

इसी तरह गोल्डनवाइजर (1921:346) ने जादू–टोना और धर्म के दो क्षेत्रों का वर्णन किया है । उसका कथन है कि इन दोनों क्षेत्रों की विशेषता है – धार्मिक रोमांच । अमरीकी नृशास्त्रियों की तरह अन्य नृशास्त्रियों, विशेषतः इंगलैंड के नृशास्त्रियों ने आदिम लोगों के बारे में पर्यवेक्षण करके सामग्री को रिकॉर्ड करने पर अधिक ध्यान दिया । उनमें से एक अति सुपरिचित नृशास्त्री मलिनॉस्की था । आर्थिक विकास में जादू–टोने और धर्म की भूमिका में उसकी रूचि थी । यद्यपि मलिनॉस्की ब्रिटिश सामाजिक नृशास्त्र की प्रकार्यवादी विचारधारा की स्थापना के लिए प्रसिद्ध है, लेकिन जहां तक उसकी सैद्धांतिक रूचियों का संबंध है वह विकासवादी ही था ।

3. भाव–प्रवण तनाव :–

मलिनॉस्की का कहना है कि धर्म और जादू–टोने का उद्‌भव भाव प्रवण तनाव की स्थितियों में होता है और इन्हीं स्थितियों में धर्म तथा जादू–टोने का प्रयोग होता है । आदिम लोग रोजमर्रा के जीवन में आने वाली व्यावहारिक कठिनाइयों को दूर करने के लिए वैज्ञानिक ज्ञान के स्थान पर जादू–टोने का उपयोग करते हैं । कई स्थितियां ऐसी होती हैं जब मनुष्य हर प्रकार के प्रयास करने के बावजूद लाचारी और बेबसी की हालत में तनावग्रस्त हो जाता है । उसका सारा व्यावहारिक ज्ञान व्यर्थ प्रतीत होता है तथा उसे तनाव के भार से मुक्त होने के लिए जादू–टोने का सहारा लेना पड़ता है जो अवैज्ञानिक होत हुए भी उसे तनाव से मुक्त कर देता है । जादू–टोने की प्रक्रिया में अभीष्ट लक्ष्यों को नाटकीय ढंग से खेला जाता है और अधिकांश जादुई धार्मिक कृत्य अनुकरणात्मक होते हैं । इन अनुकरणात्मक जादू–टोनों के नाटकीय प्रदर्शन से भाव–प्रवण तनाव समाप्त हो जाता है और जादू–टोना करने तथ मानने वालों के मन में विश्वास की भावना जाग्रत होती है । इसके बाद में निश्चित होकर वे अपने सामान्य कार्यकलापों में लग सकते हैं ।

मलिनॉस्की ने धर्म जादू–टोने से अलग करने का प्रयास किया है । उसके अनुसार, धार्मिक अनुष्ठानों को करने का कोई भविष्य में होने वाला निमित्त नहीं होता । इन अनुष्ठानों

के उद्देश्य की पूर्ति धार्मिक अनुष्ठानों के सम्पन्न होने की प्रक्रिया में ही हो जाती है । मलिनॉस्की (1948:39) का कथन है कि जन्म, यौवनारंभ और मृत्यु आदि के अवसरों पर अनुष्ठानों को करने मात्र से उनके उद्देश्य पूरे हो जाते हैं । इनका उद्देश्य है आदिम समाजों में सर्वोच्च शक्ति ओर परंपरा के मूल्य की आनुष्ठानिक और प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्ति करना । इसके अलावा इन अनुष्ठानों का प्रयोजन है आने वाली प्रत्येक पीढ़ी के मनों पर इस शक्ति और मूल्य की अमिट छाप डालना । इससे आदिम कथाओं को अगली पीढ़ी तक पहुंचाया जा सकता है जिसके फलस्वरूप परंपरा की रक्षा होती है और जनजातीय एकता बढ़ती है ।

मलिनॉस्की के अनुसार हालांकि धर्म और जादू–टोना एक दूसरे से भिन्न हैं, फिर भी वे दोनों एक दूसरे के समान भी हैं क्योंकि दोनों ही एक प्रकार का परिमार्जन करते हैं जिससे तनाव की स्थिति खत्म होती है । जब लोगों को जीवन में संकट का सामना करना पड़ता है तो भय और चिंता से तनाव पैदा होता है । ऐसे अवसर पर धार्मिक और जादुई अनुष्ठानों से भय और भाव–प्रवण तनाव को समाप्त करने में सहायता मिलती है ।

मलिनॉस्की के प्रशंसकों ने आदिम समाजों में धर्म ओर जादू–टोने की उपर्युक्त व्याख्या का अंधाधुकरण किया । इस प्रशंसकों में प्रमुख हैं –ड्राइबर्ग (1932) और फर्थ (1955) । बीसवीं शताब्दी के आरंभ में धर्म और जादू–टोने से संबंधित इस विचारधारा का अनुसरण करने वाले विद्वानों की संख्या काफी थी । इवन्स प्रिचर्ड (1965:40) ने इसे टाइलर–फ्रेजर फार्मूला का नाम दिया । इवन्स प्रिचर्ड ने दिखाया कि अंधविश्वासों के बारे में लिखने वाला मनोवैज्ञानिक भी धर्म तथा जादू–टोने के बारे में यह तर्क प्रस्तुत करता है । मनोवैज्ञनिक कारवेथ रीड (1920) ने *द ओरिजिन ऑफ मैन एंड ऑफ हिज सुपरस्टिशन्स* नामक पुस्तक लिखी । कारवेथ रीड ने यह निष्कर्ष निकाला कि व्यक्ति का भय, घृणा प्यार आदि की भावात्मक अवस्थाओं में जादू–टोने का प्रयोग किया जाता है, इसका कार्य तनाव को समाप्त करना और जादू–टोने का प्रयोग करने वालों में आशा और विश्वास का संचार करना होता है ।

मनोविज्ञान के संबंध में चर्चा करते समय हमें यह भी देखना चाहिए कि धर्म के संबंध में फ्रायड ने क्या कहा है । धर्म के संबंध में नृशास्त्रियों के लेखन से फ्रायड बहुत प्रभावित हुआ और बाद में स्वयं उसने समाजशास्त्रियों और नृशास्त्रियों की रचनाओं को प्रभावित किया ।

फ्रॉयड की पुस्तकों *टोटम और टैबू (1913), द फ्यूचर ऑफ एन एल्युजन (1927) और सिविलाइजेशन एंड इट्स डिझकॉटेन्ट्स (1930)* का विकासवादी सिद्धांत में महत्वपूर्ण योगदान रहा ।

4. अपराध की भावनाएं :–

आदिम लोगों की चिंतन प्रक्रिया के संबंध में लिखते समय वान डर लियू (1928:14) ने यह दिखाया कि आदिम लोगों की न रोकी जा सकने वाली ऐसी भावात्मक आवश्यकताएं होती हैं जिनके कारण वे सत्य तक नहीं पहुंच पाते । फलस्वरूप वे अपने विचारों में विद्यमान अंतर्विरोधों को समझ नहीं पाते हैं । तब उन्हें वही दिखाई देता है जिसे वे देखना चाहते है।

वान डर लियू ने जादू–टोने का उदाहरण लेते हुए कहा कि किसी कठिन स्थिति का सामना करते समय कोई व्यक्ति या तो कोशिश करके जैसे–तैसे उसमें से निकलता है या निष्क्रिय होकर अंतर्मुखी हो जाता है । अंतर्मुखी होकर वह व्यक्ति कल्पनालोक में विचरण करने लगता है जहां अपनी परेशानियों पर नियंत्रण पाने के लिए जादू–टोने का सहारा लेने की कोशिश करता है । यह मनोवैज्ञानिक क्रियाविधि जीवन में सभी प्रकार की समस्याओं को हल करने में लोगों की मदद करती है ।

फ्रायड (1913:145) ने भी यह पाया कि मानसिक विकारों से ग्रस्त उसके रोगी जीवन के कटु सत्यों का सामना करने के लिए प्रायः एक विचार या वस्तु में असामान्य ढंग से लिप्त होकर कल्पना जगत् में पलायन कर जाते हैं । फ्रायड के अनुसार, व्यक्ति के विकास की तीन अवस्थाएं होती हैं । इनमें पहली अवस्था को उसने आत्मरति यानी अपने ही शरीर से प्यार कहा है । दूसरी अवस्था में व्यक्ति का जीवन की वास्तविकताओं से सामना होता है और वह बिना किसी समस्या के उनके अनुकूल स्वयं को ढाल लेता है । फ्रायड इन अवस्थाओं के समान ही मानव के बौद्धिक विकास की तीन अवस्थाएं बताता है । ये अवस्थाएं हैं – जीववादी (या जादुई), धार्मिक और वैज्ञानिक । बच्चा अपनी शरीरिक क्रियाओं से सब कुछ पाने में असमर्थ होता है, तब जैसा कि जादू–टोने में होता है वह अपने अभीष्ट उद्देश्य की प्राप्ति करने के लिए कुछ करने के बजाय झूठ–मूठ के विचारों का सहारा लेता है । एक मनोरोगी व्यक्ति का व्यवहार भी लगभग ऐसा ही होता है । वह भी अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कुछ करने के बजाय विचारो का आश्रय लेता है । ऐसा व्यक्ति उस समय उस

जादूगर की तरह होता है जो अपने विचारों को सर्वशक्तिमान समझता है । यहां भी लगभग बात वही है, वह तनाव या निराशा की भावना के वश में जादू–टोने की ओर प्रवृत्त होता है और इस प्रकिया में गुजरने मात्र से उसका तनाव समाप्त हो जाता है ।

इस प्रकार जीववादी अवस्था की व्याख्या करने के बाद फ्रायॅड दूसरी अवस्था की चर्चा करता है । उसकी दृष्टि में जादू–टोने की तरह धर्म भी भ्रम है और इसका जन्म अपराध की भावना से होता है । फ्रॉयड ने धर्म को समझाने के लिए एक बहुत ही रोचक किस्सा दिया है । फ्रॉयड ने मानव विकास में वानर–सम अवस्था का उल्लेख किया है कि वानरों के समूह का पितृ सदृश नेता पूरे समूह पर शासन करता था और वह सभी मादा वानरों को अपने पास रख लेता था । इससे उसके बेटों ने उसके विरूद्ध विद्रोह कर दिया और उन्होंनें कहा कि उन्हें भी मादा वानरों की जरूरत है । उन्होंनें अपने पिता वानर को मार कर खा लिया । उसके बाद उन्हें बड़ा पश्चाताप हुआ और वे अपराध–भावना से ग्रस्त हो गए । इसके फलस्वरूप उन्होंनें टोटम भक्षण पर निषेध घोषित कर दिया । यह टोटम उनके पिता और उसकी सत्ता का प्रतीक था । इसके बाद वे अनुष्ठानपूर्वक टोटम की पूजा करने लगे । इस प्रकार धार्मिक अनुष्ठानों की शुरूआत हुई । इसके बाद बेटों ने माता और बेटों के बीच यौन संबंध को निषिद्ध घोषित कर दिया । इसे ही कौटुम्बिक व्यभिचार निषेध का नियम कहते हैं । फ्रॉयड के अनुसार, जिस प्रकार टोटम से धर्म का जन्म हुआ उसी प्रकार इस निषेध से संस्कृति का जन्म हुआ ।

इसी कम में फ्रॉयड ने इडीपस मनोग्रंथि और इलेक्ट्रा मनोग्रंथि के सिद्धांतों को भी प्रतिपादन किया । इडीपस मनोग्रंथि में अवचेतन अवस्था में बेटे अपने लिए मां को चाहते हैं और वे अपने पिता को मार डालना चाहते हैं । जबकि इलेक्ट्रा मनोग्रंथि में अवचेतन अवस्था में बेटी अपने लिए पिता को चाहती हैं और मां को मार डालना चाहती है । अंतिम विश्लेषण में पिता को आदर्श रूप में लिया गया और उसे ईश्वर का दर्जा तक दिया गया । चूंकि यह सब वास्तविकता न होकर केवल अवचेतन में होने वाले भ्रम के कारण है इसलिए फ्रॉयड के अनुसार धर्म भी भ्रम के ही कारण पैदा होता है ।

हमने देखा कि फ्रॉयड के अनुसार धर्म और जादू–टोना दोनों को तनाव, निराशा, मनोभाव, मनोग्रंथियां और भ्रमों की भावना के स्तर पर समझा जा सकता है । जैसा कि ऊपर

उल्लेख किया जा चुका है, फ्रॉयड ने नृशास्त्रीय लेखन को प्रभावित किया है । उदाहरण के लिए, एम.ई. स्पिरो (1984) ने *इडीपस इन द ट्रोब्रिएंड्स* नामक एक पुस्तक लिखी है । इसे पढ़ने से मालूम होता है कि फ्रॉयड के विकासवादी विचारों पर अभी भी काम हो रहा है । आइए अब हम देखें कि किस प्रकार धर्म के उद्‌भव और विकास से संबंधित ये सभी विकासवादी सिद्धांत सदैव लोकप्रिय और प्रचलित नहीं रहे । कुछ समय बाद इनका स्थान नई विचारधाराओं ने ले लिया । समय के साथ विभिन्न मानव समूहों के बारे में और अधिक जानकारियां उपलब्ध हुईं, जिनके परिपेक्ष्य में उत्तवर्ती विद्वानों ने पुराने सिद्धांतों को चुनौती दी । इन सिद्धांतों के बारे में नए प्रश्न उठाए गए और समाधान के लिए नई पद्धतियां खोजी गईं ।

5. विकासवादी सिद्धांतों की समीक्षा :–

धर्म के विकासवादी सिद्धांतों की कई आलोचनाएं हुईं हैं । आपको यह भी मालूम हो चुका है कि लैंग और मैरेट जैसे विद्वानों ने टाइलर जैसे विकासवादियों की आत्मा के संबंध में धारणाओं को और सजीव तथा निर्जीव वस्तुओं में आत्मा जैस तत्व को खोजने के प्रयास की आलोचना की । कथन था, कि इस तरह के जीववाद से पहले भी धर्म का अस्तितव था जिसने प्रत्येक वस्तु में प्राण का अस्तित्व देखा । जीववाद से पूर्व के धर्म को प्राणवाद का नाम दिया गया था । लैंग ने स्पष्ट और सर्व–शक्तिमान देवता विषयक अमूर्त विचार में प्रचलित विश्वास के ढेर सारे प्रणाम दिए । उसने तत्कालीन नृशास्त्रियों की इस धारणा को असत्य सिद्ध कर दिया कि आदिम मानव इतने पिछड़े हुए और अविकसित थे कि वे ईश्वर की अमूर्त रूप में कल्पना की नहीं कर सकते थे ।

मैरेट ने ''मानावाद'' नामक धार्मिक विश्वास की और हमारा ध्यान आकृष्ट किया था । इस विश्वास के अनुसार सभी जीवंत और निर्जीव वस्तुओं में व्यक्ति –निरपेक्ष और अभौतिक दैविक शक्ति होती है। इस शक्ति की अभिव्यक्ति भौतिक बल के रूप में होती है, जिसकी तीव्रता की मात्रा सबमें अलग–अलग होती है। इसी दैविक शक्ति को मैलेनेशियाई लोगों ने माना नाम दिया । दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि टाइलर ने कोई नई बात नहीं कहीं । टाइलर की आलोचना करके उसके आलोचकों ने धर्म के उद्‌भव के संबंध में पूर्व

स्वीकृत विचारों को नही माना । साथ ही वे धर्म पर एकत्रित नृजातिविवरणों की आरे सबका ध्यान आकृष्ट करने में सफल हुए ।

टाइलर और स्पेंसर जैसे विकासवादियों के विरूद्ध मुख्य आलोचना इस बात की थी कि वे आदिम लोगों के मन में ऐसी तार्किकता और प्रज्ञा का होना मानते थे, जो वास्तव में उनके पास नहीं थी । इन आलोचकों का दावा है कि आदिम लोगों का झुकाव धर्म और उससे संबंधित विश्वासों, प्रथाओं में होने के बजाय जादू–टोना और अंधविश्वास में था । जेम्स फ्रेजर ने विकासवादी विचारों की पुष्टि करने वाली अपनी पुस्तक द गोल्डन बाउ में यह बताने का प्रयास किया कि आदिम लोगों का सोचने का तरीका ही जादुई बातों पर आधारित था। फ्रेजर के अनुसार इस जादुई पद्धति का स्थान पहले धर्म ने और बाद में वैज्ञानिक विचारधारा ने ले लिया । उसने ऐसे धार्मिक विशेषज्ञों जैसे ओझाओं (जादू–टोना करने वालों) और पुजारियों की भूमिका के अध्ययन पर बल दिया, जो अलौकिक जगत का सामना कर सकें ।

विकासवादियों ने धर्म और जादू–टोने के बारे में काफी विस्तार से लिखा है । इनमें से कुछ ने धार्मिक विश्वासों के महत्व का समर्थन किया तो कुछ ने जादू–टोना के प्रयोग के महत्व का । उन्होंने धर्म के बारे में जो कुछ भी कहा उसमें से अधिकांश धर्म और जादू–टोने के इर्द–गिर्द ही दिखाई देता है । निश्चय ही आज विकासवादियों के सिद्धांत हमें बिल्कुल तर्कहीन और सामान्य बुद्धि के विपरीत प्रतीत होते हैं । इसमें जरा भी संदेह नहीं कि ये विद्वान अपने क्षेत्र के बहुत बड़े विद्वान थे और धर्म के बारे में उनकी व्याख्याएं उस समय के बौद्धिक वातावरण पर आधारित थीं । वे यह मानकर चले थे कि आदिम लोगों के धर्मों के अध्ययन द्वारा वे धर्म के उद्भव और विकास की कहानी जान सकते हैं । इसका परिणाम यह हुआ कि उन्होनें धर्मिक तथ्यों की व्याख्या आदिम विचारधारा की दृष्टि से की । अब प्रश्न उठता है कि आदिम विचारधारा की जटिलताओं और पेंचीदगियों को वे कैसे समझ सकते थे? उनमें से कुछ तो एक भी आदिमवासी को देखा तक नहीं था । उनके अधिकांश सिद्धांत निरी अटकलबाजियां थीं जो आदिम लोगों की विचारपद्धति के बारे में बेसिर–पैर की कल्पना के नमूने थे । एक तरह ये सिद्धांत बहुत सीधे–सादे थे । उन्हें पढ़ने से ऐसा लगता है कि वे विकासवादी विद्वान जिस समाज में रहते थे उसी समाज के विचारों को ही

वे अपने सिद्धांतों में प्रतिपादित कर रहे थे । बाद में जेम्स फ्रेजर जैसे विकासवादियों ने अन्वेषकों, ईसाई धर्म प्रचारकों, प्रशासकों और व्यापारियों द्वारा प्रस्तुत किए गए विवरणों से आदिम समाजों के बारे में जानकारी एकत्र की । लेकिन इस जानकारी की व्याख्या विकासवादियों ने घर बैठे मात्र अनुमानों के आधार पर प्रस्तुत की है । उन्होनें कभी आदिम समाजों के किसी भी व्यक्ति से संपर्क तक नहीं किया । इन विद्वानों ने आदिम लोगों के जिन समूहों के विवरण प्रस्तुत किए वे एकदम अपूर्ण और मात्र कुछ चुने हुए तथ्यों पर आधारित थे । उन्होनें केवल ऐसी बातों पर ध्यान दिया जो बड़ी अनोखी और कौतुहलजनक थीं । इसके परिणामस्वरूप आदिम जीवन की जो तस्वीर हमारे सामने आई, वह बहुत ही पूर्वाग्रहपूर्ण और एकतरफा थी । इनका प्रभाव विकासवादियों द्वारा दी गई व्याख्याओं पर पड़ा, जिमें उन्होनें आदिम लोगों को अत्यधिक रहस्यपूर्ण और अंधविश्वासी बताया था । इस प्रकार विकासवादी सिद्धांतों में यह माना जाता रहा कि आदिम समाजों के लोग जीववाद में या माना अथवा जादू–टोने आदि मे विश्वास करते थे ।

मलिनॉस्की ऐसा पहला नृशास्त्री था जिसने आदिम लोगों के रहन–सहन के बारे में शिक्षाविद् के व्यवसाय की दृष्टि से क्षेत्रीय अध्ययन किया। उसने विकासवादियों द्वारा दिए धर्म के संबंध में सिद्धांतों को बनाने की पद्धति का मजाक उड़ाया । उसने उनके द्वारा जानकारी को एकत्र करने के लिए काटने–पिचकाने वाली पद्धति अपनाने का उपहास किया । मलिनॉस्की ने आदिम जातियों के दिन–प्रतिदिन के जीवन की सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों को बड़ी सावधानी से लेखबद्ध करने पर जोर दिया । आज भी उनके विचारों और सिद्धांतों का अध्ययन किया जाता है । परन्तु इसका अभिप्राय यह बिल्कुल नहीं है कि मानव समाजों में धर्म के विकास कि बारे में उनके विभिन्न सिद्धांतो को स्वीकार किया जा सकता है । अधिकांश विकासवादी प्रगतिवादी थे यानि उनका कम उन्नत से अधिक उन्नत अवस्थाओं में प्रगति पर विश्वास था । उनकी दृष्टि में, आदिम समाज विकास की सबसे शुरू की अवस्था के उदाहरण हैं । विकासवादियों ने अपने सिद्धांतों को सिद्ध करने के लिए विश्व के किसी न किसी कोने से अपने सिद्धांत के अनुकूल उदाहरण खोजने की कोशिश की । उन्हें यह भी ध्यान नहीं रहा कि देश–काल के अनुरूप प्रमाण दिए जाने चाहिए । पहले से बिगड़ी तस्वीर की और भी ज्यादा बिगाड़ने की प्रकिया में विकासवादी विद्वानों ने आदिम जातियों में धार्मिक

तत्वों का वर्णन करने के लिये विशेष शब्दावली के प्रयोग से ऐसा लगता है कि जैसे धर्म को समझना बहुत कठिन हो । विभिन्न भाषाओं के शब्दों के उस भाषा की संप्रेषण व्यवस्था में अर्थों को समझे बिना ले लेना खतरे से खाली नहीं है । दूसरी भाषाओं के शब्दों का अपनी भाषा में अनुवाद कभी–कभी खतरनाक हो सकता है और इससे गलतफहमी पैदा हो सकती है ।

अंत में, यह जा सकता है कि धर्म प्रज्ञावादी व्याख्याओं में "यदि मैं घोडा होता" वाले तर्क का प्रयोग किया गया हें इसका अर्थ है कि आदिम लोगो के धर्म के संबंध में इन प्रज्ञावादियों के विचार केवल अनुमान पर आधारित थे। अनुमानों का आधार पर था यह सोचना के यदि "मैं आदिम व्यक्ति होऊं तो मुझे कैसा लगेगा"।

इस तरह प्रज्ञावादी विद्वान लोगो के बारे में तो नहीं परन्तु अपने विचारों के बारे में हमें अवश्य बता सकें। बाद में भावात्मक व्याख्याओं में विचार का स्थान भावनाओं ने ले लिया। भावात्मक व्याख्या देने वाली विद्वानों के अनुसार आदिम लोग जो कुछ करते थे इसलिये करते थे क्योंकि उनमें एक या दूसरे प्रकार की भावनायें होती थी। ठीक प्रज्ञावादियों की तरह भाव प्रवणतावादियों के पास भी अपने सिद्धान्तों क समर्थन में बहुत कम प्रमाण थे। यहां तक कि जिन विद्वानों ने आदिम लोगो के बीच रहकर क्षेत्र अध्ययन किये उन्होने भी ऐसी व्याख्या प्रस्तुत की जिनकी प्रमाणों से पुष्टि संभव नहीं थी। उदाहरण के तौर पर आपने पढा था कि कुछ विद्वानों ने भय और रोंमांच को धर्म की विशेषता बताया था कुछ लोगो ने इसका धार्मिक मनोभाव के रूप में वर्णन किया, अन्य कुछ लोगो ने धर्म के अनुसार विशिष्ट धार्मिक मनोभाव नाम की कोई चीज नहीं है। आप शायद यह पूछना चाहें कि भय की भावना को कैसे पहचाना जाता है ? इस भावना को कैसे नापा जा सकता है। ? जानने/मापने के अतिरिक्त भाव प्रवण अवस्थओं को धार्मिक तत्वों के वर्गीकरण का अधार बनाना भी संभव नहीं है। अगर ऐसा किया जायेगा तो निश्चय ही यह सूची बहुत ही अजीबोगरीब होगी।

इसके अलावा यह भी नहीं कह सकता है कि सभी धार्मिक कृत्य भावात्मक उत्तेजना के परिणाम होते है या सभी धार्मिक कार्य संकट की स्थितियों से संबंधित होते है। कई अवसरो पर कुछ विशिष्ट धार्मिक अनुष्ठानों में भावात्मक उथल पुथल की अभिव्यक्ति पूर्णतया अनिवार्य होती है। चाहें दुख का अनुभव हो रहा हो या न हो रहा हो। उदाहरण के लिये

कुछ समाजों में अंत्येष्टि के समय पेशेवर अफसोस करने वाला को बुला लिया जाता है जो विशेष ढंग से विलाप करते है। यह कहा जा सकता है कि हर संस्कृति समाज के सदस्यों पर काम करने के कुछ विशिष्ट तरीके आरोपित करती है। और समाज के सदस्य उसके अनुरूप आचरण करना सीख जाते है। इस प्रकार धार्मिक अनुष्ठान व्यक्ति के तर्क या भावना के परिणाम न होकर मूलतः समाज द्वारा बनाये जाते है। इसी बात को दखाईम ने जोर देकर कहा था। आस्ट्रेलिया के मूल निवासी समाज में टोटमवास की भूमिका की व्याख्या प्रस्तुत करते समय दखाईम के विचार विकासवादियों से पूर्णतः भिन्न दिखाई देते है। उसके द्वारा प्रस्तुत धर्म की व्याख्या ने धर्म का अध्ययन करने वालो को नई दृष्टि कोणो में धर्म के महत्व को समझा गया क्योंकि यह माना गया कि धर्म समाज में निरन्तरता और एकता बनाये रखने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। धर्म की प्रज्ञावादी और भाव प्रवणवादी व्याख्याओं में न उलझकर और केवल धर्म के उदभव और उसकी एक अवस्था तक विकास पर बल देकर इन सिद्धान्तों में धर्म के प्रकार्यात्मक पक्ष पर बल दिया गया।

विकासवाद का पुनरावलोकर तथा उसकी समीक्षा :–

उन्नीसवीं शताब्दी में धर्म की जो विकासवादी व्याख्या जोर शोर से प्रचलित हुई, वह प्रत्यक्षवाद, प्रज्ञावाद तथा धार्मिक भावनाओं के मिश्रण पर आधारित थी। धर्मो की प्रगतिवादी व्याख्या से उत्पन्न विकासवादी अवधारणायें अधिकतर अनुमानों पर आधारित थी। दूसरे शब्दों में उस समय समाज का और विशेष रूप से धर्म का इतिहास पर्याप्त ज्ञान सामग्री की बजाय अनुमानों के सहारे रचा गया।

धर्म के विकासवादी सिद्धान्तों में धर्म की व्याख्या व्यक्गित विचार प्रक्रियाओं अथवा मनोवैज्ञानिक धारणाओं के संदर्भ में की गई। विकासवादी सिद्धान्तों के विरोधियों को यह आधार मान्य नहीं था। उनका कहना था कि सामाजिक तथ्यों की व्याख्या प्राकृतिक अथवा व्यक्गित मनोवैज्ञानिक कारणों से नहीं बल्कि सामाजिक कारणों के आधार पर की जानी चाहिये।

विकासवादी विद्वान धर्म को इसलिये नहीं समझ पाये क्योंकि उन्होने पहले से ही धर्म को अज्ञान का प्रतीक तथा तर्कहीनता का वाहक मान लिया था। उन्होने आज के युग में रह रहे पूर्व आधुनिक अथवा आदिम समाजों का प्रेक्षण करके अथवा उनके बारे में एकत्रित

विवरणो को पढकर धर्म और समाज की उत्पत्ति की व्याख्या करनी चाही। ऐसा करने में एक अन्तनिर्हित पूर्णधारणा यह थी कि पश्चिमी और औद्योगिक समाज शेष समाजो से अधिक विकसित तथा अधिक सभ्य थें। विकासवाद के आलोचकों का मत था कि सार्विकीय सिद्धान्त विकसित करने के लिये हम इस पूर्व धारणा को बेअसर या प्रभावहीन करना होगा। इन आलोचकों ने आदिम समाजों के बारे में उटपटांग ढंग से इकठठे किये गये तथ्यों पर आपत्ति की और तथ्यों के वैज्ञानिक ढंग से संकलन को महत्व दिया। इस वैज्ञानिक संकलन के फलस्वरूप ही धर्म की प्रकार्यवादी व्याख्या को अधिक मान्यता मिली।

नृजातिशास्त्रियों तथा नृजाति विवरणशास्त्रियों द्वारा आदिम तथा अन्य समाजो के बारे में कडी मेहनत से एकत्र किये गये आकड़े किये जाने से पहले भी धर्म तथा अन्य विषयों को समझने के लिये प्रकार्य का विचार प्रयुक्त होता था। पूर्ववर्ती समाजशास्त्रियों ने राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक तथा नैतिक क्षेत्रों की गतिविधियों के बीच प्रकार्यात्मक संबंधों के बारे में लिखा था। उनकी मान्यता थी कि इनमें ये किसी एक क्षेत्र में परिवर्तन होने पर अन्य क्षेत्रों में भी उसी के अनुरूप परिवर्तन होने लगता है।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में इंग्लैण्ड में मलिनास्की और रैडक्लिफ ब्राउन तथा अमरीका से पार्सन्स और मर्टन के प्रयासों मे प्रकार्यवादी दृष्टिकोण को लोकप्रियता मिली तथा इस दृष्टिकोण ने धर्म के अध्ययन में महत्वपूर्ण योगदान किया। अधिकतर प्रकार्यवादियों ने धार्मिक आचरण की व्याख्या के लिये जिन अवधारणाओं का प्रयोग किया, वे अधिकाशंत दखाईम से ग्रहण की गई थी। यद्यपि दखाईम को प्रकार्यवादी नहीं माना जाता है। किन्तु दखाईम द्वारा धर्म के प्रारम्भिक रूपों के संबंध में किये गये शोध को प्रकार्यवादियों ने स्वय एकत्र किये गये तथ्यों के विश्लेषण का आधार बनाया।

टोटमवाद : धर्म का प्रारम्भिक रूप :–

दर्खाईम के अनुसार टोटमवाद केवल इसलिये धर्म का प्रारम्भिक रूप नहीं था कि ऐतिहासिक दृष्टि से वह धर्म से पहले अस्तित्व में आया। टोटमवाद संगठन की दृष्टि से सरल था। इसलिये उसे धर्म का प्रारम्भिक रूप माना गया। चूंकि किसी पूर्ववर्ती धर्म की विशेषताओं का उल्लेख किया बिना ही टोटमवाद को समझा समझाया जा सकता है, अतः यह एक मौलिक तत्व भी मौजूद था। दूसरे शब्दों में टोटमवाद की विशेषतायें अपने आप मे

बेजोड़ थी। यहां यह भी भूलना चाहिये कि दर्खाईम ने जीववाद और प्राकृतिवाद का खण्डन किया था। जीववाद और प्रकृतिवाद दोनो में यह माना जाता था कि प्रकृति के बारे में स्पष्ट रूप से न जानने के कारण ही धर्म की उत्पत्ति हुई। जबकि दर्खाईम का कहना है कि सभी धर्म उनके मानने वालो के लिये अपने अपने ढंग से सही है। वह इस धारणा को गलत मानता था कि धर्म का जन्म किसी प्रकार की गलती या भ्रम से हुआ। उसका प्रश्न था कि यदि ऐसा है तो धर्म इतना व्यापक और चिरस्थायी कैसे है ?

दर्खाईम को इस धारणा पर भी आपत्ति थी कि जीववाद केवल आदिम समाजों में पाया जाता हे। उसका कहना था कि जीववाद चीन तथा मिस्त्र जैसे समाजों में भी देखा गया है। दर्खाईम के अनुसार आदिम समुदाय के सदस्य बार बार होने वाली प्राकृतिक घटनाओं को सहज रूप में लेते थे तथा इनकी गतिविधियों में उनकी कोई विशेष रूचि नहीं होती थी। उसने जीववाद अथवा प्राकृतिक वस्तुओं की पूजा को धार्मिक आधार की गलत व्याख्या बताया। इस प्रकार विकासवाद विशेषकर प्राकृतिक तथा जीववाद के तर्को की आलोचना करते हुये दर्खाईम ने यह स्पष्ट किया कि टोटमवाद मे किस प्रकार पवित्र तथा लौलिक के बीच अंतर को उजागर किया जाता है।

पवित्र बनाम लौकिक :—

टोटम पर केंन्द्रित विश्वासों और कृत्यों की प्रणाली को टोटमवाद कहते है। प्रश्न उठता है कि टोटम क्या होता है ? अक्सर टोटम एक पशु या पक्षी हो सकता है या किसी प्रकार की वनस्पति या ऐसा पूर्वज जिससे समुदाय विशेष की उत्पत्ति हुई मानी जाती है। टोटम पवित्र होता है और इसे विशेष सम्मान दिया जाता है। समुचित विधि विधान अथवा अनुष्ठान के बिना टोटम से संपर्क करना असंभव है। टोटम जोकि पवित्र है से संपर्क करने के लिये व्यक्ति को आंतरिक एवं बाह्रय रूप से स्वंय को शुद्ध करना होता है। टोटम को सम्मान देने वाले धर्म में जीव अथवा वनस्पति की प्रत्यक्ष उसी रूप में पूजा नहीं होती। अपितु उस तत्व ही पूजा होती है जिसकी ये टोटम वाली चीजे प्रतीक है। टोटम सामूहिक रूप से कुल की अस्मिता के प्रतीक के रूप में काम करता है। कुल का टोटम ही उसके सदस्यों का टोटम होता है।

टोटम के पवित्र जगत के विपरीत लौकिक जगत होता है। लौकिक जगत में सभी मानव जन तथा वे सभी वस्तुयें सम्मिलित होती है। जो पवित्र टोटम से अलग है। मिथक परम्परागत कथायें, रूढियां और विश्वास आदि पवित्र टोटम, उसकी शक्ति गुणो तथा लौकिक जगत के साथ उसके सबंध को निरूपित करते है। पवित्र तथा लौकिक एक दूसरे से एकदम भिन्न है और उनकी विभाजन सीमा सीमा रूप से निर्धारित है। दर्खाईम के अनुसार लौकिक तथा पवित्र के बीच पूर्ण विभेद है। से दोनो जगत एक दूसरे से अलग ही नहीं परस्पर विरोधी भी है। दर्खाईम का मानना है कि पवित्र और लौकिक का इस प्रकार का विभाजन सभी धर्मो में विद्यमान है।

धर्म की प्रकार्य :—

हमने यह भी चर्चा की दर्खाईम ने टोटमवाद को धर्म का प्रारम्भिक रूप मानते हुये सिद्ध किया कि पवित्र और लौकिक का विभाजन किसी भी धर्म का केन्द्र बिन्दु है। लौकिक कुछ निश्चित अनुष्ठान करके ही पवित्र तक पहुंच सकता है। ये अनुष्ठानों विश्वासों से उपजते है। धार्मिक तत्वों का दो मूलभूत श्रेणियों विश्वास एवं अनुष्ठान में विभाजन वैसा ही है। जैसा सोचने में तथा करने में है। इस प्रकार चिंतन के आधार पर बोधपरक तथा करने के आधार पर सामाजिक प्रकार्यो के संदर्भ में धर्म की चर्चा की जा सकती है।

1. बोधपरक प्रकार्य :—

धर्म द्वारा प्रभावित विचार प्रक्रिया लोगो को उनकी परिस्थितियों के अनुरूप ढालने और जीने में मदद करती थी। धार्मिक आचरण करने वाला व्यक्ति श्रेष्ठ होता है। और उसमें संसार का सामना करने की दृढ़ शक्ति होती है। धर्म का का यह दृष्टिकोण दर्खाईम के इस तर्क के संदर्भ में समझना चाहिये कि धर्म इसलिये इतने लंबे समय तक टिका रहा है क्योंकि इससे कुछ आवश्यकतायें पूरी होती है। धर्म मनुष्य का एक विशेष प्रकार की समाजिक स्थिति पैदा करता हे।, जिससे यह अपने से ऊपर उठता है तथा श्रेष्ठ जीवन बिताता है।

धर्म को विज्ञान के विरोध में खड़ा करने के प्रयास की दर्खाईम ने कड़ी आलोचना की। उसकी दलील थी कि देशकाल, संख्या कारण इत्यादि। विज्ञान के मूलभूत तत्व व्यक्ति को धार्मिक खोज से पैदा होते है। दखाईम ने कहा ''दर्शन और विज्ञान धर्म से ही उत्पन्न

हुये क्योंकि दर्शन तथा विज्ञान के स्थान पर ही धर्म शुरू हुआ। देशकाल और संख्या वास्तव मे पवित्र के प्रति सामूहिक गतिविधियों के प्रवाह को व्यक्त करते है। देशकाल संख्या वर्ग आदि जिन तत्वों के माध्यम से संसार को समझा जाता है। ये तत्व आदिम समुदायों की पवित्र चीजों के प्रति उनकी सामूहिक गतिविधियों से ही विकसित हुये। इस स्थिति में इन तत्वों को सामूहिक प्रतिनिधित्व करने वाले तत्वों की तरह देखा जा सकता है। बोध या ज्ञान के स्तर पर ये पवित्र के प्रति सामूहिक प्रतिक्रिया में से पैदा होते है।

2. सामाजिक प्रकार्य :–

दर्खाईम के अनुसार सामूहिक प्रतिनिधित्व तभी होता है जब समुदाय में गहन सहयोग हो। सामूहिक प्रतिनिधित्व तभी उभरते है जब समूचा समुदाय पवित्र के प्रति अपनी प्रतिक्रिया के रूप में कुछ धार्मिक अनुष्ठान करने के लिये एकत्र होता हे। ये अनुष्ठान दो प्रकार के होते है। – सकारात्मक और नकारात्मक। अनुष्ठान में वे भी निषेध शामिल है, जिनका पालन सामूहिक भाव पैदा करने तथा पवित्र की पूजा करने के लिये किया जाता है। दूसरी ओर सकारात्मक अनुष्ठान व्यक्ति द्वारा पवित्र की ओर जाने तथा समाज में शामिल होने से पहले सावधानीपूर्वक की जाने वाली तैयारियों के प्रतीक है। उदाहरण के लिये सयाने होने पर कई समाजों में युवाओं का दीक्षा संस्कार होता है कि जो उनके वयस्क हो जाने को दिखाता है। दीक्षा संस्कार के कुछ अनुष्ठान बहुत कष्टपूर्ण होते है किन्तु कष्ट के माध्यम से ही व्यक्ति विशेष का स्थानान्तरण होता है। और एक सामाजिक दशा से दूसरी दशा में इस तरह लौकिक अवस्था से पवित्र अवस्था की ओर उसका गमन होता है।

पवित्र उसे कहते है प्रशंसनीय, सम्माननीय तथा पूज्यनीय हो। इस पवित्रता का सर्जक कौन है ? समाज की पवित्रता को जन्म देता है। और उसे लौकिक से अलग रखता है। दूसरे शब्दों में मनुष्यों किये जाने वाले कुछ अनुष्ठानो से ही देवताओं का निर्माण होता है। यही नहीं संभव है कि जो कुछ आज पवित्र माना जाता है, वह काल वैसा न रहे। यह भी तथ्य है कि आवश्यक सावधानियों के बिना यदि लौकिक से पवित्र की ओर जाने लगे तो पवित्र की अपनी गरिमा समाप्त हो जाती है।

वर्णन से स्पष्ट है कि पवित्र समाज द्वारा की गई चीज है। इस प्रकार पवित्र की पूजा करके समाज वास्तव में अपनी पूजा करता है। जब कोई समुदाय एक साथ सामूहिक

रूप से कुछ अनुष्ठानों को सम्पन्न करता है तो उसमें सामूहिकता का भाव विकसित होता है। इन सामूहिक भावो का प्रतीक होती है। – पवित्र वस्तु जिसे समाज अन्य वस्तुओं से पृथक मानता है। और पूजता है। अनुष्ठान से जुड़े कुछ विशिष्ट नियम तथा आदर्श समाज को दिशा देते है। और उसे नैतिक समुदाय में रूपांतरित करते है।

धर्म मुख्यतया सामाजिक है : अरूँता जनजाति का उदाहरण :–

अब हम धर्म के बोधपरक तथा सामाजिक प्रकार्यो की ऊपर दी गयी चर्चा की पुष्टि अरूता जनजाति के माध्यम से करेगें। अरूता मध्य आस्ट्रेलिया की एक जनजाति का मूलभूत अध्ययन स्पेंसर तथा गिलेन ने किया था। इन शोधकर्ताओं द्वारा तैयार किये गये नृजातीय विवरण के आधार पर दखाईम ने धर्म पर अपने मत की रचना की।

अरूता जनजाति कुलों में बंटी हुई है। एकता के सूत्र में बंधे हुये एक नाम वाले लोगो के समूह को कुल कहते है। अरूता जनजाति के कुलों में सदस्यता रक्त संबंधों पर आधारित नहीं होती है। अरूता जनजाति के कुलों का नाम है। उनके टोटम के नाम पर होता है। कुल के साथ साथ उसके सदस्यों के नाम से भी कुल के टोटम का नाम जुडा रहता है। टोटम एक प्रतीक चिन्ह है। जो समूह या व्यक्ति विशेष की पहचान बताने में सहायक होता है। एक जनजाति के दो कुलों का एक टोटम चिन्ह होना अंसभव है। अनुष्ठान तथा अन्य धार्मिक समारोहो में टोटम का इस्तेमाल किया जाता है। टोटम के सभी गुणो में सबसे प्रमुख इसका धार्मिक स्वरूप है। टोटम एक पवित्र वस्तु है।

लकड़ी के टुकड़ों तथा पालिश किये गये पत्थरों पर टोटम का चिन्ह उत्कीर्ण किया जाता है। जिस लकडी के टुकडे या पत्थर पर टोटम उकेरा जाता है। वह भी पवित्र बन जाता है। उसे चुरिंगा कहा जाता है। चुरिंगा से धार्मिक भाव उत्पन्न होते है। महिलाओं और गैर दीक्षित युवकों के लिये चुरिंगा को निकट से देखने की मनाही है। जिस स्थान पर चुरिंगा को रखा जाता है। वह एर्तनातुलुंगा कहलाता है। एर्तनातुलुंगा पवित्र स्थान माना जाता है। यह टोटम विशेष को मनाने वाले समूह का शरण स्थल होता है। यह शांति स्थल माना जाता है। यदि कोई शत्रु भी एर्तनातुलुंगा में शरण मांगे तो उसे शरण प्रदान की जाती है। चुरिंगा से जख्म ठीक किये जाते है। यह बीमारियों का भी इलाज करता है। इसकी पूजा से टोटम चिन्ह वाले जीव विशेष की संख्या में अभिवृद्धि होती है। यह शत्रुओं को दुर्बल बनाता है।

अनुष्ठान करने वालो को चुरिगा से शक्ति प्राप्त होती है। चुरिगा इसलिये पवित्र होता है। क्योंकि उस पर टोटम की आकृति उत्कीर्ण होती है। दूसरे शब्दो में चुरिगा पूर्वज का शरीर तथा आत्मा है। टोटम को चित्रित करने वाली वस्तु मूर्त रूप में उसे बनाने वालो तथा उसमें विश्वास करने वालों की पहचान व उनकी समूह सदस्यता का द्योतक होती है। इस तरह टोटम एक प्रतीक है। वह किसी और तत्व का प्रतिनिधित्व करता है।

सामाजिक निरन्तरता एवं एकता के लिये धर्म के प्रकार्य :–

ए.आर. रैडक्लिफ ब्राउन ने दखाईम की टोटमवाद की अवधारणा को धर्म का बोधशील रूप देने का प्रयास किया। रैडक्लिफ ब्राउन ने अपने लेख, टोटमवाद का समाजशास्त्र सिद्धान्त में यह दिखाया कि टोटमवाद मानव समाज में प्रचलित एक सार्वत्रिक नियम का एक विशेष रूप है। सार्वत्रिक नियम यह है कि समाज के भौतिक तथा पराभौतिक कल्याण से जुडी कोई भी वस्तु धार्मिक व्यहार का पात्र. है। उदाहरण के लिये जो लोग दूध के उत्पादों पर निर्भर है उनका दुधारू पशुओ के प्रति अनुष्ठानपरक व्यवहार होता है। रैडक्लिफ ब्राउन ने धर्म की उत्पत्ति की मनौवैज्ञानिक आधार पर की गई व्याख्याओं से सहमत नही था। इवन्स प्रिचर्ड ने रैडक्लिफ ब्राउन के इस दृष्टिकोण की आलोचना की। इवन्स प्रिचर्ड का तर्क था कि अंडमान निकोबार द्वीपसमूह के निवासियों में नृत्य के अवसरों का उल्लेख करते हुये रैडक्लिफ ब्राउन एवं क्रियाओं के संदर्भ में की है। इस उदाहरण के आधार पर रैडक्लिफ ब्राउन ने मोटे तौर पर यह निष्कर्ष निकाला कि अनुष्ठानपरक दृष्टिकोण सामाजिक एकता तथा मेलजोल बढाता है। इवन्स प्रिचर्ड ने किसी एक उदाहरण के आधार पर सामान्य निष्कर्ष निकालने की इस प्रवृत्ति पर आपत्ति की। उसने इसके विपरीत मध्य अमरीका का एक उदाहरण दिया, जहां नृत्यों के कारण अक्सर लडाई झगडा तथा अशांति पैदा होते है। रैडक्लिफ ब्राउन का एक तर्क यह था कि धर्म समाज को एकजुट बनाये रखने के लिये काम करता है और धर्म के रूपों में भिन्नता समाज के प्रकारों के अनुरूप होती है। उदाहरण के लिये जिन समाजों में वशं परम्परा चलती है, उनमें पूर्वज पूजा का प्रचलन पाया जाता है। इवन्स प्रिचर्ड ने रैडक्लिफ ब्राउन के इस दृष्टिकोण को भी गलत सिद्ध करते हुये तर्क दिया कि कुछ अफ्रीकी समुदायो में वशं परम्परा न होते हुये भी उनके बीच पितरों की पूजा का रिवाज है।

इवन्स प्रिचर्ड ने रैडक्लिफ ब्राउन के प्रकार्यवादी दृष्टिकोण की जिन आधार पर आलोचना की, वे इस प्रकार है :–

1. रैडक्लिफ ब्राउन द्वारा प्रस्तुत की गई समाजशास्त्रीय व्याख्याओं में नकारात्मक प्रमाणों को ध्यान में नहीं रखा गया।

2. रैडक्लिफ ब्राउन के सामान्य निष्कर्ष एकदम अस्पष्ट है। उनका वैज्ञानिक महत्व कम है क्योंकि उन्हे न तो प्रमाणित किया जा सकता है और न ही उनका खंडन संभव है।

इवन्स प्रिचर्ड ने धर्म के प्रकार्यात्मक सिद्धान्तों की आलोचना की। उसने कहा कि हमें इन संभावनाओं पर भी सोचना चाहिये कि केवल विशेष प्रकार के समाजों में विशेष प्रकार की धार्मिक प्रणालियां पाई जा सकती है। इस तरह के विचार को लेवी ब्रूल ने प्रस्तुत किया था और बाद में इवन्स प्रिचर्ड ने इसको आगे बढाते हुये धर्म के समाजशास्त्रीय अध्ययन में कुछ नये विचार जोडे। लेवी ब्रूल तथा इवन्स प्रिचर्ड के विचारों का विवेचन इकाई 4 में किया जायेगा। यहां हमने भारतीय विद्वान एम.एन. श्रीनिवास के एक अध्ययन की चर्चा की। श्रीनिवास रैडक्लिफ ब्राउन के छात्र तथा सहकर्मी थे और इस नाते उन्होने धर्म के अपने अध्ययन में रैडक्लिफ ब्राउन की अनुष्ठान की अवधारणा के माध्यम से दखाईम के विचारों का इस्तेमाल किया। कुर्ग धर्म के अपने अध्ययन में श्रीनिवास ने धर्म की प्रकार्यवादी व्याख्या प्रस्तुत की है।

निष्कर्ष :–

उपरोक्त विवेचन में विभिन्न विद्वानों एवं धर्मशास्त्रों के विचारों की व्याख्या प्रस्तुत की गयी जिससे यह स्पष्ट होता है कि कर्म धर्म का एक अंग है । किन्तु सात्विक कर्म ही धर्म के अंग है । यह धारणा भी भ्रान्त है । वास्तव मे "कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि" एक उच्च्य सिद्धान्त है । जैसे जीव के ऊपर दया करना धर्म है, जैसे परमार्थ पथ पर मनुष्य अपने प्राणों तक की आहुति दे देता है, इसे वह अपना धर्म मानता है, उसी प्रकार देश, जाति, और राष्ट्र की रक्षा के लिये आपत्ति काल मे लड़ना ही धर्म है । जिसमें मनुष्य का अपना स्वार्थ नही वह धर्म है । चाहे वह कार्य छोटा हो या बड़ा उच्च्य और श्रेष्ठ धर्म यह है कि हम ईश्वरार्पण बुद्धि से निस्स्वार्थ होकर मानव समाज के लिये कर्तव्य पालन करते रहें । इस प्रकार हमारे सभी कार्य धार्मिक होने चाहिये । हमारा समग्र जीवन धर्म है और धर्म को ही जीवन बना लेना चाहिये।

अर्थात जो कुछ हम करते है, इन सभी क्रियाओं के करने में पहले मन की वासना और आसक्ति को त्याग कर कर्म के त्रोत से जो कुछ भी मिल जाय उसको ईश्वरार्पण बुद्धि से भोग करते रहना ही धर्म है । हमारे धर्म का यह प्रिय आचरण कर्तव्य क्षेत्र में श्रेष्ठ है । धर्म त्याग अत्यन्त क्षुद्र वस्तु है । वासना का त्याग ही सच्चा त्याग है । सभी लिप्साओं का त्याग कर निर्लिप्त रहना ही सच्चा त्याग है । हमारे ज्ञान और शिक्षा विकृत और अस्वभाविक अवस्था को प्राप्त कर चुके है । हम इस भ्रान्त धारणा को ही पोषित करते है कि सन्यास, भक्ति और सात्विक भावों के सिवाय और कुछ भी धर्म नही किन्तु संकीर्ण धारणा का प्राबल्य उपनिषदों मे नही है । हमारे धर्म की धाराओं को त्रोत वेदों से प्रवाहित हुआ । उपनिषद काल मे उसने अपना एक व्यापक स्वरूप धारण किया । औपनिषदिक धर्म के सिद्धान्तो पर हमारा धर्म चिरन्जीवी हो जाता है । कर्तव्य और आचरण (रिलीजन एण्ड मॉरैलिटी) दोनो का ही धर्म में समावेश हो जाता है । इन्ही दो आदर्शो पर हमारा धर्म खड़ा है । वस्तुतः मनुष्य को इन दोनो सिद्धान्तो पर ही चलकर उद्देश्य प्राप्त करना पड़ता है । धर्म मनुष्य का अन्याय से बचाता है तो शुद्ध आचरण उसे उन्नति के शिखर पर ले जाता है हमारे धर्माचरण और उद्देश्य के द्वन्दों में सामंजस्य स्थापित करने का आदेश बराबर दिया गया है । हमारा धर्म ही एक ऐसा व्यापक धर्म है जिसके पालन करने से मनुष्य अपना तथा जग का कल्याण कर सकता है । हमारे धर्म की शिक्षा है कि सारा जीवन धर्म है, सारा विश्वधर्म है, जो कर्म हम करते है वे सब धर्म के अन्तर्गत आ जाते हैं । ऐसी शिक्षा हमारे धर्म ग्रन्थों में सनातन काल से प्रवाहित हो रही है, एषः धर्म सनातनः।
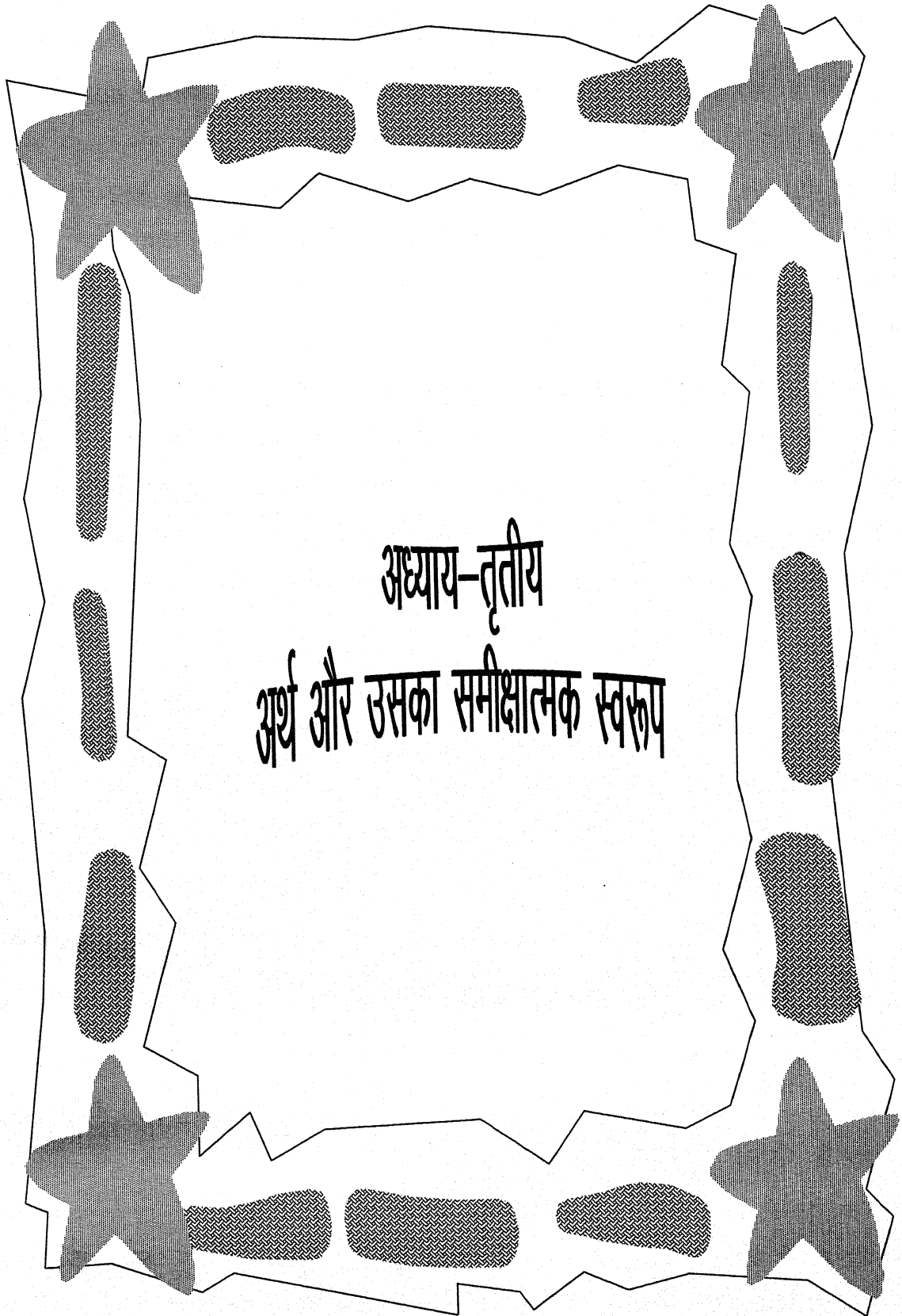
अध्याय–तृतीय

अर्थ और उसका समीक्षात्मक स्वरूप

अर्थ और उसका समीक्षात्मक स्वरूप

प्रस्तुत अध्याय में पुरूषार्थ के द्वितीय चरण के रूप में अर्थ की व्याख्या की गयी है। इसमें बताया गया है कि अर्थ का क्या महत्व है इसके अभाव मे मानव जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है। इसमें इस बात की ओर ध्यान दिया गया है कि मानव को धर्म के अधीन रहकर ही धन का उपार्जन करना चाहिये । हिन्दू विचारकों ने मानव की प्राप्त करने की सहज प्रवृत्ति को एक आकांक्षा के रूप में स्वीकार कर अर्थ को पुरूषार्थ सिद्धान्त में महत्व दिया है । अर्थ का तात्पर्य केवल धन अथवा सम्पत्ति से नही है बल्कि उन साधनों से है जिनकी सहायता से हम आपकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते एवं अपने अस्तित्व को बनाये रखते है । यहां अर्थ को साध्य न मानकर एक साधन मात्र माना गया है । सभी पुरूषार्थो मे अर्थ का महत्वपूण स्थान है, क्योंकि काम और धर्म की पूर्ति के लिये भी अर्थ की आवश्यकता होती है । इसलिये अर्थ की महत्ता का उल्लेख करते हुये महाभारत में लिखा गया है कि "धर्म का पूर्ण रूप से पालन बहुत कुछ अर्थ पर निर्भर करता है "" कौटिल्य ने भी अर्थ की महत्ता के विषय मे लिखा है कि "अर्थ महत्वपूर्ण है क्योंकि दान एवं अभिलाषाऐं अपनी सिद्धि के लिये अर्थ पर निर्भर है ।"

भारतीय जीवन दर्शन मे भौतिक समृद्धता को एक लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया गया है । अर्थ को पुरूषार्थ के अन्तर्गत द्वितीय स्थान देकर भारतीय ऋषियों और मुनियों ने भौतिक सुख सुविधाओं को जीवन में उपेक्षित नही माना है, वरन् ऐहिक (सांसारिक) सुखों को भी जीवन में महत्वपूर्ण स्थान दिया है ।

अर्थ की परिभाषाएं :—

1. के0 एम0 कपाड़िया के अनुसार — "अर्थ मानव के प्राप्त करने के सहज स्वभाव की ओर संकेत करता है तथा उसकी धन के संग्रह, उपभोग व अन्य तत्सम्बंधी प्रवृत्तियों को बतलाता है ।"

2. श्री जिम्मर के अनुसार — "इस अर्थ के अन्तर्गत उन सब भौतिक वस्तुओं की सम्पूर्ण श्रृंखला को सम्मिलित किया जाता है, जिन पर अधिकार किया जा सकता है, जिनका आनन्द लिया जा सकता है और जिन्हे खोया जा सकता है और जिनकी आवश्यकता दैनिक जीवन मे गृह प्रबंध व भरण पोषण के लिये, परिवार की समृद्धि के लिये और धार्मिक कृत्यों के निभाने के लिये अर्थात विभिन्न उत्तरदायित्वों को पूर्ण करने के लिये होती है ।"

3. श्री के0 एन0 प्रभु के अनुसार – "अर्थ का तात्पर्य उन सभी उपकरणों या भौतिक साधनों से है जो सांसारिक समृद्धि प्राप्त करने के लिये आवश्यक है ।"

4. डा0 एल0 एस0 गोपाल के अनुसार – "अर्थ शब्द धन समपत्ति या मुद्रा का पर्यायवाची नही है । यह भौतिक सुखों की सभी आवश्यताओं एवं साधनों की ओर संकेत करता है । अर्थ मनुष्य की शक्ति तथा ऐश्वर्य प्राप्त करने की इच्छा के लिये उपर्युक्त होता है ।"

वैदिक साहित्य के आधार पर गोख़ले ने अपनी पुस्तक "इण्डियन थॉट थ्रू द एजस" मे बताया गया है कि "अर्थ के अन्तर्गत वे सभी भौतिक वस्तुएं आ जाती है जो परिवार बसाने, गृहस्थी चलाने एवं विभिन्न धार्मिक दायित्वों को निभाने के लिये आवश्यक है । इसमे पशु, भोजन, मकान तथा धन–धान्य आदि को सम्मिलित किया गया है ।" ऋग्वेद ने आर्यो ने इन्द्र तथा सोम देवताओं से प्रार्थना की है कि हमारे धन मे वृद्धि हो, विविध प्रकार के भौतिक पदार्थ हमे प्राप्त हो तथा हम स्थायी समृद्धि के स्वामी हो । यहां अर्थ पुरूषार्थ का प्रयोग समृद्धि और शक्ति प्राप्त करने के रूप में किया गया है । इस प्रकार कहा जा सकता है कि अर्थ उन सभी भौतिक पदार्थो एवं साधनों की प्राप्ति से सम्बंधित है जिनके द्वारा मनुष्य अपना तथा परिवार का भरण पोषण करता है तथा मानव मात्र ही नही बल्कि प्राणी मात्र के प्रति अपने दायित्वों को निभाता है ।

भारतीय जीवन दर्शन मे भौतिक समृद्धता को एक लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया गया है । अर्थ के महत्व के सम्बंध में महाभारत में कहा गया है कि धर्म का पालन पूर्णतः अर्थ पर आधारित है तथा जिसके पास अर्थ नही है वह अपने दायित्वों को ठीक से नही निभा सकता"। कौटिल्य का मत है कि सभी प्रकार के दान एवं इच्छा–पूर्ति अर्थ पर ही आश्रित नही हैं । निर्धनता को एक पापपूर्ण स्थिति माना गया है, धन के अभाव मे मनुष्य धार्मिक कार्यो का सम्पादन नहीं कर सकता एवं पंच महायज्ञों को सम्पन्न कर पांच प्रकार के ऋणों से मुक्त नही हो सकता । पंचतंत्र मे बताया गया है कि दरिद्रता एक अभिशाप है जो मृत्यु से भी बढ़कर है । धन के अभाव को प्रत्येक बुराई की जड़ माना गया है । अतः मानव जीवन मे अर्थ का काफी महत्व है । इसके बिना व्यक्ति नतो भली–भांति अपने बालकों का भरण पोषण कर सकता और न ही पूरी तरह परिवार के लिये सुख सुविधाऐं जुटा सकता है, न यज्ञ, दान–दक्षिणा एवं अतिथियों का सत्कार कर सकता है । यही कारण है कि उद्यम

द्वारा ग्रहस्थ आश्रम में अर्थ को अर्जित करने पर जोर दिया गया है । महाभारत एवं स्मृतियों में तो यहां तक कहा गया है कि जो व्यक्ति गृहस्थ आश्रम मे अर्थ के पुरूषार्थ को प्राप्त किये बिना वानप्रस्थ व सन्यास आश्रम में प्रवेश कर लेता है उसे जीवन मे मोक्ष की प्राप्ति नही होती है ।

अर्थ का मानव जीवन में महत्व :–

भारतीय धार्मिक एवं सामान्य ग्रन्थों में अर्थ के महत्व की व्याख्या की गयी है । अर्थ का महत्व निम्नलिखित बातों से स्पष्ट होता है –

1. अर्थ जीवन जीने के लिये अत्यन्त आवश्यक है । इसके अभाव में व्यक्ति और किसी कर्तव्य को पूर्ण किये ही मृत्यु को प्राप्त होता है ।
2. अर्थ से ही जीवन के भौतिक सुखों की उपलब्धि होती है ।
3. अर्थ के द्वारा ही मानव आध्यात्मिक एवं धार्मिक अनुष्ठानों के लिये वस्तुओं को एकत्रित करता है इसके अभाव मे न तो यज्ञ हो सकता है न ही अतिथि सत्कार । साधु सन्यासी को दान दक्षिणा भी नहीं दी जा सकती है और न किसी प्रकार का धार्मिक कार्य ही सम्पन्न हो सकता है ।
4. अर्थ से ही व्यक्ति की जीवन – शक्ति तथा योग्यता बढ़ती है ।
5. अर्थ का अभाव अनेक दुर्गुण एवं बुराईयों को जन्म देता है । व्यक्ति इसके अभाव मे चोरी से लेकर हत्या तक करता है ।
6. अर्थ को ईमानदारी से अर्जित करें और धार्मिक कार्यो में ही व्यय करें तभी स्वर्ग की प्राप्ति होती है ।
7. धन के अभाव में मानव गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करके पंच ऋणों से मुक्ति के लिये पंचमहायज्ञ नहीं कर सकता है ।
8. धन से ही मानव युद्ध करता है और विजय प्राप्त करता है ।
9. मानव धन से ही कृषि कार्य सम्पन्न करता है ।

समाज में व्याप्त विषमता –

एक ओर तो वे लोग है जो आकाश को चूमने वाले राजमहलों जैसे विशाल भवनों में रहते है और दूसरी और वे लोग है जिन्हे सिर छिपाने के लिये फूंस की झोपड़ी भी उपलब्ध नहीं होती। एक और तो वे लोग है जिनके घर के प्रत्येक द्वारा पर एक एक मोटर गाड़ी है।

प्रत्येक कमरे में टेलीफोन लगा है, प्रत्येक कमरे में वीडियो रखा है, प्रत्येक कमरा मखमल के गद्दो से सुसज्जित है। वें स्प्रिंगदार पलंगों पर साईबेंरिया के पक्षियों की कोमल पंखों से भरे हुये रेशमी गदैलो और रजाईयों में सोते है। दूसरी ओर वे लोग है जो आयु भर पैदल यात्रा करते है जिसकी झोपड़ियो में गोबर एवं मिट्टी का पोचा भी मुश्किल से लगता है, जिन्हे पैर फेलाने को टूटी चार चारपाई भी नहीं मिल पाती, जो जीवन भर भूमि पर ही सोते है, जिन्हे रात को सर्दी के बचाव के लिये फटी गुदड़ी भी शायद ही मिल पाती है। एक और तो वे लोग है जिनके ट्रको के ट्रक कीमती से कीमती वस्त्रो से भरे रहते है, जिनके रात को सोने के समय के वस्त्र अलग, प्रातः उठकर चायपान करने के वस्त्र अलग, दोपहर के भोजन करने के वस्त्र अलग, रात को भोजन पर बैठने के वस्त्र अलग, दफ्तर में पहिनकर जाने के वस्त्र अलग रहते है। खेल में जाने के वस्त्र अलग, आये गये लोगो से मिलने के वस्त्र अलग अलग होते है। वस्त्र पहनते समय दोनो बाहों में वस्त्र पहनाने वाले नौकर भी अलग अलग होते है। दूसरी ओर वे लोग है जिनको ऋतुओं की कठोरता से तन के लिये अपनी लज्जा को ढकने के लिये फटे पुराने कपड़े भी पूरी तरह नही जुड़ पाते। एक ओर तो वे लोग है जो सोने चांदी के बर्तनों में भोजन करते है और दूसरे वे लोग है जिन्हे यदि मिट्टी का बर्तन भी मिल जाये तो अपना बड़ा भाग्य समझते है। एक ओर तो वे लोग है जो दिन मे पांच पाच बार राजसी भोजन करते है और इतना खाते है कि उन्हे सदा अजीण रहता है और दूसरी ओर वे लोग है जो भुने हुये चबाने के लिये भी तरसते है, जिन्हे आयु भर भी कभी पूरा पेट भरकर भोजन मिल नहीं होता , और जिन्हे यह पता ही नहीं कि पेट भर तृप्त होकर भोजन करने का आनन्द क्या होता है, जो इन धनियो की फेंकी हुई झूठी पत्तलों पर कुत्ते, बिल्लियों, कौंवो की तरह झपटने के लिये तैयार रहते है। एक और तो वे लोग है जो कुत्ते–बिल्लियों को पालकर उन्हे अपनी गोद में बिठाकर दूध पिलाते और बढ़िया माल खिलाते है और दूसरी ओर वे लोग है जो अपने बच्चों को दूध के नाम पर आटा–घुला पानी भी पीने को नहीं दे सकते है।

एक ओर तो वे लोग हे तो चाय पार्टियों की तरह पैसा बहाते है और दूसरी ओर वे लोग है जिन्हें दैनिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये भी कही से दो पैसे नहीं जुटा पाते। एक ओर वे लोग है जिनके लाखों करोड़ो के कारखाने खड़े है, दूसरी ओर वे लोग हे जो टूटी दुकान भी नहीं चला सकते और जिन्हे टोकरी ढोने की भी मजदूरी नहीं मिल पाती। एक और तो वे लोग है जो एक इंच भूमि को भी अपना नहीं कह सकते। एक और तो वे

लोग है जो सम्पत्ति में लोटते रहते है और दूसरी ओर वे लोग है जो परले सिरे की गरीबी से दबे रहते है। यह है आज के समाज का भीषण विषमता का नग्न चित्र।

दोनो वर्गो की संख्या महदन्तर –

धनवैभव के समुद्र में तैरने वाले लोगो की संख्या कोई बहुत अधिक हो और गरीबी से दबे लोगो की बहुत थोड़ी ही सी बात नहीं है। धरती का दुर्भाग्य यह है कि इन वैभवशाली लोगो की संख्या तुलना मे बहुत थोड़ी है और गरीबी तथा भूखे नंगेपन का जीवन बिताने वाले लोगो की संख्या बहुत अधिक है। फिर सोचनीय अवस्था यह है कि समृद्धि और सम्पत्ति के स्वामी इन अल्पसंख्यक लोगो की दुकाने, कन्म्पनिया और कारखाने और जमीदारियें चलती है। इनमें काम करने वाले बहुसंख्यक गरीब नौकरों और मजदूरों के बल पर। दुकानों, कम्पनियों, कारखानों और जमीदारियो के मालिक पूंजीपति लोग अपने यहां काम करने वाले नौकरों और मजदूरों को उन की मेहनत के बदले मे कम से कम वेतन और मजदूरी देने का प्रयत्न करते है। बहुत बार तो वेतन इतना कम और मजदूरी इतनी थोड़ी रहती है कि सेवको और मजदूरों को अपने शरीर और आत्मा के संयोग को स्थिर रखना भी कठिन हो जाता है। यह कहा जा सकता है कि ये धनपति लोग अपने नौकरों का खून चूसकर अपना वैभव खड़ा करते है।

जीवन चाहे गरीबी में ही बिताना पड़ता हो, पर नौकरों और मजदूरों को करने के लिये कोई काम और रूखा सूखा खाने के लिये कुछ पैसे तो मिल जाते है। समाज की व्यवस्था तो इतनी बिगड़ी हुई है कि लाखों बेचारे ऐसे है जिन्हे करने को कुछ काम नहीं मिलता। दर दर भटकने पर भी कोई काम नही खोज पाते। इन लोगो को बेरोजगारी से होने वाले जो कष्ट और विपत्तिया सहनी पडती है उनकी कल्पना मात्र से ही रोंगटे खडे हो जाते है।

पतनकारी समाज–व्यवस्था –

समाज की वर्तमान व्यवस्था की यह भंयकर बुराई तो है ही कि उसमें लाखों और करोडो लोगो को घोर गरीबी में रहना पडता है और गरीबी के वर्णनातीत कष्ट भोगने पडते है। उसकी एक घोर बुराई यह है कि गरीबी से तंग आकर हजारों व्यक्ति सच्चाई और धर्म का रास्ता छोड देते है। वे जीवन यापन करने के लिये अधर्म का मार्ग अपनाकर दूसरों को लूटना और ठगना आरम्भ कर देते है। हजारों आदमी ठग, लुटेरे, जेबकतरे, चोर और डाकू

बन जाते है। इतना ही नही अनेक बार दूसरों का धन छीनने के लिये उनकी हत्या तक कर डालते है। ऐसे ही लोग नृशंस और पैशाचिक वृत्ति के बन जाते है। साधारण आमदनी वाले दूसरे अनेक लोग भी अधर्म और अन्याय का अवलम्बन कर इसी प्रकार क कार्यो को न केवल गरीब ही बनाये रखती है अपितु उनहे असत्य, अन्याय और अधर्म पर चलने के बाधित कर राक्षस प्रकृति का भी बना देती है। आज की समाज व्यवस्था मनुष्य को एक ओर शारीरिक दृष्टि से दुख में रखती है और दूसरी ओर आत्मिक दृष्टि से पतन के गहरे गड्ढे में गिरा देती है।

धनपितयों के लिये भी पतनकारी –

आज की इस समाज व्यवस्था में निर्धन और गरीब लोग ही आत्मिक रूप से पतित हो से बात नही। इस व्यवस्था में तो धनपति लोग भी आत्मिक दृष्टि से निरन्तर पतित होते रहते है। वे अपने नौकरों और श्रमिकों के साथ अन्याय करते है। उनकी आवश्यकताओं को ध्यान नहीं रखते, उनकी उपयोगिता और परिश्रम का जो अनुपात है उसका भी ध्यान कर उनको बहुत कम पारिश्रमिक देते है। वे उनकी योग्यता और परिश्रम का शोषण करते है। इस प्रकार वे भी अधर्म और अन्याय पर चल पडते है और अपनी आत्मा को पतित बनाते है। इतना ही नहीं ये धनपति लोग अपने धन को बढ़ाने के लिये वस्तुओं के मूल्य लागत के अनुपात से बहुत अधिक रखना, वस्तुओं को कम तोलना, ग्राहक को यथा सम्भव रद्दी से रद्दी वस्तु अपने स्टाक से देना, चोर बाजारी करना इत्यादि अन्याय और अधर्म के काम भी करते रहते है। ये लोग जरूरतमन्द और निर्धन लोगो को ऋण भी देते है। उस ऋण पर बहुत ब्याज लेते है। अनपढ़ किसानों और निम्न स्थिति के लोगो को तो यह लोग ऋण देकर उन लोगो का रक्त ही पी लेते है। एक बार लिया गया ऋण कभी चुक ही नहीं पाता।

धन–लिप्सा के दुष्परिणाम –

जब समाज में धन की महत्ता बेहद बढ़ जाती है जब मनुष्य के लिये धन ही सब कुछ हो जाता है जब सुख–आराम, मान–प्रतिष्ठा और शासन की शक्ति सब कुछ धन से ही प्राप्त होने लगता है और इस प्रकार जब समाज को धन को देवता मानकर उसकी उपासना करने वाला पूंजीवाद–समाज बन जाता है, तब लोगो में धन का यह सीमातीत लोभ दुकानदारों, कम्पनी वालों, कारखाने वालों और जमींदारों को ऐसा क्रूर बना देता है कि अपने

नौकरों और श्रमिको पर, राज्याधिकारियों द्वारा अपनी प्रजा पर तथा राष्ट्रों की प्रजा पर ऐसे ऐसे घोर अन्याय और नृशंस अत्याचार करवाता है कि सुनने वाले की आत्मा कांप उठती है।

वादी व्यवस्था का व्यापक प्रभाव –

धन पर आधारित, धन को ही सब कुछ समझने वाली धन की पूजा करने वाली यह पूंजीवादी समाज व्यवस्था आज संसार के सभी देशो में चल रही है। रूस जैसे कुछ थोड़े से राष्ट्रो को छोड़कर धरती के सभी राष्ट्रो की समाज व्यवस्था पूंजीवादी समाज व्यवस्था के कारण सभी राष्ट्रो की जनता के एक बहुत बड़े भाग को अभाव और गरीबी का दुख और कष्टों का जीवन व्यतीत करना पड़ता है।

पूंजीवादी व्यवस्था को बदलना होगा–

यदि धरती के मानव ने इन अन्याय और अत्याचारों से तथा इन दुखों और कष्टो से छुटकारा पाना है तो समाज की इस पूंजीवादी व्यवस्था को बदलना होगा, और उसके स्थान पर कोई दूसरी व्यवस्था लानी होगी समाज का संघटन किसी दूसरे नये आधार पर करना होगा।

साम्यवाद (कम्युनिज्म)

इस युग में जर्मनी के महान विचारक कार्लमार्क्स ने पूंजीवादी समाज व्यवस्था की बुराईयों को अनुभव किया और उसके विरूद्ध आवाज उठाई। यूरोप के अनेक विचारक कार्लमार्क्स के अनुयायी बन गये। रूस का महान नेता लेनिन भी कार्लमार्क्स का अनुयायी बन गया। लेनिन के नेतृत्व में रूस के कम्युनिस्ट लोगो ने सन् 1917 के अब्टूबर की क्रांति द्वारा पूंजीवाद की प्रतीक और जनता पर मनमाना अत्याचार करने वाले जारशाही को भी दफना दिया और समाज की पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था को भी अपने देश से उखाड़ फेंका। कार्लमार्क्स के अनुयायी रूस के साम्यवादी (कम्युनिस्ट) लोग पूंजीवाद की बुराई का प्रतिकार एकमात्र साम्यवादी समाज व्यवस्था पूंजीवादी व्यवस्था से बेहतर है परन्तु उसे सर्वथा निर्दोष नहीं कहा जा सकता।

भूखा न मरे –

साम्यवाद कहता है कि अभाव और गरीबी के कारण किसी को कष्ट नहीं मिलना चाहिये। धन के अभाव से कोई भूखा नंगा नहीं रहना चाहिये। सब को भलीभांति खाने पीने

और पहनने को मिलना चाहिये। यह बात सही है। वर्णाश्रम पद्धति भी यह कहती है वेद कहता है कि "निश्चय ही परमात्मा ने भूख को मृत्यु का साधन नहीं बनाया है:" वेद की सम्मति में प्रजा के किसी भी आदमी को भूख का कष्ट नहीं होना चाहिये। सब को यथेष्ट खाने को मिलना चाहिये। भूख को उपलक्षण मात्र संकेत है। अन्न हमारे जीवन की प्रधान आवश्यकताओं में से एक है। अन्न की भांति हमारे जीवन सब प्रधान आवश्यकतायें भी भली भांति पूरी हो सकनी चाहिये।

पांच आलम्बन पदार्थ –

जीवन की प्रधान आवश्यकतायें पांच है। 1. खाने के लिये पौष्टिक अन्न, 2. पहिनने के लिये वस्त्र जिनसे ऋतुओं की कठोरता से शरीर की रक्षा हो सके, 3. रहने के लिये स्वच्छ हवादार और रोशनीदार मकान जिनमें परिवार के सभी सदस्य आराम से रह सके, 4. रोगी होने पर उत्तम से चिकित्सा का प्रबन्ध, 5. बालको की ऊंची शिक्षा का प्रबन्ध। ये पांचों चीजें मनुष्य जीवन के लिये उत्तम आवश्यक है। इनके बिना मनुष्य न सुख से जी सकते है और न किसी प्रकार की उन्नति ही कर सकते है। ये पांचो मनुष्य जीवन के "आलम्बन पदार्थ" है। इन पांचों पर मनुष्य का जीवन, सुख और उसकी उन्नति अवलम्बित है। ये पाचों आलम्बन पदार्थ राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को मिलने चाहिये और इस रूप में मिलने चाहिये कि उनसे व्यक्ति की आवश्यकता अच्छी तरह पूरी हो सके। ऐसा वेद का स्पष्ट आदेश है। वेद में स्थान स्थान पर प्रजानन परमात्मा और अपने राजा से इनकी प्राप्ति के लिये प्रार्थना करते है। वेद में राजा का यह कर्तव्य बताया गया है कि वह अपनी प्रजाओं को इन पांचों पदार्थो की प्राप्ति कराये। इस प्रकार के वर्णनों से वेद भरे पडे है। यदि किसी राष्ट्र के लोगो को ये पांचो पदार्थ प्राप्त नहीं होते है तो निश्चय ही उस राष्ट्र की समाज व्यवस्था और राज्य व्यवस्था दूषित है। आज जो संसार के सब लोगो को ये पांचो पदार्थ भली भांति प्राप्त नहीं होते उसका कारण आज की पूंजीवादी व्यवस्था है। आज का समाज और राज्य पूंजीवादी पर खड़ा है और उसके कारण अधिकांश लोगो को ये पांचो पदार्थ आवश्यकतानुसार प्राप्त नहीं होते।

अनुबन्ध पदार्थ –

जीवन के लिये आवश्यक इन पांच आलम्बन पदार्थो के अतिरिक्त मनुष्य की कुछ गौण आवश्यकतायें है, जो मनुष्य जीवन में सुख और हर्ष की मात्रा को बढ़ाने के लिये होती है।

जैसे टेलीफोन, रेडियो, टेलीविजन, मोटरकार इत्यादि खाने पीने, पहिनने, रहने चिकित्सा और शिक्ष की आवश्यकतायें पूरी हो जाने के बाद यदि हमारे मकान के चारो ओर अच्छी फलवारी लगी हो, घर भांति भांति की कला कृतियो से विभूषित हो, इस प्रकार के पदार्थ मनुष्य जीवन के लिये आवश्यक नही। इन पर मनुष्य जीवन अवलम्बित नहीं है। इनके बिना भी अपना काम चला सकता है। यदि ये पदार्थ मनुष्य के पास हो तो जीवन में सुख की मात्रा बढ़ जाती है। ये पदार्थ मनुष्य जीवन की प्रधान आवश्यकतायें न होकर गौण आवश्यकताये है। इन गौण पदार्थो को अनुबन्ध पदार्थ कहा जाता है। ये अनुबन्ध पदार्थ भी यथा सम्भव अधिक से अधिक लोगो को प्राप्त हो सके – इसका प्रयत्न भी राष्ट्र में होना चाहिये। वेद में जीवन की प्रधान पांच आवश्यकतायें की पूर्ति की प्रार्थनाओं के अतिरिक्त जीवन में सुख की मात्रा को बढ़ाने वाली अन्य सामग्री की भी प्रार्थनाये। राजा के लिये आदेश है कि वह प्रजाओं को यह सामग्री भी प्राप्त कराये। अनुबन्ध पदार्थ भी सबको मिल सके। तो अच्छा है और इसके लिये प्रयत्न भी होना चाहिये, परन्तु पांचो आलम्बन पदार्थ तो प्रत्येक प्रजानन को अच्छी तरह मिलने ही चाहिये।

पूंजीवाद के आधार –

पूंजीवादी व्यवस्था में इन पदार्थो के राष्ट्र के सर्वधारण लोगो को मिल सकने की संभावना नहीं रहती क्योंकि पूंजीवादी व्यवस्था आदमी को लोभी और संचयशील बना देती है। लोभ और संचय की प्रवृत्ति के वशीभूत हुये कुछ थोड़े से लोग, जिनके पास साधन और शक्ति होती है, ऐसा उपाय कर लेते है कि जिस राष्ट्र की प्राकृतिक सामग्री से उत्पन्न होने वाला सारा धन वैभव उन्ही के पास सिमट आता है और सर्वधारण जनता तक पहुंच नहीं पाता और थोड़े से धनपति लोग राष्ट्र की प्राकृतिक सामग्री से उपजाने वाले धन वैभव को अपने हाथों में ही सीमित रखने के लिये सभी प्रकार के अच्छे बुरे तरीको का आश्रय लेते रहते है।

वर्णाश्रम व्यवस्था में धन का महत्व सर्वोपति नहीं है –

पूंजीवाद का यह दो वर्णाश्रम व्यवस्था की पद्धति में नहीं आता। वर्णाश्रम व्यवस्था में धन की महत्ता को बहुत कम कर दिया गया है। पूंजीवाद में धन की महत्ता सर्वोपति रहती है। वहां धन ही सब कुछ है। वर्णाश्रम व्यवस्था में यह बात नहीं है। वहां धन का स्थान कम

महत्व का है। धन के इस महत्व को वर्णाश्रम व्यवस्था में कई प्रकार से कम किया गया है। इस सम्बन्ध में निम्न ध्यान में रखने योग्य है।

वर्णाश्रम व्यवस्था और त्यागमय जीवन –

वर्णाश्रम व्यवस्था में त्याग के जीवन पर बहुत अधिक बल दिया गया है। मनुष्य को धन सम्पत्ति के मोह में न फंसकर, लिप्त न होकर त्याग–पूर्वक ही उसका भोग करना चाहिये। वर्णाश्रम पद्धति का यह मुख्य सिद्धान्त है। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में उपदेश दिया गया है कि "हे मनुष्य इस जगत के सब पदार्थो में परमेश्वर रमे हुये है इसलिये तू संसार के पदार्थो को त्यागपूर्वक उपभोग कर किसी के धन में लोभ लालच मत कर"। वेद के इस उपदेश का भाव यह है कि मनुष्य को सदा यह स्मरण रखना चाहिये कि परमात्मा सर्वव्यापक होकर सब जगह रमे हुये है कोई जगह उनसे खाली नहीं है, वे हमारे प्रत्येक कर्म को देख रहे है, इसलिये हमें लोभ में फंसकर दूसरों की सम्पत्ति की ओर लालच भरी आंखो से नहीं देखना चाहिये और लोभ की इस वृति से पैदा होने वाले अपराधों को न करना चाहिये । लोभ से बचने के लिये हमें धन सम्पत्ति में लिप्त न होकर उसका त्यागपूर्वक उपभोग करना चाहिये। इस मंत्र का दूसरा अर्थ यह भी किया जा सकता है कि "हे मनुष्य इस जगत के सब पदार्थो में परमेश्वर रम रहे है, इसलिये तू उस परमेश्वर द्वारा दिये हुये पदार्थो का उपभोग कर, लोभ लालच मत कर, धन किसका है ? अर्थात किसी का भी नहीं। इस अर्थ में वेद के इस मंत्र का भाव यह है कि मनुष्य को परमात्मा ने जितना दिया है उसी पर उसे संतोष करना चाहिये। उसे धन सम्पत्ति का लोभ नहीं करना चाहिये, लोभ से पैदा होने वाले अपराध नहीं करने चाहिये, हमारे सब अपराधों को सर्वव्यापक परमात्मा देख रहे है, अतः लोभ और उससे उत्पन्न अपराधों से हमें दूर रहना चाहिये, हम धन का लोभ करके पाप क्यों करे ? धन किसका है ? किसके साथ यह जाता है ? यह तो यही रह जाता है। यह आज है और कल नहीं है। इसलिये धन के लोभ में फंसकर हमें पाप नहीं करना चाहिये। वैदिक धर्मियों के सभी शास्त्र त्यागमय जीवन के उपदेशों से भर पड़े है। वेद और शास्त्रो के इन उपदेशो को जो लोग सदा स्मरण रखेंगे, धन सम्पत्ति में लिप्त न होकर, लोभ की वृत्ति से जो सदा परे रहेगे और लोभ से दूर रहने के लिये त्याग का जीवन रखेगे, वे इन सब बुराइयों से दूर रहेगे जो पूंजीवादी लोगो में आ जाती है। ऐसे लोगो के लिये धन ही सब कुछ नहीं रह जायेगा। धन उनके लिये बहुत गौण हो जायेगा।

वर्णाश्रम व्यवस्था दान पर बल देती है –

वर्णाश्रम पद्धति में दान पर बड़ा बल दिया गया है। वेद मे दान के सम्बन्ध में सूक्त के सूक्त आते है जिनमें बडे कवितामय ढंग से उपदेश दिया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी धन सम्पत्ति का कुछ न कुछ अंश दूसरे मनुष्यों के कल्याण के लिये दान करते ही रहना चाहिये। अर्थववेद में एक जगह कहा गया है कि "हे मनुष्य ! तू सौ हाथो से धन कमा और हजार हाथो से दान कर। वेद के इस कवितामय वर्णन का भाव यह है कि मनुष्य को अत्यन्त प्रयत्न और पुरूषार्थ से धन सम्पत्ति का उर्पाजन करना चाहिये और अपनी उपार्जित सम्पत्ति का अधिकांश भाग लोकोपकार में दान देना चाहिये।

वेद के इस प्रकार के उपदेशो का आधार वैदिक धर्मियों के मनुस्मृति आदि सभी धर्मशास्त्र मे ब्रांम्हण, क्षत्रिय, और वैश्य सभी के लिये दान करना एक आवश्यक कर्तव्य बताना है। प्राचीन समय में नवस्नातक को आर्चाय लोग बिदाई के समय अनेक सुन्दर उपदेश दिया करते थे।

कनवोकेशनल ऐड्रेस तैतिरीय उपनिषद में प्राचीन काल का एक दीक्षान्त भाषण उपलब्ध है। उसमें आचार्य अपने स्नातको को और और आदेशो के साथ एक आदेश यह भी देते है कि उन्हे गृहस्थाश्रम में जाकर दान अवश्य करना चाहिये। दान पर बल देते हुये आचार्य कहता है – "श्रद्धा से दो, अश्रद्धा से दो, शोभा के लिये दो, लज्जा के दो, भय से दो, प्रतिरक्षा से दो। किसी भी कारण से दो, दो अवश्य। दान पर इतना अधिक बल उपनिषद में दिया गया है। हमारे धर्मशास्त्रो के अनुसार दान ब्राम्हण वर्णो के लोगो का एक आवश्यक धर्म है जिसमें कभी नागा नहीं होना चाहिये। महाभारत आदि ग्रन्थो में इस प्रकार के उपदेश भी आते है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आय का कम से कम दसवां भाग दान अवश्य करना चाहिये।

1. शतहस्तः समाहर सहस्त्रहस्तः संकिर । अर्थव0 3 |24 |5
2. मनु 1, 88,89,90 में ब्राम्हणादि वर्णो के कर्तव्यों का वर्णन करते हुये दान सब वर्णो का एक आवश्यक कर्तव्य बताया गया है।

एक तो हमें त्याग का जीवन बिताना है, दूसरा धन के लोभ में पड़कर उसके पीछे पागल होकर नहीं दौड़ना है और फिर जो कुछ धनसम्पत्ति हमने कमाई भी है उसमें से एक बड़ा हिस्सा सदा दान करते रहना चाहिये। वर्णाश्रम व्यवस्था को मानने वाले वैदिक धर्मियों

का यह एक आवश्यक धर्म है। जो लोग वेद और शास्त्रो के इस उपदेश को मानकर दान करना अपना कर्म समझेंगे उनमें धन का अनुचित मोह और लोभ नहीं पैदा होगा, और वे लोभ के वशीभूत होकर उस प्रकार की बुराईयां न करेंगे जिस प्रकार की बुराईयां लोग करते है।

वर्णाश्रम व्यवस्था में सम्पत्ति का विनिमय

हम जो कुछ कमाये वह हमें स्वार्थी बनकर स्वंय अकेले ही नहीं खा जाना चाहिये। हमें अपनी धन सम्पत्ति का उपभोग दूसरों के साथ मिलकर करना चाहिये। वेद में परमात्मा उपदेश देते है कि "हे मनुष्य, तुम्हारे पीने के स्थान समान हो, तुम अन्न का सेवन मिलकर करो, मैं तुम्हें प्रेम के बन्धन में बांधता हूं, तुम मिलकर प्रभू की उपासना करो और इस प्रकार मिलकर रहो जिस प्रकार रथ के पहिये की नाभि में अरे मिलकर रहते है।" वेद के असी प्रसंग में परमात्मा पुनः कहते है – "हे मनुष्यो मै तुम सबको मिलकर पदार्थो के सेवन द्वारा मिलकर चलने वाले, समान मन वाले और एक समान भोजन वाले बनाता हूं।" वेद के इन उपदेशो में भगवान की स्पष्ट आज्ञा हे कि किसी भी राष्ट्र के लोगो को और असल में सारी धरती के लोगो को परस्पर प्रेम से मिलकर रहना चाहिये और अपने भोजन का तथा भोजन से उपलक्षित अपनी धन सम्पत्ति का उपभोग स्वार्थी बनकर स्वंय अकेले ही नही करना चाहिये प्रस्युत सबके साथ मिलकर करना चाहिये अर्थात इस प्रयोजन की पूर्ति के लिये हमें अपनी सम्पत्ति का दान करते रहना चाहिये। वेद में एक दूसरे स्थान पर कहा है – "जो व्यक्ति अकेला खाता है वह भोजन नहीं खाता, वह केवल पाप खाता है।"

इस प्रकार वेद की सम्मति में भोजन और उससे उपलक्षित धन सम्पत्ति का स्वार्थी बनकर स्वंय अकेले उपभोग करते रहना निरा पाप है। वेद प्रतिपादित वर्णाश्रम व्यवस्था की पद्धति में वेद के इन सिद्धांतों को स्वीकार करना आवश्यक है। जो लोग वेद के इन सिद्धांतो को स्वीकार करेंगे वे स्वार्थी बनकर अपनी धन सम्पत्ति का अकेले उपभोग करने को पाप मानेंगे उनमें लोभ और स्वार्थ पर आश्रित वे बुराईया नही उत्पन्न होगी जो पूंजीपतियों में पाई जाती है। वे तो सम्पत्ति के अकेले उपभोग के पाप से बचने के लिये वेद के दान सम्बन्धी उपदेश को मानकर सदा उसका दान करते रहेगे जिससे सब सबके साथ मिलकर उसका उपभोग किया जा सके।

पांच यम और पांच नियम –

वेद और तदनुकूल धर्मशास्त्रो में मनुष्य के चरित्र को ऊंचा, पवित्र और धर्मिष्ठ बनाने के लिये अनेक उपदेश दिये गये है और तदैव अनेक कर्तव्य बताये गये है। इन सब कर्तव्यपदेशो का सार दस यम नियमो में आ जाता है।

शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान ये पांच नियम कहलाते है। अपने मन और शरीर को तथा चारो और की परिस्थितियों की स्वच्छ और निर्मल रखना "शौच" है। अपने जीवन को चलाने के लिये आवश्यक ज्ञान विज्ञान और धनसम्पत्ति आदि प्राप्त करने के लिये यथोचित परिश्रम करने के अनन्तर हमें जितनी भी सफलता मिल जाये उस पर संतुष्ट और प्रसन्न रहना "संतोष" है। सदा अपने कर्तव्य का पालन करने के लिये उद्यत रहना, कर्तव्य के पालन के मार्ग में जो कष्ट और विघ्न बाधाये आये उनसे न घबराकर उनको सहना और उनका सामना करना, जीवन को सदा कष्ट सहिष्णु बनाना और भोगविलास एवं ऐशो इशरत से दूर रखना तथा गर्मी सर्दी, भूख प्यास, मान–अपमान आदि द्वन्द्वो को सहने की आदत रखना "तप" है। सत्य और धर्म का उपदेश देने वाले तथा विद्या विज्ञान की वृद्धि करने वाले, वेदादि अच्छे अच्छे ग्रन्थो को पढ़ते रहना, जिससे मन में सदा अच्छे विचार ही उत्पन्न हो, तथा अवना आत्मनिरीक्षण करके बुरे विचारों और आदतों को छोड़ते रहना और अच्छे विचारो और आदतो को ग्रहण करते रहना "स्वाध्याय" है। ईश्वर की उपासना करना, अपने आप को ईश्वर के अर्पण कर देना, सब प्राणियों को ईश्वर की सन्तान समझना और उनके कष्टो को दूर करने के लिये उद्यत रहना "ईश्वरप्रणिधान" है।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रम्हाचर्य और अपरिग्रह ये पांच यम कहलाते है। मन, वचन और कर्म से किसी भी प्राणी को पीड़ा न देना और प्राणी कष्ट में पड़े हो उनके पास जाकर उनके कष्ट दूर करना "अहिंसा" है। मन से न्याययुक्त सही बात ही सोचना तथा मन, वचन और कर्म में एकता रखना "सत्य" है। अपने परिश्रम से जो धन सम्पत्ति कमाई जाये उसी केवल उसी का उपभोग करना, दूसरे की धन सम्पत्ति को बिना उसकी स्वीकृति और आज्ञा के कभी काम मे लाना तथा मन में लोभ के विचारो को उत्पन्न न होने देना "अस्तेय" है। जननेन्द्रिय को वश में रखना, सोच समझकर सन्तान उत्पन्न करने के अतिरिक्त कभी भी अपने वीर्य को शरीर से बाहर ने देना, इसके लिये सभी इन्द्रियों को वश में रखकर मन को वश मे रखना, मन में कभी श्रृगांरिक विचारों और कामवासना को उत्पन्न न होने देना "ब्रम्हाचर्य" है। धन सम्पत्ति का संग्रह न करना, यथासम्भव कम से कम धनसम्पत्ति और दूसरे दुनियावी सामान अपने पास रखना "अपरिग्रह" है।

यम नियमों की अनिवार्यता –

ये दसों यम और नियम केवल साधु संतो और योगी महात्माओं के लिये ही नहीं है। वर्णाश्रम धर्म के अनुसार राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति के लिये इनका पालन अनिवार्य है। मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों में स्पष्ट लिखा है कि ब्रम्हाचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यासी, ब्राम्हण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, राजा और प्रजा सब के लिये इन यम नियमो का पालन आवश्यक है। इस पद्धति में ये यम और नियम राष्ट्रवासियों के चरित्र का आवश्यक अंग माने गये है। वर्णाश्रम व्यवस्था की पद्धति में शिक्षा संस्थानों में इनके पालन पर विशेष बल दिया गया है। जिससे कि ये सभी राष्ट्रवासियों के चरित्र का अंग बन सके। इनमें भी नियमों की अपेक्षा अहिंसा आदि पांच यमों के पालन पर विशेष बल दिया गया है। शास्त्रों में इन यम नियमों की विस्तृत व्याख्यायें की गई है। वर्तमानकाल में ऋषि दयानन्द ने भी इनके पालन पर विशेष बल दिया है, सत्यार्थप्रकाश में वर्णित अपनी शिक्षा पद्धति में इनका विशेष स्थान रखा गयाहै। महात्मा गांधी ने तो इन पर बहुत ही बल दिया है और इनकी विस्तृत व्याख्यायें की है। हमने अति संक्षिप्त शब्दों में यहा इनका भावार्थ दे दिया है। जो लोग इन यम और नियमो के अनुसान अपना जीवन व्यतीत करेंगे, उनमें वे बुराईया पैदा नहीं हो सकती जो पूंजीवादी पद्धति में पलने वाले, भोग और विलास के पीछे पड़े रहने वाले लोगो में उत्पन्न हो जाती है।

अपरिग्रह –

ऊपर वर्णित पांच यमो में एक यम अपरिग्रह का है। यहां अपरिग्रह के अर्थ को थोड़ा विस्तार से समझ लेना चाहिये। यह शब्द संस्कृत के तीन पदो अ, परि और ग्रह से मिलकर बना है। ग्रह का अर्थ होता है चीजो को पकड़ के अपने पास रखना और परिग्रह का अर्थ होता है चारों ओर से सब तरफ से चीजो को समेटकर अपने पास रखना। इधर से भी बटोर, उधर से भी बटोर जहां से बटोरा जा सके बटोर, और जितना बटोरा जा सके उतना बटोर। इस मनोभावना के वश मे होकर चीजो के संग्रह का नाम परिग्रह है। परिग्रहशील व्यक्ति बहुत लालची हो जाता है। उसके पास जितना भी हो वह उसे थोड़ा ही लगता है। वह अधिक से अधिक संग्रह करना चाहता है। उसकी आवश्यकतायें बहुत बढ़ जाती है। वह अपनी बढ़ी हुई आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये छटपताता रहता है। और छटपटाहट के परिणामस्वरूप वह अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये किसी भी उपाय का अवलम्बन करने के लिये उद्यत हो जाता है। उसे सत्य, असत्य, न्याय–अन्याय, धर्म–अधर्म किसी की

चिंता नहीं रहती। वह धोखा–धड़ी, झूठ–फरेब, अन्याय और अत्याचार सभी का सहारा लेकर अपनी बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के सामान जुटा लेता है। आज के पूंजीवादी लोग और पूंजीवाद की पद्धति पर चलने वाले राष्ट्र इसी प्रकार के परिग्रहशील व्यक्ति और राष्ट्र है। उनकी इस परिग्रहशील की वृत्ति के कारण आज के अधिकांश मनुष्यों को जो कष्ट, जो यन्त्रणायें और यातनायें भोगनी पड़ रही है, उन्हे सभी जानते है। किसी से कुछ छुपा हुआ नहीं है।

"परिग्रह" का उलटा होता है "अपरिग्रह" मनुष्य को संसार की चीजो को अपने पास इकठ्ठा करने के पीछे पागल होकर नहीं दौड़ना चाहिये। उसे अपने पास सांसारिक धन सम्पत्ति और सामग्री का बहुत कम संग्रह करना चाहिये। उसे धन सम्पत्ति और सामग्री का उतना ही संग्रह करना चाहिये जितना अपने कर्तव्य कर्मों को ठीक से पूरा करने के लिये नितान्त आवश्यक हो। व्यक्ति अपने लिये अपनी योग्यता और शक्ति के अनुसार ब्राम्हण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र में से जो वर्ण चुनता है और जिस आरम में वह है, उस वर्ण और आश्रम के कर्तव्य कर्मो को भली भांति पूरा करने के लिये जितनी सामग्री अपेक्षित है उतनी ही सामग्री अपने पास संग्रह करें, न उससे कम और उससे ज्यादा। भोग–विलास और ऐशो इशरत की प्रवृत्ति के वशीभूत होकर उसे अपनी आवश्यकतायें बहुत अधिक नहीं बढ़ानी चाहिये। और न उनकी पूर्ति के लिये व्यर्थ छअपटातें ही रहना चाहिये। उसे अपनी आवश्यकतायें यथा सम्भव कम से कम रखनी चाहिये। वह सामग्री संग्रह करने में पागल होकर भटकता न रहे। न ऐसा हो कि सामग्री के अभाव में वह अपने कर्तव्यों को पूरा न कर सके। अपने कर्तव्यों को भली भांति पूरा करने के लिये कम से कम सामग्री संग्रह करना "अपरिग्रह" है। अपरिग्रह का यह सिद्धान्त वर्णाश्रम व्यवस्था सिद्धान्तों में प्रमुख है। जो लोग इस प्रकार के अपरिग्रही रहेगे वे धन सम्पत्ति का संग्रह करने के लिये उस प्रकार के दूषित आचरण नहीं करेंगे जिस प्रकार के दूषित आचरण पूंजीवादी लोग प्रायः करते है।

चार वर्ण और आश्रम –

जीवन को सादा तपस्वी और सच्चरित्र बनाने, धन सम्पत्ति का बहुत संग्रह न करने तथा उसका भी परोपकार में दान करते रहने, वेद शास्त्रो के इन उपदेशो पर बल देने के अतिरिक्त वर्णाश्रम व्यवस्था की पद्धति में धन के महत्व को एक अन्य प्रकार से कम किया गया है। इस पद्धति में व्यक्ति के जीवन को चार आश्रमों में और सारे समाज को चार वर्णो

में विभक्त किया गया है। प्रत्येक व्यक्ति अपने चुने हुये वर्ण के और उस उस आश्रम के नियमो तथा कर्तव्य कर्मो का पालन करेगा। जो ब्राम्हण वर्ण को अपने लिये चुनेगे, उन्हे अपना जीवन विविध प्रकार के ज्ञान विज्ञानों की उन्नति, आविष्कार और प्रचार में, तथा जनता को सत्य और धर्म का उपदेश देने में लगाना पड़ेगा। इन्हे सांसारिक धन सम्पत्ति कमाने के पीछे नहीं पड़ना होगा। इन्हे त्याग और तपस्या का अत्यन्त सादगी का जीवन बिताना होगा। जनता या राज्य से मिलने वाली जीवन निर्वाहार्थ न्यूनतम आवश्यक दक्षिणा पर संतुष्ट रहना होगा। जो लोग क्षत्रिय वर्ण को अपने लिये चुनेंगे उन्हे अपना जीवन अन्याय अत्याचार से जनता को बचाने, तथा राष्ट्र की रक्षा में लगाना पडेगा। वे राष्ट्र के पुलिस, सेना और प्रबन्ध सम्बन्धी विभागों में काम करेगे। जीवन निर्वाह के लिये जो न्यूनतम आवश्यक दक्षिणा राज्य की ओर से उन्हे मिलेगी, उसी पर उन्हे संतुष्ट रहना होगा। क्षत्रिय वर्ग को भी धन सम्पत्ति कमाने तथा उसके संग्रह में न लगना होगा। शूद्र वर्ण के लोग तो किसी राष्ट्र में में बहुत ही कम होंगे। किसी भी सुव्यस्थित राष्ट्र में ऐसे बुद्धिहीन शूद्र लोगो की संख्या अतिन्यून रहेगी। ये शूद्र भी धन सम्पत्ति कमाने का काम न करेंगे। यदि किसी में धन सम्पत्ति कमाने की योग्यता होगी तो वह शूद्र ही नहीं रहेगा वैश्य बन जायेगा। रहे वैश्य। जो लोग अपने लिये वैश्य वर्ण का चुनाव करेगे वे ही विविध प्रकार की धन सम्पत्ति कमाने का काम कर सकेंगे। इस प्रकार चारों वर्णो में सें केवल वैश्यों का ध्यान विशेष रूप से धन सम्पत्ति कमाने की ओर रहेगा।

आश्रम व्यवस्था द्वारा अंकुश –

ब्रम्हाचर्य आश्रम विधार्थी जीवन का आश्रम है। कम से कम 24 वर्ष की आयु तक बालक और 16 वर्ष की आयु तक बालिकाये, ब्रम्हाचारी रहते हुये इस आश्रम मे विविध विद्या विज्ञान सीखते है और अपनी रूचि और स्वाभाविक योग्यता के अनुसार ब्रम्हाणादि वर्णो में से किसी एक वर्ण के योग्य अपने को बनाते है। यह तैयारी का आश्रम है। इस आश्रम के बालकों को अपने शरीर को स्वस्थ्य और बलवान,मन को विविध प्रकार के विद्या विज्ञानों से भरना और आत्मा को सत्य, न्याय, दया, संगम, नियम पालन आदि की उदात भावनाओं से युक्त करना होता है। इस आश्रम में बालक बालिकायें क्रियात्मक रूप में धन सम्पत्ति कमाने के कार्य से सर्वथा दूर रहते है। ब्रम्हाचर्य के पश्चात गृहस्थ आश्रम में व्यक्ति को धन सम्पति कमाने का कार्य करना होता है। गृहस्थ आश्रम जीवन में भी विविध प्रकार की धन सम्पत्ति

कमाने का कार्य वैश्यवर्ण के लोगो को ही करना होता है। ब्राम्हण, क्षत्रिय और शूद्र वर्ण के लोग गृहस्थ आश्रम में भी धन सम्पत्ति का संग्रह नहीं करेंगे। वे तो जनता या राज्य की ओर से जीवन निर्वाहार्थ दी गई न्यूनतम दक्षिणा पर ही संतुष्ट रहेगे। गृहस्थाश्रम के पश्चात् वानप्रस्थ आश्रम आता है। पच्चीस तीस वर्ष तक गृहस्थ का जीवन व्यतीत करके प्रत्येक व्यक्ति को वानप्रस्थ आश्रम में जाना होता है। वानप्रस्थाश्रम में धन सम्पत्ति कमाने का काम बन्द कर देना होता है। यह कार्य वानप्रस्थ लोग अपनी सन्तान को सौंप देते है। वानप्रस्थ आश्रम में व्यक्ति को ब्रम्हाचर्य आश्रम की भांति ही त्याग, तपस्या और संयम का जीवन बिताना होता है। वानप्रस्थ पश्चात गुरूकुलो में चला जाता है। और वहां राष्ट्र के बच्चों को निशुल्क शिक्षा देने में अपना समय लगाता है। इससे बचे हुये समय को भी स्वाध्याय, चिन्तन और आत्मिक उन्नति में बिताता है। वानप्रस्थ आश्रम के पश्चात सन्यास आश्रम है। यह आश्रम सब लोगो के लिये नहीं है। जो लोग पहले तीन आश्रमों में तैयारी करके अपने को ब्रम्हाण बना लेते है उन्हे ही सन्यास आश्रम मे जाने का अधिकार है। पहले तीन आश्रम सब वर्ण वालो के लिये है। किन्तु सन्यास आश्रम केवल ब्राम्हणों के लिये है। सन्यास आश्रम में तो सांसारिक सभी चीजो का परित्याग कर दिया जाता है। इस आश्रम में व्यक्ति को पूर्ण त्यागी, तपस्वी, संयमी और निर्लेप होकर, प्राणी मात्र का मित्र बनकर संसार के लोगो को सत्य औा धर्म का उपदेश देते हुये विचरना होता है। इस आश्रम में धन सम्पत्ति कमाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

इस प्रकार वर्णाश्रम व्यवस्था की पद्धति में केवल वैश्यवर्ण के लोग ही गृहस्थ आश्रम में जाकर विविध प्रकार की धन सम्पत्ति कमाने का कार्य करते है। वैश्यों को भी वानप्रस्थ में जाकर यह धन सम्पत्ति कमाने का काम छोड़ देना होता है। शेष ब्राम्हणादि तीन वर्णो के लोग धन सम्पत्ति कमाने के पीछे जाते ही नहीं। इन ब्राम्हणादि तीन वर्णो के लोगो को गृहस्थ आश्रम में जो जनता या राज्य की ओर से दक्षिणा के रूप में थोड़ी बहुत सम्पत्ति मिलती भी थी तो उसको भी वानप्रस्थ आश्रम में जाकर लेना बन्द कर देते है। ब्रम्हाचर्य वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों में व्यक्ति अपनी आवश्यकतायें न्यूनतम कर लेता है और गृहस्थ जनता से मिलने वाली भिक्षा और दान पर अपना निर्वाह करता है। वर्णाश्रम व्यवस्था के सांचे में ढलकर अपना जीवन बिताने वाले लोगो की धन विषयक मनोवृत्ति, पूंजीवादी पद्धति में पलने वाले लोगो से सर्वथा भिन्न प्रकार की होती है। वर्णाश्रम व्यवस्था की पद्धति में पला व्यक्ति सोचता है कि जब ब्रम्हाचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम में धन सम्पत्ति से

दूर रहकर त्याग, तपस्या और सादगी का जीवन बिताना होता है और फिर वानप्रस्थ में प्रवेश के समय उसे इस धन सम्पत्ति का भी सर्वथा त्याग कर देना है, तब धन के लोभ और मोह ममता में पडकर अर्थ कमाने के लिये असत्य अन्याय एवं अधर्म का आश्रय क्यों ले ? धन कमाने में सहायक नौकरों और मजदूरों की योग्यता और श्रम का शोषण कर उन पर अत्याचार क्यों करें ? क्यों न उन्हे अपना सहयोगी समझकर उनके श्रम का यथोचित पारिश्रमिक उन्हे दे ? वर्णाश्रम व्यवस्था के सांचे में ढला व्यक्ति इस प्रकार के विचारों वाला बन जाता है। और उसमें दोष स्वतः नहीं आ पाते जो पूंजीवादी पद्धति में पलने वाले व्यक्ति में सहज आ जाते है।

इस प्रकार हमने देखा कि वर्णाश्रम व्यवस्था की पद्धति में धन का महत्व बहुत कम कर दिया गया है। जिस कारण व्यक्ति धन संग्रह के लिये असाक्त नहीं होता और न उसके लिये सत्य न्याय, तथा धर्म का मार्ग छोड़ने के लिये उद्यत ही होता है। धर्मपूर्वक जितना धन कमाया जा सके उतनी ही कमाता है और उसे भी परोपकार में खर्च करता है। पूंजीवादी पद्धति से वर्णाश्रम पद्धति का यह महान अन्तर है।

वर्णो का चुनाव –

वर्णाश्रम व्यवस्था पर आधारित समाज व्यवस्था के सम्बन्ध में आगे विचार करने से पहले हमें वर्णो का वास्तवकि स्वरूप समझ लेना चाहिये। वर्ण शब्द वृअ् धातु से बना है जिसका अर्थ होता है वरण अर्थात् चुनाव करना। इस वर्ण पद का शब्दार्थ होता है – जिसका वरण किया जाये, जिसका चुनाव किया जाये। ब्राम्हाणादि वर्ण इसलिये कहे जाते है कि व्यक्ति अपनी रूचि के अनुसार वरण चुनाव करता है। संस्कृत में ब्रम्हाचारी या विधार्थी के लिये वर्णी शब्द का भी प्रयोग होता है। जिसका अर्थ होता वर्णमाला अर्थात जिसने अपने लिये ब्राम्हण, क्षत्रिय, आदि वर्णो मे से किसी एक का वर्ण को चुना है और अपने आपको उसके योग्य बनाने की तैयारी करता है। जिससे गृहस्थ आश्रम में जाकर वह उस वर्ण के कर्तव्य कर्मो को भली भांति पालन कर सके। इसलिये ब्राम्हचारी को "वर्णी" कहा जाता है।

व्रत–ग्रहण–पूर्वक विद्याध्ययन –

ब्रम्हाचारी के लिये संस्कृत में एक शब्द और प्रयुक्त होता है, वह शब्द है व्रती। व्रती का शब्दार्थ होता है – जिसने व्रत अर्थात प्रतिज्ञा ले रखी है। ब्रम्हाचारी–ब्राम्हण, क्षत्रिय और वैश्य मे से किसी एक वर्ण को अपनी रूचि और शक्ति के अनुसार अपने लिये चुन लेता है

और जीवन भर उस वर्ण के कर्तव्य कर्मो को निभाने का व्रत लेता है। इसलिये वह व्रती कहलाता है। वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था में प्रत्येक विधार्थी को अपने अध्ययनकाल में ब्राम्हाणादि में से किसी एक वर्ण का आवश्यक रूप से चुनाव करना होगा, उसके अनुकूल विद्या विज्ञान सीखकर अपने को योग्य बनाना होगा और जीवनभर उस वर्ण के कर्तव्य कर्मो का पालन करने का व्रत लेना होगा[1] ।

1. *वैदिक मर्यादा में प्रत्येक व्यक्ति के सोलह संस्कार होते है। इन संस्कारों में से एक संसार उपनयन संस्कार भी है। उपनयन संस्कार ब्रम्हाचारी रहकर विद्या पढने के लिये गुरूकूल में जाने के समय किया जाता है। उपनयन के समय विधार्थी, ब्राम्हण, क्षत्रिय और वैश्य में से किसी एक वर्ण को चुनकर उस वर्ण के कर्तव्यों कर्मो के अनुकूल विद्या विज्ञानों को पढने का निश्चय करता है। उपनयन संस्कार की मुख्य विधि तो तीनों वर्णो के लिये समान है। परन्तु दण्ड मेखला, वस्त्र और यज्ञोपवीत की बनावट आदि अवान्तर बातो के विषय में तीनो वर्णो के लिये अलग अलग विधान है। उपनयन संस्कार दो बार होता हे। एक तो गुरूकुल में जाने से पहले अपने माता पिता के घर में और दूसरा आचार्य के पास जाकर गुरूकुल में। अपने घर मे माता पिता द्वारा बालक का उपनयन कराये जाने का अभिप्राय यह होता है कि बालक के माता पिता स्वंय जिस वर्ण के है, उनका बालक कम से कम उस वर्ण का तो बने ही, ऐसी आशा वे रखते है। फिर गुरूकुल में जाकर दूसरी बार उपनयन कराये जाने का भाव यह है कि बालक ने सोच विचारकर स्वंय निश्चय कर लिया है कि किस वर्ण का ब्रम्हाचारी बनना चाहता है। जब तक एक एक बालक स्वंय निश्चय न कर लेगा कि वह किस वर्ण का ब्राम्हचारी बनना चाहता है, गुरूकुल में आचार्य द्वारा उसका उपनयन नहीं होगा वह यो ही गुरूकुल में रहकर पढता रहेगा और अपने लिये वर्ण के चुनाव की तैयारी करता रहेगा। बालक द्वारा अपने वर्ण का निश्चित चुनाव कर लिये जाने पर आचार्य उसका उपनयन करेगा। ब्राम्हण बनना चाहने वाले बालक को 5 से 16 वर्ष की आयु तक अपने वर्ण का निश्चय कर लेना चाहिये। क्षत्रिय बनना चाहने वाले बालक को छठे वर्ष से लेकर बाईसवें वर्ष की आयु तक अपने वर्ण का निश्चय कर लेना चाहिये। और वैश्य बनना चाहने वाले बालक को आठवें वर्ष से लेकर चौबींसवे वर्ष की आयु तक अपने वर्ण का निश्चय कर लेना चाहिये। जो ब्राम्हण नहीं बन सकता है, वह*

क्षत्रिय बने तथा जो ब्राम्हण और क्षत्रिय मे से कोई भी नहीं बन सकता , वह वैश्य बने। जो इन तीनो में से किसी वर्ण की योग्यता प्राप्त करने के योग्य नहीं होगा वह जड बुद्धि बालक शूद्र रह जायेगा। किसी घर में जन्म होने के कारण कोई व्यक्ति शूद्र नहीं होता। अति मन्द बुद्धि होने के कारण पढ़ने लिखने की दिमागी योग्यता न होने से ही कोई व्यक्ति शूद्र बनता है। ब्राम्हण माता पिता का बालक भी शूद्र हो सकता है। और शूद्र माता पिता का बालक भी ब्राम्हण बन सकता है। वर्ण व्यवस्था जन्म पर निर्भर नहीं करती। वह गुण कर्म और स्वभाव पर निर्भर करती है। इस सम्बन्ध में शास्त्रों से अनेक प्रमाण दिये जा सकते है। अति प्राचीन काल में वर्ण व्यवस्था मानी जाती है। वह मध्य युग में भ्रांति से चल पड़ी और भ्रांति पर आधारित इस जन्म की वर्ण व्यवस्था से हिन्दुओं की उन्नति में बहुत बाधा पहुंचाती रही है। अस्तु। उपनयन संस्कार की जो व्यवस्था शास्त्रों में पाई जाती है उसका मर्माशय इतना ही है कि प्रत्येक बालक को अपनी रूचि और शक्ति के अनुसार किसी न किसी वर्ण का चुनाव करके तदनुकूल विद्याध्ययन करने कराने का यह सिद्धान्त शिक्षा के क्षेत्र में वर्णाश्रम व्यवस्था पद्धति की निराली देन है।

मनुष्य समाज के तीन महान शत्रु –

ब्राम्हाणादि मे से किसी एक वर्ण को अपने लिये चुनकर उसके कर्तव्यों कर्मो को पालन करने का यह व्रत किस लिये लिया जाता है ? मनुष्य के तीन बड़े शत्रु है जिनके कारण मनुष्य पीड़ित रहते है। 1. अभाव 2. अज्ञान 3. अन्याय।

अभाव दुख –

यदि राष्ट्र में लोगो की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये आवश्यक सामान उत्पन्न नहीं होता तो आवश्यक सामान के अभाव से राष्ट्र के लोग पीडित रहेगे। यदि राष्ट्र में वस्त्र का अभाव होगा तो लोगो को नंगे रहकर ऋतुओं की कठोरता के कष्ट सहने पड़ेंगे। यदि राष्ट्र में मकानों का अभाव होगा तो भी लोगो को भी ऋतुओ की कठोरता के कष्ट सहने पड़ेंगे। यदि राष्ट्र में औषधियां नहीं बनती तो उनके अभाव में लोगो को रोगो के कष्टो से पीड़ित रहना पड़ेगा। ये सब अभावजनित कष्ट है।

अज्ञान दुख –

राष्ट्र के प्राकृतिक सामग्री तो बहुत है पर लोगो को उस प्राकृतिक सामग्री से भांति भांति की आवश्यकता पूर्ति व निर्माण का ज्ञान नहीं, इसलिये कष्ट में रहते है। यह कष्ट उनके अज्ञान के कारण है। वस्तु हमारे पास है हम उसका उपयोग करना नहीं जानते। अतः पीडित्रत होते है। गेंहू होने पर भी रोटी निर्माण का अज्ञान भूख से पीड़ित करेगा। तैयार भोजन भी हमारे पास है पर हमें भोजन करने के नियमों का ज्ञान नही। हम बार बार खाते रहते हे और भूख से अधिक खाते रहते है तो अजीर्ण हो जायेगा और उससे उत्पन्न होने वाले राग हमें लग जायेगे। हमे इन रोगो का कष्ट भोगना पड़ेगा। इस प्रकार के कष्ट अज्ञान जनित कष्ट है।

अन्याय दुख –

हमें सामान तैयार करने का ज्ञान है, ज्ञान से हमने सामान तैयार कर लिया परन्तु कुछ अन्यायी और अत्याचारी लोग हमारे सामान को जबरदस्ती छीनकर ले गये तो उनसे इस अन्याय के कारण भी हमें कष्ट होगा। हमें खेती करनी आती है इससे बहुत अन्न पैदा किया परन्तु कुछ अन्यायी लोग बल प्रयोग द्वारा सारा अन्न छीनकर ले जाते है तो उनके अन्याय के कारण भूख का कष्ट सहना पड़ेगा। यह कष्ट अन्याय के कारण है। अन्याय, बल प्रयोग करके ही नहीं किया जाता, चतुराई, झूठ, धोखा, ठगी करके भी किया जाता है। किसी प्रकार से ही अन्यायी लोग अन्याय करके लोगो को पीड़ित करते है। ये सब कष्ट अन्यायजनित कष्ट है।

ब्राम्हणों का व्रत –

ब्राम्हण वे लोग है जो प्रजा के अज्ञान को दूर करने का व्रत लेते है। ये लोग सत्य के परिशोध में लगे रहते है। भिन्न भिन्न क्षेत्रो से सम्बन्ध रखने वाली सच्चाईयों का पता लगाकर विभिन्न प्रकार के विद्या विज्ञानो का ये लोग आविष्कार करते है। और उस अपने विद्या विज्ञान का ये लोग निस्वार्थ भाव से प्रजा में प्रचार करते है क्योंकि जनता के अज्ञान को दूर करना इन्होने अपना धर्म बना रखा है। कोई ब्राम्हण अपनी रूचि के अनुसार किसी विद्या विज्ञान के अध्ययन और अध्यापन में लग जाता है और कोई किसी के भौतिक और आध्यात्मिक दोनो ही प्रकार के विद्या विज्ञानो का अध्ययन और अध्यापन इनका क्षेत्र रहता है। इसके लिये धर्म के सच्चे रहस्य का पता लगाना और उसका प्रचार करना ब्राम्हणों का कर्तव्य

रहता है। ये लोग धर्म के तत्वों को स्वंय अपने जीवन में ढालते है और जनता में उनका प्रचार करते है। इनका जीवन पूर्ण सत्य निष्ठा, संयमी तपस्या और सादा रहता है। ऊपर वर्णित यम नियमों को अपने जीवन में ढालने का विशेष प्रयत्न करते है। इस प्रकार अपने जीवन को आदर्श बनाकर ये लोग अपने जीवन और प्रचार द्वारा जनता के चारित्रिक स्तर को उन्नत करते रहते है। अपनी विद्या को ये लोग बेचते नहीं। विद्यादान का कोई मूल्य नहीं ठहराते। उन्हे श्रद्धा से जितना कोई दे दे। उसे ही ले लेते है। जो दक्षिणा दे सके उसे भी पढ़ाते है और जो न दे सके उसे भी पढ़ाते है। पढ़ाने में भेद नहीं करते। निष्काम भाव से सबको विद्या दान करते है। इस प्रकार जनता के भांति भांति के अज्ञानों को दूर करने के लिये विविध विद्या विज्ञानों की उन्नति आविष्कार और प्रचार में लगे रहने का जो लोग व्रत ले लेत हे और अपना सारा जीवन निष्काम भाव से इसी काम में खपा देते है उन्हे ब्राम्हण कहते है।

आर्य शास्त्रों के अनुसार राज्य के न्यायालयों के न्यायाधीश और राज्य के मंत्री भी ब्राम्हण लोगो को ही बनाया जायेगा। क्योंकि तप, त्याग, सादगी, सत्य और धर्म का जीवन बिताना ब्राम्हणों क विशेष व्रत रहता है। क्योंकि धन सम्पत्ति के संग्रह से ब्राम्हण लोग दूर रहते है , उनका जीवन विशेष रूप सें अपरिग्रह का होता है। उन्होने कोई अपनी जमीन जायदाद नहीं बनानी होती है। इसलिये ब्राम्हण लोग निस्वार्थ भाव से सही सही न्याय करेंगे और निस्वार्थ भाव से प्रजा हित के लिये सही राजनीति बनायेगे। और उसका सही पालन करेगे। इसलिये न्यायाधीश और मंत्री ब्रांम्हणों को बनाया जाता है। आर्य लोगो में राज मंत्री का आदर्श चाणक्य है। भारतवर्ष के चक्रवर्ति सम्राट का मंत्री होते हुये भी स्वंय फूंस की झोपड़ी मे रहा करता था।

क्षत्रियों का व्रत –

जो लोग अन्याय से प्रजा की रक्षा करने का व्रत लेते है उन्हे क्षत्रिय कहा जाता है। ये लोग जहां अन्य विधाओं का अध्ययन करेंगे वहां राजनीति और शास्त्रास्त्रों के बनाने और उनके चलाने की विधाओं का विशेष अभ्यास करेंगे। अपने अन्दर शारीरिक बल को बढ़ाने का भी ये लोग विशेष प्रयत्न करेंगे। इस प्रकार अन्याय के विरूद्ध लड़ने के योग्य अपने को ये लोग बना लेंगे। ये क्षत्रिय लोग राज्य की पुलिस, सेना और प्रबन्ध सम्बन्धी विभागों में जहां वीरता और शारीरिक शक्ति की अपेक्षा अधिक आवश्यकता होती है काम करेगे। ब्राम्हण

मंत्रियों द्वारा निर्धारित नीतियों के अनुसार चलकर राज्य का शासन चलाना क्षत्रियों का काम होता है। राज्य शासन का यह काम इस प्रकार किया जायेगा कि कोई किसी भी अन्याय न कर सकेगा। कोई किसी को ठग न सकेगा। कोई सबल निर्बल को सता न सकेगा। इस प्रकार अन्याय से प्रजा की रक्षा करना क्षत्रियों का व्रत और धर्म होगा । क्षत्रिय लोग धन सम्पत्ति कमाने के पीछे नहीं पड़ेंगे। राज्य द्वारा जो वेतन या दक्षिणा उन्हे मिलेगी उसी पर वे सन्तुष्ट रहेगे। निष्काम भाव से प्रजा की रक्षा करके अपने व्रत का पालन करना ही उनका उद्देश्य होगा। क्षत्रिय लोग अपने व्रत के पालन में अपना रूधिर बहाने और सिर कटाने के लिये भी सहर्ष उद्यत रहेगे।

वैश्यो का व्रत –

जो लोग प्रजा को आवश्यक सामग्री का अभाव न होने देंगे ऐसा व्रत लेने वाले वैश्य कहलायेगे। वैश्य लोग अन्य विद्याओं को पढ़ने के अतिरिक्त राष्ट्र की भौतिक सम्पत्ति को बढाने वाली विद्याओं को विशेष रूप से अध्ययन करेंगे। अपनी अपनी रूचि के अनुसार कोई वैश्य की विद्या सीखेगा, कोई पशु पालन की विद्या सीखेगा, कोई व्यापार विषयक विद्याओं को पढ़ेगा, कोई उद्योग सम्बन्धी विद्या को सीखेगा और कोई किसी प्रकार का कला कौशल से सम्बन्धी विद्या का अध्ययन करेगा। ये लोग राष्ट्र के लोगो के जीवन में काम आने वाली भांति भांति की चीजो का निर्माण करेंगे और व्यापार द्वारा उन चीजो को जनता तक पहुंचायेगे। इस प्रकार भांति भांति की चीजो का निर्माण और व्यापार करके जनता के अभाव जनित कष्टो को दूर करना और राष्ट्र की भौतिक सम्पत्ति को बढ़ाना इन वैश्यों का व्रत होगा।

राष्ट्र की भौतिक सम्पत्ति को बढ़ाने का यह कार्य वैश्य लोग, निष्काम भाव से राष्ट्र की सेवा की। भावना से अपना व्रत और धर्म समझकर करेंगे।

राष्ट्र के ब्राम्हणो ने निष्काम भाव से प्रजा में विद्या विज्ञानों, सत्य, न्याय और धर्म के प्रचार का व्रत लिया हें क्षत्रियों ने निष्काम भाव से अन्याय से प्रजा की रक्षा करने का व्रत लिया है। कोई ऊंची योग्यता न होने के कारण शूद्रो ने शेष तीनों वर्णो के लोगो की सेवा का व्रत लिया।

ब्राम्हण और क्षत्रिय धन सम्पत्ति कमाने में अपना समय नही लगा सकते क्योंकि वैसा करने से राष्ट्र के लिये अत्यन्त उपयोगी उन कार्यो की हानि होगी जिन्हे वे कर रहे हे। शूद्र

में धन सम्पत्ति कमाने की योग्यता ही नहीं है। वह तो सेवा ही कर सकता है। इसलिये वैश्य लोग यह व्रत लेते है। कि अज्ञान से राष्ट्र की रक्षा का व्रत लेने वाले ब्राम्हणों की, अन्याय से रक्षा का व्रत लेने वाले क्षत्रियों की और सेवा का व्रत लेने वाले शूद्रो की पालना का काम, निष्काम भाव से हम करेंगे। अपने राष्ट्र के ब्राम्हण, क्षत्रिय और शूद्रो को धन सम्पत्ति के अभाव का कष्ट न होने देंगे। यह व्रत लेकर वैश्य लोग अपनी धनसम्पत्ति से शेष ब्राम्हणादि तीनों वर्षो की भी पालना करते है।

केवल धन सम्पत्ति कमाने वाले को वैश्य नहीं कहते। धन सम्पत्ति तो डाकू भी इकट्ठा कर लेते है। वह वैश्य नहीं। वह दस्यु है, दण्डनीय है। वैश्य वह है जो धर्मपूर्वक धन सम्पत्ति कमाता है और कमाई हुई सम्पत्ति को राष्ट्र के लोगो के भले के लिये खर्च कर देता है, ऐसा करना अपना व्रत और धर्म समझता है। वर्णाश्रम धर्म के रंग में रंगा हुआ वैश्य अपने नौकरों और मजदूरो का पेट नहीं काटेगा। प्रत्युत उन्हे अधिक से अधिक वेतन देगा। क्योंकि वह तो अपने व्रत के अनुसार कमाता ही एक प्रकार से उनके लिये ही है। सच्चा वैश्य राज्य को दिये जाने वाले करों को छिपायेगा नहीं, वह राज्यों द्वारा लगाये गये सब करो को पूरा पूरा देगा। क्योंकि वह जानता है कि उसके इन करो से प्राप्त धन से राष्ट्र के क्षत्रिय आदि की पालना हो रही है। और फिर वह तो अपने व्रत के अनुसार कमाता ही उनकी पालना के लिये है। अपने नौकरो को अच्छा वेजन देने और राज्य के करो को चुकाने के बाद जो धन उसके पास बचा रहता है। उसका भी दान करता रहता है। कही विद्यालय, औषधालय, अनुसंधानालय और कही अनाथलय खुलवा देता है। यदि नई संस्था निर्माण एवं संचालन में स्वंय को अक्षम पाता हे। तो पहले से खुली संस्थाओं में अधिक से अधिक सहायता करता है। अपने नगर के छात्रो की सहायता करता है। ब्राम्हणों की सहायता करता है। वानप्रस्थ और सन्यासी लोगो की सहायता करता है। विधवाओं की और अनाथो की सहायता करता है। क्योंकि वह तो अपने व्रतानुसार कमाता ही इनकी सहायता के लिये है। वह जो कुछ कमाता है उसमें उसका अपना हिस्सा तो बहुत थोड़ा होता है। उसका अधिक भाग राष्ट्र के लिये कमाता जाता है जो लोग इस प्रकार अभाव के कष्टो से राष्ट्र के लोगो की रक्षा करने का व्रत ले लेते है उन्हे वैश्य कहा जाता है।

चारों वर्ण राष्ट्र के न्यासरक्षक (ट्रस्टी) हैं –

इस प्रकार वर्णो का चुनाव करके उनके कर्तव्य कर्मो को जीवन भर पालन करने का व्रत लेकर जो लोग ब्रम्हण, क्षत्रिय और वैश्य बनेगे उनका अपना कुछ नहीं होगा। उनका सब राष्ट्र के लिये होगा। उनका ज्ञान, बल और धन की सब शक्ति राष्ट्र के भले में खर्च होगी। वे तो अपनी इन सब शक्तियों के साथ उस प्रकार का ममत्व रखेगे जिस प्रकार ममत्व किसी न्यास के न्यासरक्षक का उस न्यास की सम्पत्ति के साथ होता है। वे स्वंय को एक प्रकार से न्यासरक्षक समझकर ही अपनी इन सब शक्तियों को राष्ट्र के लोगो की भलाई में लगायेंगे। वर्णाश्रम पद्धति के अनुसार इस प्रकार के वर्गो की दीक्षा और व्रत लेने वाले लोगो में पूंजीवाद की पद्धति की कोई बुराई नहीं आ सकती।

शिक्षा विषयक अनूठा सिद्धान्त –

वर्णाश्रम पद्धति शिक्षा के क्षेत्र में यह वर्णो के चुनाव और व्रत का एक अनूठा और अत्यन्त मूल्यवान सिद्धान्त देती है। इस सिद्धान्त की क्रिया में लाने से ही संसार के कष्ट वास्तव में दूर हो सकते है। प्राचीन भारत में इस सिद्धान्त के अनुसार ही शिक्षणालयों में शिक्षा दी जाती थी। तभी भारत में रामराज्य रहता था। आज तो संसार के शिक्षा शास्त्री इस सिद्धान्त को जानते तक नही।

वर्णो का शक्ति–सन्तुलन –

आज की पूंजीवादी समाज व्यवस्था में तो धन इतना सर्वेसर्वा बना हुआ है। कि सब कुछ धन से ही मिलता है। शारीरिक सुख, मान प्रतिष्ठा और राज्य शासन भी धन से ही प्राप्त होता है। वर्णाश्रम व्यवस्था में तीनो उपलब्धियें धनियों के हाथ न रह पायेगी। उनका उचित विनिमय एवं उपयोग होगा। ब्राम्हण को गौरव क्षत्रिय को शासन वैश्य को ऐश्वर्य प्रदान किया जायेगा।

ब्राम्हण की दक्षिणा "गौरव" –

वर्णाश्रम पद्धति में ब्राम्हण को मान प्रतिष्ठा अथवा गौरव सबसे अधिक मिलेगा। किसी भी सभा समाज में उत्सव समारोह में और दरबार में सबसे प्रथम और प्रतिष्ठित स्थान ब्रम्हण को दिया जायेगा। ब्राम्हण के आ जाने पर राजा भी अपना आसन छोड़कर खड़ा हो जायेगा और उसका अभिवादन और सत्कार करेगा। शास्त्रों में लिखा है कि सड़क पर राजा की सवारी जा रही है। और दूसरी ओर सामने से गुरूकुल से पढ़कर निकला नया स्नातक कोई

क्षत्रिय ब्राम्हण अथवा कोई संयासी आ रहा हो तो राजा को चाहिये, उनके जाने के मार्ग छोड़ दे। आज तो सर्वथा इसके विपरीत है। बेचारे स्कूल मास्टरों की कोई प्रतिष्ठा नही। उनका वेतन कम होने के कारण उन्हे सम्मान के योग्य नहीं समझा जाता। उन्हे सबसे पीछे की कतार में खड़ा होना पड़ता है। वर्णाश्रम व्यवस्था में अध्यापक की ब्राम्हण की सबसे अधिक प्रतिष्ठा है। धनी लोगो को जहां कही भी वे जायेगे, ब्राम्हणों और क्षत्रियों के बाद तीसरी पंक्ति में ही बैठने की जगह मिलगी। राज्य के नियम इस प्रकार के रहेगे।

ब्राम्हण के लिये सम्मान विषतुल्य है –

राष्ट्र एवं समाज का कर्तव्य है कि ब्राम्हण को सम्मान दे। दूसरी ओर ब्राम्हण का कर्तव्य है कि वह सम्मान की कामना भी न करे। शास्त्रों में लिखा है कि ब्राम्हण सम्मान से विष की तरह बचकर रहे। पर समाज अपने कल्याण के लिये ब्राम्हणो को सबसे अधिक मान और सत्कार दे। ब्राम्हण बनना बड़ा कठिन है। बहुत थोड़े लोग ब्राम्हण बन सकते है। ब्राम्हणों का मान और सत्कार होते देखकर नवयुवकों को ब्रम्हण बनने की इच्छा होगी। और उनके द्वारा राष्ट्र में विद्या विज्ञान और धर्म का प्रचार होकर समाज का कल्याण होगा। सम्मान के अभाव में आज कोई भी स्कूल मास्टर नहीं बनना चाहता। विवशतः यदि कोई स्कूल मास्टर बन भी गये तो धन कमाने का अवसर मिलते ही स्कूल की नौकरी छोड़कर भाग जाते है।

क्षत्रिय को शासन–प्रभुता –

वर्णाश्रम व्यवस्था में राज्य शासन की प्रभुता "क्षत्रिय वर्ण" के हाथ में रहेगी। क्षत्रिय राजनीति के ज्ञाता ब्राम्हणों के निर्देश में चलकर ही इस प्रभुता का शासन सत्ता का प्रयोग करेंगे। राज सत्ता से मिलने वाली प्रभुता वैश्यों के हाथ में नहीं जाने दी जायेगी। क्षत्रियों को मान और प्रतिष्ठा ब्राम्हणों के पश्चात दूसरी कोटि पर मिलेगी।

वैश्यों को ऐश्वर्य –

"वैश्य" लोगो को धन सम्पत्ति से मिलने वाले सुख और ऐश्वर्य अन्य वर्गो से अधिक मिलेगे। वैश्य लोग, ब्रम्हणों से ज्ञान सीखकर और क्षत्रिय की रक्षा में रहकर ही राष्ट्र की समृद्धि के लिये भौतिक सम्पत्ति को पैदा कर करें। उनकी यह बड़ी भारी सेवा होगी। इसलिये वैश्यों को यह अधिकार होगा कि वे धन सम्पत्ति से प्राप्त होने वाले ऐश्वर्यो को अन्य

वर्णियों से अपेक्षाकृत अधिक भोगे। उन्हे मान और प्रतिष्ठा ब्राम्हण और क्षत्रियों से कम तीसरी कोटि की प्राप्ति होगी। उन्हे मान और प्रतिष्ठा ब्राम्हण और क्षत्रियों से कम तीसरी कोटि की प्राप्ति होगी। वे अपनी धन सम्पत्ति का अपने ही लिये निर्बाध उपयोग न कर सकेगे, निर्वाह के लिये न्यूनतम आवश्यक राशि से अधिक एक निश्चित विशेष राशि का उपयोग वैश्य लोग कर सकेगे। उससे अधिक सब सम्पत्ति पीछे दिखाई गई रीति से राष्ट्र के उपयोग में लगा देनी होगी। इस प्रकार वर्णाश्रम व्यवस्था में वैश्यों के हाथ में मान प्रतिष्ठा राज्य शासन और सम्पत्ति सब न रहकर सम्पत्ति ऐश्वर्य अन्य वर्णो से कुछ अधिक रहेंगे।

इस प्रकार तीनों वर्णो की शक्ति का सन्तुलन करके वर्णाश्रम पद्धति में पूंजीवादी दोष से समाज की रक्षा कर ली गई है। ब्राम्हण वर्ग के हाथ में ज्ञान और प्रतिष्ठा की, क्षत्रिय वर्ग के हाथ में राज्य शासन की और वैश्यवर्ग के हाथ में धन सम्पत्ति की शक्ति है। और फिर तीनों का अत्यन्त परस्पर सहयोग सन्तुलन और सामंजस्य है। तीनों वर्ग, अपनी शक्तियों को परस्पर के कल्याण के लिये लगाने का व्रत लेकर उस व्रत के अनुसार ही चलते है। सब सब को कुछ देते भी है और लेते भी है जिससे सारा राष्ट्र सुखी रहता है। गीता के शब्दों में परस्पर भावयन्तः श्रेय परमवाप्स्ययथ। वाली उक्ति चरितार्थ होती है।

सम्पत्ति हरण –

यदि कोई धनपति अपने व्रत का पालन न करें अपनी सम्पत्ति का राष्ट्रहित में व्यय न करें, अपने सेवको को भी पर्याप्त वेतन न दे, राज्य के करो को भी पूरा न दे, दान भी दे और सारी सम्पत्ति का अपने ही भोग विलास में व्यय करता रहे तो ऐसे सम्पत्ति का दुरूपयोग करने वाले व्यक्ति का वर्णाश्रम व्यवस्था में क्या उपाय है ? इसका स्पष्ट और सरल उत्तर यह है कि ऐसे व्यक्ति को अनुशासित किया जाये। इसके दो उपाय होंगे। एक शम, दूसरा दम।

व्यक्ति का नैतिक कर्तव्य –

वर्ण व्यवस्था का सिद्धान्त लोगो की सच्चरित्रता और सदभावना पर अवलम्बित है। उसमें यह स्वीकार किया गया है कि राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति व्रतनिष्ठ है। व्रतपालन उसका कर्तव्य है। वह तो अपने प्राणों की बलि देकर भी अपने व्रत की रक्षा करना धर्म समझता है। इसलिये व्रत के बन्धन में बंधा हुआ वैश्य भी अपनी सम्पत्ति का दुरूपयोग क्यों करेगा। यही नहीं अन्य वर्णो के व्यक्ति भी अपने कर्तव्यों का ठीक पालन करेंगे। प्रथमतः ऐसे उदाहरण

बहुत कम होगे कि व्यक्ति अपने अधिकारों का दुरूपयोग करेगा। इस पर भी जो व्यक्ति अपने कर्तव्य का पालन नहीं करेगा उसे दण्डित किया जायेगा। वेद में कहा है कि ''जो व्यक्ति नही देता है, सम्राट उसे दिलवाता है''। जो ब्रम्हण विद्या दान नहीं करेगा या विद्या दान करने में पक्षपात करेगा, राजा उसे दण्ड देना। जो क्षत्रिय जो राजकर्मचारी न्याय पर नहीं चलेगा और प्रजा की रक्षा नहीं करेगा, राजा उसे दण्ड देगा। इसी भांति जो वैश्य अपनी सम्पत्ति को राष्ट्र के कल्याण के कामों में नहीं लगा रहा होगा राजा उसकी सम्पत्ति को राष्ट्र के कल्याण के कामो में लगवायेगा, राजा उसकी सम्पत्ति को छीन लेगा।

एक विभाजक रेखा (सुदपयोगवाद) –

पूंजीवादी पद्धति में किसी की सम्पत्ति छीनी नहीं की जा सकती। जबकि वर्णाश्रम व्यवस्था में दुरूपयोग होते ही सम्पत्ति छीनी भी जा सकेगी। यही वह विभाजक रेखा है जो स्पष्टतया दोनो व्यवस्थाओं को एक दूसरे से पृथक करती है। जिस प्रकार पौराणिक हिन्दू समाज व्यवस्था जन्म पर आधारित है, उसी प्रकार पुंजीवादी व्यवस्था भी जन्म पर आधारित है। हिन्दू समाज व्यवस्था में कोई व्यक्ति इसलिये ब्राम्हण है कि वह ब्राम्हण के घर जन्मा है। कोई व्यक्ति इसलिये शूद्र रहेगा कि वह शूद्र के घर जन्मा है। पूंजीवादी पद्धति में कोई व्यक्ति पिता की सम्पत्ति का इसलिये अधिकारी है कि वह उसके घर जन्मा है। पुत्र होने के कारण पिता की सम्पत्ति उसी की है। यह उसका चाहे जिस प्रकार उपयोग करें। उससे उसकी सम्पत्ति छीनी नहीं जा सकती। पूंजीवादी का यह सिद्धान्त वैदिक व्यवस्था मे मान्य नहीं है। वैदिक धर्म में जिस प्रकार वर्णो की व्यवस्था गुण कर्म स्वभाव पर आधारित है, उसी प्रकार सम्पत्ति का स्वामित्व भी सदुपयोग पर आधारित है। सम्पत्ति उसी की है, जो उसका सदुपयोग करें। यह सदुपयोग वाद ही वर्णाश्रम पद्धति को पूंजीवादी पद्धति से पृथक करता है।

श्रमाधिकारी और स्वामित्वः–

सम्पत्ति के अधिकार का एक अन्य आधार भी माना जाता है और वह आधार है श्रम। जिसने श्रम करके सम्पत्ति को पैदा किया है, सम्पत्ति उसकी है। पूंजीवाद जन्माधिकार के साथ सम्पत्ति के श्रमाधिकारी को भी मानता है। साम्यवादी (कम्यूनिस्ट) लोग सम्पत्ति के जन्माधिकार को तो नही मानते, किन्तु श्रमाधिकार को मानते है। इसलिये वे कहते है कि कारखानों और खेतों में पैदा होने वाली सम्पत्ति क्योंकि उनमें काम करने वाले

मजदूरों के परिश्रम से तैयार होती है। इसलिये उस पर मजदूरो का अधिकार होना चाहिए। कारखाने का पूंजीपति मालिक और जमीदार जो कारखाने और खेत में कुछ भी काम नही करते उनका वहां पैदा होने वाली सम्पत्ति पर कुछ अधिकार नही होना चाहिए। पर केवल श्रम क़े आधार पर सम्पत्ति पर अधिकार मानने का यह सिद्धांत भी ठीक नही है। एक व्यक्ति अपने परिश्रम से कमाई सम्पत्ति को सड़क पर फूंक दे और अपने परिश्रम से अर्जित मकान को फूंक दे तो क्या उसे ऐसा करने का अधिकार है? यदि हां तो क्या उसका अनुकरण राश्ट्र के सब लोगों को करने दिया जायेगा? क्या ऐसा करने वाले व्यक्ति को पागल समझा जायेगा ? किसी व्यक्ति को अपने परिश्रम से कमाई हुई सम्पत्ति के साथ भी मनमाना व्यवहार नही करने दिया जा सकता। यदि अपने परिश्रम से कमाई सम्पत्ति को भी व्यक्ति किसी ऐसे कार्य में लगा रहा हो, जिससे राष्ट्र के लोगों को किसी न किसी रूप में कष्ट पहुंचता है अथवा राष्ट्र के सार्वजनित हित की हानि होती है तो वह सम्पत्ति उससे छीन ली जायेगा। सम्पत्ति उसे अपने पिता से मिली हो चाहे उसने अपने परिश्रम से उपार्जित की हो, उस पर व्यक्ति अधिकार तभी तक है जब तक व्यक्ति उसका सदुपयोग करता है। दुरूपयोग करने की अवस्था में सम्पत्ति छीन ली जायेगी।

सम्पत्ति का व्यक्तिगत स्वामित्वः—

पूंजीवादी पद्धति में सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व के सिद्धान्त को माना जाता है । व्यक्ति को जो सम्पत्ति अपने पिता से उत्तराधिकार मे मिली है वह भी उसकी निजी सम्पत्ति है और जो सम्पत्ति उसने अपने परिश्रम से कमाई है वह भी उसकी निजी सम्पत्ति है । वह अपनी इस सारी सम्पत्ति को उत्तराधिकार रूप में अपनी सन्तान को दे सकता है। फिर उत्तराधिकार में दी गई वह सम्पत्ति उसकी सन्तान की निजी सम्पत्ति हो जायेगी। सम्पत्ति पर कमाने वाले व्यक्तिगत स्वामित्व रहने से— एक भारी लाभी तो यह होता है ही कि ममत्व के कारण व्यक्ति कमा रहा है और यह मेरी हैं, इस भावना के कारण— व्यक्ति सम्पत्ति को उत्पन्न करने में और उसे बढ़ाने में अत्यधिक परिश्रम करता है।

वर्णाश्रम—व्यवस्था में भी सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है वेद में भांति—भांति की धनसम्पत्ति कमाने के लिए मनुष्यों को आदेश दिया गया है अपना सुख—मंगल बढ़ाने के लिए भगवान से की जाने वाली वैदिक प्रार्थनाओं में उपासक धन प्राप्ति की प्रार्थनायें भी बार—बार करता हैं वेद का उपासक अपने परमात्मा और

अपने राजा से यह भी प्रार्थना करता है कि हम पिता से उत्तराधिकार में मिलने वाली धन–सम्पत्ति के स्वामी बनें। मनुष्यों को भांति–भांति की धनसम्पत्ति कमाने सम्बंधी दिये गए वेद के इन आदेशों और प्रार्थनाओं से यह स्पष्ट परिणाम निकलता है कि व्यक्ति द्वारा कमाई सम्पत्ति उसकी निजी है, जिसका वह अपने जीवनकाल में तो उपयोग कर ही सकता है, साथ ही वह उत्तराधिकार में अपनी सन्तान को भी दे सकता है।

व्यक्तिगत स्वामित्व पर प्रतिबन्धः–

वर्णाश्रम व्यवस्थ में सम्पत्ति का यह व्यक्तिगत स्वामित्व निर्बाध एवं निष्प्रतिबनध नहीं है पूंजीवाद में यह व्यक्तिगत स्वामित्व निर्बाध एवं निष्प्रतिबन्ध है, जिसके कारण आज की समाज व्यवस्था में वे सब दोष आ रहे है जिनकी ओर लेख के आरम्भ मे संकेत किया गया है। वर्णाश्रम व्यवस्था में सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व पर कई तरह के प्रतिबन्ध है जिनका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। इन प्रतिबन्धों के कारण ही वर्णाश्रमधर्मी व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का कभी दुरूपयोग नही करेगा वह अपनी सम्पत्ति को राष्ट्र के हित में ही व्यय करेगा। इन प्रतिबन्धों के कारण ही वर्णाश्रम व्यवस्था में दिया गया सम्पत्ति के निजत्व का अधिकार उन बुराईयों का कारण नही बनेगा जिन बुराईयों का कारण पूंजीवादी पद्धति में बना रहता है।

वर्णाश्रम–व्यवस्था में आध्यात्मिक प्रतिबन्धः–

वर्णाश्रम–व्यवस्था सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व पर लगायें गये प्रतिबन्धों की एक विशेषता है। ये प्रतिबन्ध जहां सम्पत्ति के दुरूपयोग और उसकी बुराईयों को रोकते है वहां ये प्रतिबन्ध ऐसे भी है जिनसे व्यक्ति का आत्मा उन्नत होता है– वह श्रेष्ठ पुरूष बनता है। इन प्रतिबन्धों के परिणामस्वरूप व्यक्ति ऊंचा उठकर स्वेच्छा से अपनी सम्पत्ति का प्रयोग राष्ट्र की जनता के कल्याणार्थ करता है और यदि कभी कोई व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का दुरूपयोंग करता है तो जैसा ऊपर कहा गया है कि वेद की आज्ञानुसार उसकी सम्पत्ति छीन ली जायेगी। सम्पत्ति छिन जाने के भय से किसी व्यक्ति को राष्ट्र के कल्याण में अपनी सम्पत्ति व्यय करने के व्रत को तोड़ने का साहस नही होगा। दुरूपयोग करने पर सम्पत्ति छिन जाने का भय सामान्यतः अप्रत्यक्ष रूप से लोगों पर पड़ रहेगा। लोग प्रत्यक्ष यही समझकर अपनी सम्पत्ति को राष्ट्र के हित में अपनी सम्पत्ति का व्यय करने रहने से उनके आत्मा को एक ऊंचा आध्यात्मिक सन्तोष होगा कि वे एक अच्छा और पवित्र काम कर रहे

हैं। प्रत्यक्ष रूप में तो यह दण्ड कभी–कभी किसी को देना पड़ेगा। जैसे चोरी पर दण्ड मिलने का कानून होने से लोग चोरी करने से रूके रहते हैं प्रत्यक्ष में तो चोरी करने पर दण्ड कम लोगों को देना पड़ता है अधिकांश लोगों के मानों पर तो दण्ड का यह भय अप्रत्यच रूप से प्रभाव डालता है यह भय उनके मन की पृष्ठभूमि मे दबा पड़ा रहता है। प्रत्यक्षतः तो अधिकांश लोग यही समझकर चोरी करने से बचे रहते है कि चोरी करना अच्छा काम नहीं होता और उनके आत्मा को सन्तोष रहता है वे चोरी से बचे रहकर अच्छा और पवित्र काम कर रहे हैं। इस प्रकार वर्णाश्रम–व्यवस्था व्यक्ति की सम्पत्ति को राष्ट्र के हित में तो ले लेती हैं पर इस पद्धति में व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को स्वंय प्रसन्नता से देता और उसे देते हुए वह अपने आपको ऊँचा उठता हुआ गौरवान्वित अनुभव करता है। इस दृष्टि से वर्णाश्रम–व्यवस्था की पद्धति एक आध्यात्मिक पद्धति भी है।

साम्यवाद के भौतिक प्रतिबन्धः—

साम्यवाद और उसी की एक अन्य शाखा समाजवाद भी सम्पत्ति पर प्रतिबन्ध लगाते है जिससे कि उस के द्वारा होने वाले देशों का परिहार किया जा सके। परन्तु ये प्रतिबन्ध केवल भौतिक है जो कानून पर आधारित है। इन प्रतिबन्धों से व्यक्ति यह अनुभव करता है कि उससे उसकी सम्पत्ति छीनी जा रही है। व्यक्ति अनुभव करता है कि वह निर्बल है, इसलिए उसे दबाया जा रहा है। उसकी यही अनुभूति उसके आत्मा पर बुरा प्रभाव डालती है। वह एक प्रकार की उदासीनता एक प्रकार की हीनता एक प्रकार का घुटन अनुभव करता है। वह अन्दर ही अन्दर असन्तुष्ट एवं खिन्न रहता है। वह पसीने से कमाई हुई सम्पत्ति को छीन लेने वाले राज्यप्रबन्ध और समाज व्यवस्था की निन्दा करने लगता है और उन्हें गालियां देने लगता है। उसकी यह मनोदशा और उनका प्रतिकार कर सकने में अशक्यता और भीरूता उसकी आत्मा को हीन बना देती है। उसका आत्मसन्तोष जिसमें आत्मगौरव जाता रहता है। सम्भवतः इसका कारण उनका जड़वादी दर्शन है। जिसमें आत्मोन्नति को कोई स्थान नहीं। इस दृष्टि से वर्णाश्रम–व्यवस्था सर्वोपरि और सर्वोत्तम है कि जिसमें भौतिक धन–सम्पत्ति के साथ–साथ मनुष्य के आत्मोन्नति का भी ध्यान रखा जाता है।

साम्यवाद में व्यक्तिगत स्वामित्व नहीं:—

साम्यवाद सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व को स्वीकार नहीं करता। साम्यवाद में सम्पत्ति किसी व्यक्ति न होकर, उस समाज या राष्ट्र की होती है जिसका वह होता है।

व्यक्ति समाज की उस सम्पत्ति में से केवल अपने जीवन निर्बाह के लिए आवश्यक सम्पत्ति का उपभोग कर सकता है। जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक सम्पत्ति का उपभोग कर सकता हे। जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक सम्पत्ति से अधिक सम्पत्ति को न कोई संग्रह ही कर सकता है और न उत्तराधिकार में अपनी सन्तानों को ही दे सकता है। उत्पत्ति के सब साधन, जमीन और कारखाने आदि, तथा उनसे उत्पन्न होने वाली सारी सम्पत्ति राष्ट्र की होती है व्यक्ति खेतों और कारखानों आदि में जो काम करता है वह इसलिये नही कि वे उसके अपने निजी है और उनसे उसने कोई अपनी निजी सम्पत्ति पैदा करनी है वह खेतों और कारखानों आदि में राष्ट्र नौकर या सेवक के रूप में ही काम करता है किन्तु उनमें पैदा होने वाली सब सम्पत्ति राष्ट्र की होती है। राष्ट्र का सेवक होने के नाते व्यक्ति राष्ट्र की उस सम्पत्ति में से अपने जीवन निर्बाह के लिए आवश्यक सम्पत्ति का उपभोग भर कर सकता है। इसीलिये 1917 की क्रांति के पश्चात रूस में जब साम्यवादी लोगों का शासन प्रारम्भ हुआ तो जहां उन्होनें यह व्यवस्था बना दी थी कि जमीन और कारखाने तथा अन्य उत्पत्ति के साधन किसी व्यक्ति के नही होगें और न उनसे उत्पन्न सम्पत्ति ही किसी व्यक्ति की होगी। वह सारे राष्ट्र की होगी। वहां व्यक्तियों को आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति संग्रह के प्रलोभन से रोकने के लिए उन्होनें यह व्यवस्था भी बना दी थी कि कोई भी व्यक्ति बैंक में रूपया जमा नही कर सकता। और न अपने जमा किये हुये रूपये को ही अपनी सन्तान को उत्तराधिकार में दे सकता है। इस प्रलोभन से रोकने के लिए शुरू में उन्होनें यह व्यवस्था बनाई थी कि किसी को नगद रूपये के रूप में वेतन ही न दिया जाये। किसी भी कर्मचारी को उसके काम के बदले में परचिये मिल जाती थी उन परचियों को देकर व्यक्ति दुकानो से उनके बदले में अपने खाने–पीने आदि का आवश्यक सामान ले आता था। न किसी को नकद रूपये मिलेगा, न कोई उसे ब्याज पर चढ़ा सकेगा न व्यापारियों में लगा सकेगा। न उससे कोई निजी लाभ ही उठा सकेगा और न कोई उसे बैंकों में जमा ही कर सकेगा, न होगा बांस और न बजेगी बांसुरी । साम्यवादी लोगों सम्पत्ति के निजाधिकर विषयक सिद्धांन्त यह है– उनके विचारों में सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व को सर्वथा नष्ट किये बिना पूंजीवाद के दोषो और हानियों से छुटकारा नही हो सकता।

व्यक्तिगत स्वामित्व और मनोवैज्ञानिक तथ्यः–

साम्यवादी व्यवस्था में एक कमी है जिसकी और साम्यवाद का ध्यान ही नहीं गया सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व के सिद्धांत में एक मनौवैज्ञानिक सच्चाई है, वह है व्यक्ति की अंहकार और ममत्व की भावना से लाभ उठाना। प्रत्येक व्यक्ति में अंहकार और ममत्व की मैं और मेरा की भावना पाई जाती है और प्रबल रूप में पाई जाती है। इस भावना से प्रेरित होकर व्यक्ति अपने तथा अपनों के लिए बड़े से बड़ा परिश्रम करने और बड़े से बड़ा कष्ट उठाने के लिए उद्यत रहता है। जब कोई व्यक्ति किसी काम को अपने तथा अपने के लिए लाभदायक समझकर करता है तो उसे सफल बनाने में कोई कसर नही छोड़ता और दिन–रात एक कर देता है।

हम प्रतिदिन देखते है कि जो लोग वेतन लेकर काम करते हैं वे उस काम को सफल बनाने के लिए भरपूर प्रयत्न नहीं करते। वे दफ्तर के समय पर काम करने जाते है और दफ्तर का समय हो जाने पर काम करना बन्द करके अपने घर चले आते हैं उसके आगे पीछे उन्हें उस काम में कभी कोई रूचि नहीं होती। सेवा के निश्चित घण्टों में भी ईमानदारी से दिल लगाकार काम नही करते। गपशप में बहुत सा समय बिता देते हैं क्योंकि उस कार्य के प्रति इन लोगो में ममत्व की अपनेपन की भावना नहीं होती उस का पूरा ध्यान ओर पूरी शक्ति नही लगती। परिणामतः काम कम होता है और व्यय अधिक होता है, न केवल राष्ट्र के लोगों की आवश्यक पूर्ति का सामान कम मात्रा में पैदा होता है, घटिया किस्म का पैदा होता है और अधिक महंगा होता अपितु राष्ट्र के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर भी विपरीत पड़ता है राष्ट्र की सीख मारी जाती है।

दूसरी ओर हम यह भी देखते हैं कि जो लोग किसी काम को अपना समझकर करते है वे उस काम को सफल बनाने में कोई असर नही छोड़ते दिन–रात एक कर देते हैं उन्हें सोते–जागते उस काम को सफल बनाने की ही चिन्ता रहती है। वे उसने अपने समय का एक–एक क्षण और अपनी शक्ति का एक–एक बूंद लगा देते हैं। ममत्व की इस भावना का परिणाम यह होता है कि काम अधिक होता है, अच्छा होता है और कम समय में होता है, कम व्यय में होता है। फलतः राष्ट्र के लोगों की आवश्यकता पूर्ति का सामान अधिक मात्रा में, बढ़िया सस्ता और उत्पन्न होता है। उससे राष्ट्र के उपभोक्ताओं की आवश्यकतायें भी भली भांति पूरी होती है। और राष्ट्र की सामूहिक वस्तुसामग्री भी अधिक और बढ़िया रहती है। जिसके फलस्वरूप राष्ट्र का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का पलड़ा सदैव भारी रहता है अन्य देशों में उसकी सदैव साख बनी रहती है।

वर्णाश्रम–व्यवस्था और व्यक्तिगत स्वामित्वः–

वर्णाश्रम–व्यवस्था में सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व को स्वीकार किया गया है व्यक्ति को किसी भी सम्पत्ति को अपनी समझकर कमाने का अधिकार है। वह अपनी संगृहीत सम्पत्ति को उत्तराधिकार में अपनी सन्तान को भी दे सकता है। वर्णाश्रम व्यवस्था में अंहकार और ममत्व की इस मनोभावना से राष्ट्र के सामूहिक हित में लाभ उठाया गया है। सम्पत्ति पर ममत्व का भावना व्यक्ति को प्रेरित करती है कि वह अपना सारा ध्यान साधन शक्ति एवं समय कार्य के सफल बनाने में केन्द्रित कर दें। जिसका परिणाम यह होगा कि चीजें अधिक मात्रा में बनेंगी, बढ़िया बनेगी कम समय में बनेंगी, सस्ती बनेंगी। इससे राष्ट्र के उपभोक्ताओं की आवश्यकतायें भी अधिक अच्छी तरह पूरी हो सकेंगी और सामूहिक रूप से भी राष्ट्र का वैभव बढ़ेगा।

साम्यवाद के आदर्श में भी ढीलः–

सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व और अधिकार सर्वर्था न रहने देने का साम्यवाद का यह आदर्शवाद रूप से भी अपने शुद्ध रूप में स्थिर न रह सका। प्रारम्भ में रूस में साम्यवादी किसी कर्मचारी को वेतन नही देते थे, उसे काम के बदले में परचियें दी जाती थी जिन्हें स्टोंरो या दुकानों पर देकर कर्मचारी उनके बदले में वहां से अपनी आवश्यकता का खाने, पीने पहनने आदि का सामान ले सकते थे। कोई व्यक्ति बैंक में रूपया जमा नहीं कर सकता था। राष्ट्र की सम्पत्ति पर सबका समान अधिकार समझा जाता था।

कम्युनिज्म व्यक्ति के ममत्व लाभ से वंछितः–

जब सब को बराबर काम करना है , काम किसी भी प्रकार का हो मूल्य सबका बराबर है जब काम के बदले में सबको बराबर प्रतिफल मिलता है और जब किसी भी वस्तु पर किसी भी रूप में अपनापन रहना नही हो ऐसी अवस्था में व्यक्ति को अपनी सारी शक्ति लगाकर, मर–खपकर दिन रात एक करके काम करने की क्या आवश्यकता है ? कर्मचारियों में यह भावना पैदा होने का फल यह होता है कि काम अधिक मात्रा में नही होता और वस्तुयें उत्तम नही बनतीं।

आदर्शवाद व्यावहारिक न रहा :–

रूस में भी यही हुआ। कर्मचारी आशा के अनुरूप काम नही करते थे। काम थोड़ा होता था और अच्छा नही होता था। वस्तुओं का निर्माण अधिक मात्रा में नही होता था, और वस्तुएं बढ़िया नही बनती थी। इसलिये रूस के साम्यवादी नेताओं को व्यवहार में अपने आदर्शवाद को कुछ ढीला करना पड़ा। इन्हें एक प्रकार से पूंजीवादी पद्धति के साथ बहुत कुछ समझौता करना पड़ा। उन्हें कर्मचारियों को वेतन देने की रीति फिर बनानी पड़ी एवं वेतन भी कम और अधिक मात्रा में दिया जाने लगा। कम कुशल कर्मचारी को कम वेतन और अधिक कुशल कर्मचारी को अधिक वेतन दिया जाने लगा। अपेक्षया कम महत्वपूर्ण काम करने पर कम वेतन और अधिक महत्वपूर्ण करने पर अधिक वेतन मिलने लगा। आज रूस में कर्मचारियों को मिलने वाले कम वेतन और अधिक से अधिक वेतन की मात्रा में बड़ा अन्तर हैं रूस में से कम और अधिक अधिक आमदानी का अनुपात लगभग एक और 80 का है। वहां मजदूरों और सामान्यतया 400 से 500 रूपये उसकी तुलना में विशेषज्ञ और महत्वपूर्ण काम करने वाले को 30 से 40 हजार रूपये तक का भी वेतन देने की व्यवस्था है। इन दोनो सीमाओं के बीच में कर्मचारियो को उनकी योग्यता और काम के महत्व के अनुसार मिलने वाले वेतनों की मात्रा में पर्याप्त मिलता है इतना ही नही कर्मचारियों से अधिक काम कराने के लिए आज के रूस मं कर्मचारियों से ठेके पर भी काम लिया जाता है। जो कि विशुद्ध पूंजीवादी व्यवस्था है तथा अच्छा और अधिक काम करने पर कर्मचारियों को पुरस्कृत भी किया जाता है, उन्हें लाभांश भी दिया जाता है। रूस के लोग सरकारी बांड भी खरीद सकते हैं। जिन पर 7 या 8 प्रतिशत तक का ब्याज बैंकों से मिलता है। अब वहां कर्मचारी अपने वेतन में से रूपया बचाकर बैंक में भी अपना हिसाब रख सकते हैं। जिससे वे समय आने पर अपने रूपयों का अभीष्ठ उपयोग कर सकें। आज रूस की अर्थ–व्यवस्था बहुत अंश में लाभ और लाभ के पूंजीवादी सिद्धांत को अपनाकर चल रही है। अपने बचाये रूपयों को उत्तराधिकार में देने की सुविधा भी दे दी गई है। यह अवश्य है कि रूपया अपनी इच्छानुसार केवल अपने तथा अपने बच्चों की सुख–सुविधा तथा उनके शिक्षण आदि पर ही व्यय किया जा सकता है। उस रूपये को सम्पत्ति के उत्पादन में नही लगाया जा सकता । इस प्रकार रूस में शासक वर्ग साम्यवादी आदर्श को ढीला कर उसे व्यावहारिक रूप दे रहा है। कर्मचारियों की आमदनी में भिन्नता की, एक सीमित अंश में सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व की बात स्वीकार करनी पड़ी। क्योंकि साम्यवाद के आदर्श का पूर्णतः पालन करने की

अवस्था में व्यक्ति के अहंभाव और ममत्व को किसी भी काम में अपनी पूरी शक्ति नही लगा सकता।

अपने आदर्शवाद में रूस के साम्यवादियों द्वारा इस प्रकार की कुछ ढीलें बाधित होकर करनी पड़ी। ये अब भी रूस में सर्वसाधारण लोग, अपने को सर्वथा स्वतंत्र अनुभव करते हुये पूरा काम नहीं करते । उनके द्वारा उत्पनन की गयी सम्पत्ति उनकी नही होती । वे कारखाने आदि के राज्य द्वारा नियुक्त प्रबन्धकों के नौकर मात्र होते हैं। अभी तो इतना ही हुआ है कि उन्हें वेतन योग्यतानुसार कम अधिक मिलने लगे हैं। तथा खर्च रूपयें को बैंकों में रख सकने और अपनी सम्पत्ति को उत्तराधिकार में दे सकने आदि की कुछ सुविधायें दी जाने लगी है।

वर्णाश्रम–

व्यवस्था में व्यक्ति के अंहभाव और ममत्व का ध्यान रखकर उसका पूरा लाभ उठाया गया हैं इस दृष्टि से भी आश्रम पद्धति साम्यवाद के आदर्शवाद से कहीं अधिक श्रेष्ठ और उपयोगी हैं।

प्रतिस्पर्धा का तत्वः–

सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व के सिद्धान्त के आधार पर जब सम्पत्ति कमाई जाती है तो उसमें एक और तत्व निविष्ट रहता है वह तत्व होता प्रतिस्पर्धा का प्रत्येक कमाने वाला दूसरों से अधिक सम्पत्ति कमाना चाहता है। और इसके लिए वह घोर परिश्रम करता है इस प्रतिस्पर्धा की भावना का परिणाम यह होता है कि व्यक्ति सम्पत्ति पैदा करने में अपना सारा समय और सारी शक्ति लगा देता है। क्योंकि वह औरों से आगे बढ़ता चाहता है। फलतः काम अधिक होता है अच्छा होता हैं कम समय में होता है और कम पैसे में होता है जो वस्तुंए बनती है वे मात्रा में अधिक बनती हैं उत्तम बनती है कम व्यय बनती हे अतएव सस्ती बनती हैं परिणाम स्वरूप ऐसे व्यक्ति की एवं उसके माल की अपेक्षया अधिक मांग रहती है और वह सम्पत्ति कमाने के क्षेत्र में औरों से आगे बढ़ जाता है। वस्तुयें मात्रा में अधिक उत्तम तथा सस्ती होने से राष्ट्र की सामूहिक सम्पत्ति की भी वृद्धि होती हैं वर्णाश्रम–व्यवस्था में सम्पत्ति कमाने की यह प्रतिस्पर्धा पूंजीवादी प्रतिस्पर्धा की भांति भोग विलास की पूर्ति और दूसरों के उत्पीड़न में काम नही आती। वर्णाश्रम–व्यवस्था के सांचे में ढला हुआ वैश्य व्यवसायी राष्ट्रहित में अपनी सम्पत्ति को दान दे देता है क्योंकि वह यह व्रत लेकर ही

सम्पत्ति कमाने निकलता है। उसकी प्रतिस्पर्धा इसीलिए होती है कि अधिक से अधिक सम्पत्ति कमाकर उसे राष्ट्रहित में लगाये। वह तो एक प्रकार से राष्ट्र का न्यासंरक्षक होकर राष्ट्रहित में राष्ट्र के लोगों को सुख पहुंचाने की दृष्टि से ही सम्पत्ति कमाने की प्रतिस्पर्धा में पड़ता है। वर्णाश्रम –व्यवस्था की इस स्वस्थ प्रतिस्पर्धा से राष्ट्र को जो लाभ मिलता हैं साम्यवाद उससे भी वंचित रहता है।

व्यक्ति की योग्यता और रूचि में भेदः–

वर्णाश्रम– व्यवस्था की पद्धति इस बात को भी खुले रूप में स्वीकार करती है। कि सब मनुष्य अपनी अभिरूचियों योग्यता, परिश्रम शक्ति और स्वभाव आदि की दृष्टि से समान नही होते। किसी की रूचि कैसी होती है और किसी की कैसी। किसी में किसी प्रकार की योग्यता होती है और किसी में किसी प्रकार की। एक प्रकार की योग्यता में भी किसी में कैसी योग्यता है और किसी में अधिक कोई कम परिश्रम कर सकता है और कोई अधिक तथा किसी का स्वभाव किसी प्रकार का होता है और किसी का किसी प्रकार का। वेद में इसी बात को दोनों हाथों की कार्यशक्ति के भेदक उपमा देकर समझाया है– मनुष्य के दोनो हाथ देखने मे तो एकसमान हाते हैं तो भी उनमें कार्य करने की एकसमान नही होती एक ही गाय की दो बच्छिंए एक जितना दूध नही देती, दो जोड़ियें भाईयों में भी एक जैसा बल और पराक्रम नही होता, एक ही वंश के दो व्यक्ति एक जैसे उद्धार नही होते और एक जितना दान नही करते। दूसरे स्थान पर वेद कहता है कि तुम भिन्न–भिन्न स्वभाव वाले जीवधारियों को अपने–अपने काम धन्धे देखने–भालने के लिए रात्रि के पीछे अन्धकार से बाहर कर देती है। किसी को क्षत्रिय के यशस्वी काम करने के लिए किसी को ब्रहाम्ण के यज्ञादि के काम करने के लिए किसी को धन कमाने के, वैश्य के काम करने के लिए और किसी को चल–फिरकर शूद्र के काम करने के लिए। इस प्रकार वेद की सम्मति में मनुष्यों की रूचि, योग्यता, परिश्रम करने की शक्ति और स्वभाव सब भिन्न–भिन्न होते हैं।

हमें व्यक्ति की रूचि, योग्यता, काम करने की शक्ति और स्वभाव आदि को ध्यान में रखकर ही उसे कोई काम देना चाहिये और उसी के अनुसार उसे उसके परिश्रम का प्रतिफल भी देना चाहिये साम्यवाद में व्यक्तियों के इसी रूचि–भेद, योग्यता–भेद और स्वभाव – भेद को ध्यान में नहीं रखा जाता। वहां तो सब समान है। एक ही लाठी के हांके जाने वाली व्यवस्था चलती है। सारी सम्पत्ति राष्ट्र की, व्यक्ति जो भी कुछ पैदा करता है सब

राष्ट्र का, जो परिश्रम कर सके उतना परिश्रम उसे करना ही चाहिये। सब के परिश्रम का मूल्य बराबर है। परिश्रम के प्रतिफल के रूप में प्रत्येक व्यक्ति को राष्ट्र की सम्पत्ति में से खाने, पीने पहिनने आदि के लिए यथेष्ट मिल जायेगा। साम्यवाद का आदर्श इतना ही है।

वर्णाश्रम–व्यवस्था इस आदर्शवाद को स्वीकार नहीं करती । वहां तो व्यक्तियों की रूचि और योग्यता–भेद को स्वीकार किया जाता है। कोई काम राष्ट्र के लिए अधिक महत्व का होता है तो कोई कम महत्व का। राष्ट्र के राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री का या षिक्षा–संस्थाओं में अध्यापन करने वाले उपाध्यायों का और अनुसंधानशालाओं में नये–नये अविष्कार करने वाले वैज्ञानिकों का काम एक टोकरी ढोने वाले मजदूर के काम की अपेक्षा कहीं अधिक महत्व का है। इसी प्रकार और और कामों के महत्व का भी तारतम्य है। राष्ट्र की रक्षा की रक्षा के और राष्ट्र में शिक्षा और ज्ञान–विज्ञान के प्रचार के काम दूसरे कामों की अपेक्षा अधिक महत्व के हैं। किसी भी व्यक्ति को उसके काम का जो पारिश्रमिक या प्रतिफल दिया जाये–वह उसकी योग्यता, उसके काम के महत्व और उसकी रूचि को ध्यान में रखकर दिया जाना चाहिये।

पूर्ण साम्य मनुष्य–स्वभाव के विपरीत है :–

लोगों की योग्यता, रूचि और काम के महत्व को ध्यान में रखकर उन्हें यथोचित पारिश्रमिक या दक्षिणा न दी जाएगी तो लोगों में काम करने की प्रेरणा नहीं रहेगी। इस प्रेरणा के न होने से को उनकी योग्यता और शक्ति का पूरा लाभ न मिल सकेगा। परिणामतः न राष्ट्र समृद्ध होगा और न जनता सुखी होगी। रूस में साम्यवादियों के आगे भी यह कठिनाई आई और उन्हें साम्यवादी दल के प्रमुख लोगों को राज्य के प्रमुख अधिकारियों को जो सुविधायें और अधिकार प्राप्त हैं वे सुविधायें ओर अधिकार सर्वसाधारण को प्राप्त नहीं। मनुष्यों की योग्यता, रूचि और प्रवृत्ति–भेद को ध्यान में रखे बिना यदि सब के साथ सर्वथा समान वर्ताव किया जायेगा तो साम्यवाद का यह आदर्श अधिक देर नहीं चल सकेगा। क्योंकि यह मनुष्य–स्वभाव के विपरीत है। वर्णाश्रम–पद्धति में साम्यवाद के सिद्धान्त को पूर्णतः स्वीकार नहीं किया गया। उसमें मनुष्यों की योग्यता, रूचियों प्रवृति और कार्यशक्ति के मौलिक भेद को स्वीकार किया गया है। उसी पर वर्णाश्रम–व्यवस्था का सुदृढ़ भवन खड़ा है। जिसका सुखद परिणाम राष्ट्र और समाज को प्राप्त होता है।

शिक्षा में अवसर की पूर्ण समानता :—

वर्णाश्रम पद्धति में शिक्षा—प्राप्ति के अवसर समान हैं। राष्ट्र के सब लोगों को ऊँची से ऊँची शिक्षा प्राप्त करने का अवसर समान रूप से मिलेगा। ऋषि दयानन्द ने अपने महान् ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में शिक्षा—विषयक विचार देते हुए लिखा है कि इसमें राज—नियम ओर जाति नियम होना चाहिये कि पांचवे अथवा आठवे वर्ष से आगे कोई अपने लड़कों और लड़कियों को घर में न रख सके, पाठशाला में अवश्य भेज देवें। जो न भेजे वह दण्डनीय हो। वर्णाश्रम — पद्धति में जाति के प्रत्येक बालक को अनिवार्य रूप से शिक्षा प्राप्त करने का अवसर दिया जायेगा। चाहे ब्राम्हण का बालक हो और चाहे शूद्र का चाहे राजा का लड़का हो और चाहे रंक का सब के लिए गुरूकुलों में जाकर पढ़ना अनिवार्य होगा। ब्रम्हचर्याश्रम का सारा समय, लड़कों की अवस्था में कम से कम 24 वर्ष की आयु तक और लड़कियों की अवस्था में कम से कम 16 वर्ष की आयु तक गुरूकुलों में रहकर पढ़ने लिखने में राष्ट्र के प्रत्यके बच्चे को होगा। और वह सारी ऊंची से ऊंची शिक्षा प्रत्येक बालक को निःशुल्क दी जायेगी। पढ़ने वाले आचार्य और गुरू लोग विद्यार्थियों से किसी प्रकार का शुल्क नहीं लेंगे।

शिक्षा की अनिवार्यता :—

विद्यार्थियों को भोजन, वस्त्र भी जनता या राज्य की ओर से मिलेगा। प्राचीन समय में भारतीय लोगों ने निःशुल्क शिक्षा का सामाधान भिक्षा—वृति द्वारा किया था। प्रत्येक गृहस्थ विद्यार्थियों को भिक्षा देना अपना कर्तव्य समझना था। हर गृहस्थ माता यह सोचती थी कि मेरा बालक भी तो किसी द्वार पर जाकर भिक्षा मांग रहा होगा जैसा मेरे बालक को कोई और माता भिक्षा दे रही है वैसे ही मुझे भी दूसरी के बालक को भिक्षा देनी चाहिए। इस प्रकार सब विद्यार्थियों को भिक्षा द्वारा प्रतिदिन उत्तम भोजन मिल जाता था। आवश्यकता होने पर वस्त्रादि का प्रबन्ध भी भिक्षादि से हो जाता था। ब्रम्हचारियों और उनके गुरूओं की सब आवश्यकताएँ पूर्ण करना गृहस्थ अपना धर्म समझता था। निर्धन से निर्धन बालक भी बिना कुछ व्यय किये ऊँची शिक्षा प्राप्त कर सकता था। अपने को योगय बनाकर इच्छित अधिकारी बन सकता था और इच्छित पद पर पहुँच सकता था।

शिक्षा में वानप्रस्थाश्रम का योगदान :—शिक्षा को निःशुल्क रखने में वानप्रस्थाश्रम का बड़ा योगदान होता था। वानप्रस्थ लोग गृहस्थ में दुनिया देख चुके होते थे, भोग चुके

होते थे। वे गृहस्थ का त्याग करके वानप्रस्थ में तप और त्याग का जीवन व्यतीत करते थे। अब वे गुरूकुलों में पढ़ाने का काम करते थे। उनकी आवश्यकताएं बहुत कम होती थीं। विद्यार्थी भिक्षा में जो भोजन, वस्त्र लाते थे उसी में उनका भी निर्वाह हो जाता था। उन्हें आजकल के अध्यापकों और उपाध्यायों की भांति बड़े–बड़े वेतन लेने की आवश्यकता न होती थी। परिणामतः शिक्षा निःशुल्क होती थी।

गृहस्थ ब्राम्हण–शिक्षक, उनकी आजीविका :–

अब रहे ग्रहस्थ ब्राम्हण जो पढ़ाने का काम करते थे, केवल उन्हीं की आवश्कताओं की पूर्ति का प्रश्न शेष रह जाता था। विधार्थियों द्वारा लाई गई भिक्षा से और वैश्यों द्वारा दी गई दक्षिणा से उनकी आवश्यकताएं सहज पूरी हो जाती थीं और ये गृहस्थ ब्राम्हण भी तो स्वभावतः त्यागी, निर्लोभी और तपस्वी होते थे। उनकी भी आवश्यकताएं स्वल्प होती थीं। इसके अतिरिक्त राज्य की ओर से भी नियमित सहायता मिलती रहती थीं। गुरूकुलों का काम इस प्रकार भली भाति चलता रहता था। परिणामतः शिक्षा सर्वथा निःशुल्क होती थी।

महंगी शिक्षा के दुष्परिणाम :–

पूँजीवादी व्यवस्था में शिक्षा अत्यन्त महंगी है। फलतः अच्छे धनी व्यक्ति अथवा उच्च वेतनभोगी राजकर्मचारी लोग अपने बच्चों को ऊँची शिक्षा दिला सकते हैं। और उनके बच्चों को ऊँची शिक्षा प्राप्त करने का अवसर सुलभ होने से सब सुविधायें और सारे पद उन्ही के बालकों को मिलते रहते हैं। इस प्रकार राष्ट्र के सारे अधिकारों और सारे पदों पर छोटे से वर्ग का एकाधिकार बना रहता है। जहाँ वर्गहीन समाज बनाने का दावा किया जाता है वहां भी यह "विशिष्ट वर्ग" अधिकार किये ही रहता है – धनियों का नहीं तो राज–कर्मचारियों का। सर्वसाधारण व्यक्ति इन सब सुविधाओं और पदों से वंचित रहते हैं। क्योंकि शिक्षा के महंगी होने के कारण ऊँची शिक्षा ले सकने का सब को अवसर उपलब्ध नहीं होता।

निःशुल्क शिक्षा के व्यापक परिणाम –

शिक्षा के निःशुल्क होने से ये सुखद परिणाम होंगे कि राष्ट्र का प्रत्येक बालक ऊँची से ऊँची शिक्षा प्राप्त कर अभीष्ट अधिकार एवं पद प्राप्त कर सकेगा। प्रत्येक बालक को शिक्षा प्राप्ति के समान अवसर उपलब्ध हो सकेंगे। किसी भी वर्ग के किसी बालक के साथ कभी कोई पक्षपात न हो सकेगा। जन्मजात, ऊँच–नीच, धनी–निर्धन, राजा–रंक, ब्राम्हण–शूद्र आदि

वर्गभेदों को स्वतः उन्मूलन हो जाएगा। महर्षि दयानन्द ने उक्त आशय को अभिलक्ष्य करके निम्नलिखित आदेश दिया है। "सब को तुल्य वस्त्र खान–पान आसन दिये जाये, चाहे वह राजकुमार वा चाहे राजकुमारी हो चाहे दरिद्र की सन्तान हो।"'

साम्यवादी दर्शन का आधार – कार्लमार्क्स और लेनिन के साम्यवाद का दर्शन भौतिकवादी है। साम्यवादी दर्शन भौतिक प्रकृति के अतिरिक्त और किसी पदार्थ की सत्ता को स्वीकर नहीं करता। उसके मन्तव्यानुसार इस सारे प्रपञ्च का मूल कारण प्रकृति ही है। प्रकृति ही अपने स्वयं के आन्तरिक नियमों के अनुसार चलती हुई जगत् के विविध रूपों में प्रकट होती रहती है। प्रकृति के सूक्ष्म परमाणुओं के विभिन्न अनुपातों में मिलते रहने से ही जगत् के विविध पदार्थ बनते रहते हैं। प्रकृति को चलाने वाला ओर उसके परमाणुओं को विभिन्न अनुपातों में मिलाकर उनसे संसार के पदार्थो को बनाने बाला कोई परमात्मा नहीं है। बिना किसी की प्रेरणा के प्रकृति स्वयं ही जगत् के विभिन्न पदार्थों के रूप में परिणत होती रहती है।

साम्यवादी लोग जीवात्मा की सत्ता को भी स्वीकर नहीं करते । उनका भौतिक वादी दर्शन कहता है कि जैसे अग्नि के संयोग से जल में उष्णता उत्पन्न हो जाती है, जैसे पोटाशियम फैरोसाइनाइड के हलके पीले रंग के घोल में फैरिक क्लोराइड का हलके पीले रंग का घोल मिला देने से गहरा नीला रंग बन जाता है। जैसे कैडमियम नाइट्रेट के महीन घोल में सोडियम सल्फाइड का नीरंग घोल मिला देने से उसका पीला रंग बन जाता है। जैसे मक्यूरिक क्लोराइड के श्वेत रंग के घोल में सोडियम आयोडाइड का श्वेत रंग का घोल मिला देने से उसका लाल नारंगी बन जाता है। जैसे सोडा कास्टिक के हलके नारंगी घोल में फिनाल्पथ का हलका नीरंग घोल मिला देने से उसमें सुन्दर गहरा गुलाबी रंग बन जाता है उसी प्रकार प्राकृतिक परमाणुओं के एक विशेष प्रकार के संयोग से शरीरों में चेतनता दिखाई देने लगती है। जिसे वैदिक दर्शन जीवात्मा का नाम दे देते हैं। भौतिकवाद के अनुसार जीवात्मा की एक स्वतंत्र पदार्थ के रूप में कोई सत्ता नहीं है। जीवात्मा प्राकृतिक परमाणुओं के एक संयोग विशेष का परिणाम मात्र है। प्राकृतिक परमाणुओं का वह संयोग विशेष जब तक बना रहता है तब तक हमारे शरीरों में चेतना प्रतीत होती रहती है। जब परमाणुओं का वियोग हो जाता है तो हमारे शरीर में चेतना की प्रतीति होनी बन्द हो जाती है। जिसे हम मृत्यु का नाम देते हैं ओर भूल से समझ बैठते है कि हमारे भीतर कोई

जीवात्मा नाम का स्वतन्त्र पदार्थ था जो हमारे शरीर को छोड़कर चला गया है। वस्तुतः कोई जीवात्मा नाम का स्वतन्त्र पदार्थ है ही नहीं जो मृत्यु के समय हमारे शरीर को छोड़ जाता हो।

जब साम्यवादियों के मत में प्रकृति ही प्रकृति है, प्रकृति से भिन्न न कोई आत्मा है और न कोई परमात्मा तो उसके मत में परलोक, पुनर्जन्म और कर्मफल आदि के प्रश्न ही नहीं रहते । और इन पर आधारित धर्म की सत्ता उपहासास्पद है। इसी लिए साम्यवादी लोग धर्म का प्रत्यक्ष खण्डन करते हैं। इस प्रकार साम्यवाद का दर्शन नास्तिकवाद का दर्शन है और वह पूर्ण रूप से भौतिकवादी है।

साम्यवाद का भौतिक आधार और उसका परिणाम –

साम्यवाद मनुष्य–समाज की समस्याओं के लिए भी भौतिकवादी दृष्टिकोण अपनाता है। साम्यवाद केवल मनुष्य के भौतिक पहलू को ही देखता है। केवल मनुष्य के शरीर को ही देखता है। और इसी लिए वह केवल मनुष्य की शारीरिक खाने–पीने–पहनने आदि की आवश्यकताओं की पूर्ति पर ही बल देता है। वह यह भुला ही देता है कि शरीर के अतिरिक्त मनुष्य कुछ और भी है, कि उसकी शारीरिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त और भी कुछ आवश्यकताएं हैं। साम्यवाद मनुष्य के आत्मिक पहलू को नहीं पहचानता । मनुष्य की आत्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर ध्यान नहीं देता। पूंजीवादी पद्धति में राष्ट्र के सब लोगों की शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति भली भांति नहीं होती। उसमें अधिकांश लोग पीड़ित और शोषित रहते हैं। साम्यवाद उसका उपाय तो करता है, परन्तु जो साधन प्रयोग में लाता है निरे भौतिक हैं। साम्यवाद कहता है "सब की सम्पत्ति छीन लो, किसी के पास निजी सम्पत्ति मत रहने दो, सारी सम्पत्ति राष्ट्र की बना दो। इस काम बल–प्रयोग करना पड़े तो वह भी करो। जो लोग इसका विरोध करें उनकी बात मत सुनो। उनका बोलना बन्द कर दो। और जो बोले उनको दण्डित करो। वध अपेक्षित हो वह भी कर दो। भौतिक दृष्टिकोंण को परिणाम था कि 1917 की क्रन्ति के पश्चात् जब साम्यवादियों के इसी रूस में साम्यवादी समाज–व्यवस्था का आरम्भ किया गया और तदनुसार वहां के जमींदारों की भूमियें छीनीं जाने लगीं, और उन्होने इसका विरोध किया तो लाखों को मौत के घाट उतार दिया गया। अनुमान लगाया गया है कि इस प्रकार समाप्त किये गये जमींदारों की संख्या 40 लाख से 70 लाख बीच होगी। और इस गड़बड़ी के फलस्वरूप खेती के ठीक न होने से जो अकाल

पड़ते रहे उनमें लगभग 50 लाख आदमी भूखों मर गए। साम्यवाद के इसी भौतिक दृष्टिकोंण का ही एक परिणाम यह है कि रूस में और उसके अनुयायी अन्य देशों में साम्यवादी विचारों के विरूद्ध किसी को अपनी सम्पत्ति प्रकट करने का कोई अधिकार नहीं। जो उनके विरूद्ध अपने विचार प्रकट करता है, उसे कठारे दण्ड दिया जाता है – जेल में डाल दिया जाता है, हत्या भी कर दी जाती है। अनुमान लगाया गया है कि रूस में साम्यवादी लोगों के द्वारा 50 लाख से 100 लाख के बीच अपने से भिन्न राजनीतिक विचार रखने वाले लोगों को मौत के घाट उतार दिया गया। अपनी सत्ता को बद्धमूल करने के लिए बौल्शेविक लोगों ने कुल मिलाकर लगभग 150 लाख रूसी लोगों की हत्या की या भूखों मार दिया। इसी भांति चीन के साम्यवादियों ने 1949 से 1956 तक कोई 2 करोड़ चीनी लोगों की हत्या की और 2 करोड़ 30 लाख लोगों को जेलों में डाल रखा है, जहां उनसे कठोर श्रम लिया जाता है। उनके इसी भौतिकवादी दृष्टिकोण को परिणाम है कि साम्यवादी लोग दूसरे देशों में अपने विचारों को फैलाकर वहां की सरकारों को गिराकर, उसके स्थान में साम्यवादी सरकारें स्थापित करने के काम में सब प्रकार के अच्छे बुरे उपायों को अवलम्बन करते हैं। बड़ी से बड़ी रिश्वत भी देते हैं, असत्य प्रचार का सहारा भी लेते हैं, तोड़ फोड़ भी करते हैं, शासन में रूकावटें भी डालते हैं। इस भौतिक दृष्टिकोण की नीति पर चलने वाला व्यक्ति स्वयं भी अपने आत्मिक गुणों को खोकर पशुत्व की कोटि में पहुंच जाता है और जिन पर उस नीति का प्रयोग करता है उन्हें भी आतंकित कर, दब्बू और पतित बना देता है। साम्यवादी लोग यह नहीं करते कि मनुष्य के आत्मिक पहलू पर ध्यान दें और अपनी समाज–व्यवस्था बनाते समय ऐसे उपायों का अवलम्बन लें कि जो मनुष्य को पतित न करके ऊँचा उठाने वाले हों। वे यह नहीं करते कि पूंजीवाद के दोषों से समाज की रक्षा करने के लिए, लोगों की आत्माओं को जगाकर उनकी उदात भावनाओं को जगाकर समाज की समस्याओं को हल करें। साम्यवाद की भौतिकवादी पद्धति में जब किन्ही समस्याओं को हल किया जाता है तो उसमें बहुत अधिक हठ और दुराग्रह होता है, कलह और विद्वेष उभरता है, ईर्ष्या भड़कती है असहिष्णुता जागती है। रक्तपात होता है, हत्यायें की जाती हैं, खून की नदियां बहती हैं, अशान्ति का सागर उमड़ता है और सब से अधिक बुराई यह होती है कि व्यक्तियों की स्वतन्त्रता छीन ली जाती है। उन्हें बोलने की स्वतन्त्रता नहीं दी जाती है। वे अपने को स्वतंत्र अनुभव कर कोई काम नहीं कर सकते। उनका स्वतन्त्र विकास नहीं होने दिया जाता। उनके आत्मा को मार दिया जाता है वहां के मनुष्य, मनुष्य नहीं रह पाते, भेड़–बकरियों की

भांति दब्बू और भीरू हो जाते हैं। और उन्हें भेड़ बकरियों की तरह डण्डे से हांका जाता है। साम्यवादी देशों में लोगों की भूख–प्यास की समस्या तो हल की जाती है, परन्तु उनकी बौद्धिक स्वतंत्रता छीन ली जाती है। तो पूंजीवादी पद्धति में लोगों को पूंजीपतियों का गुलाम रहना पड़ता है तो साम्यवादी पद्धति में दल के द्वारा नियुक्त प्रबन्धकों की अधीनता में रहना पड़ता है। पूंजीवादी पद्धति में कुछ तो स्वतन्त्रता की सांस ली भी जा सकती है, साम्यवादी पद्धति में तो उसका नाम शेष भी नहीं रहता । यह है साम्यवाद के भौतिकवादी दृष्टिकोण का घोर दुष्परिणाम।

साम्यवाद और नैतिकता :–

साम्यवाद के भौतिकवादी मन्तव्यों का सीधा परिणाम यह होगा कि मनुष्य में सत्य, न्याय, दया, उदारता और आत्म–त्याग आदि ऊँचे चारित्रिक गुणों के प्रति आस्था नहीं रहेगी, धीरे–धीरे मनुष्य का नैतिक पतन हो जाएगा। आज भी साम्यवादी लोग अपनी नीति चलाने और अपना काम निकालने के लिए सभी तरह के अच्छे बुरे साधानों को काम में ले आते हैं। आज भी साम्यवादी लोगों में जो सत्य, न्याय, दया, उदारता ओर आत्म–त्याग आदि गुण दृष्टिगोचर होते हैं, उसका कारण भी साम्यवाद के आगमन से पहले धार्मिक सम्प्रदाय और आस्तिक दर्शनों द्वारा किया हुआ प्रचार है। जिससे वहां की जनता में इन गुणों के प्रति आस्था विद्यमान है। समय पाकर नास्तिक और भौतिकवादी मन्तव्यों का पूर्ण प्रभाव हो जाने पर साम्यवादी लोगों में इन गुणो के प्रति कोई भी आस्था न रहेगी। यह तो धर्म की और आस्तिक दर्शनों की ही कृपा है कि जो साम्यवादी लोगों में भी चारित्रिक गुण यत्र तत्र दृष्टिगोचर होते हैं।

वर्णाश्रम–व्यवस्था का आध्यात्मिक आधार :–

साम्यवाद की तुलना में वर्णाश्रम–पद्धति आध्यात्मिकवादी है। यह पद्धति प्रकृति के साथ–साथ जीवात्मा को भी स्वीकार करती है और परमात्मा को भी। यह पद्धति जीवात्मा और परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करने के परिणामस्वरूप लोक–परलोक, पुनर्जन्म और कर्मफल आदि के आस्तिक सिद्धान्तों को भी मानती है। जीवात्मा ओर परमात्मा की सत्ता को पुर्नजन्म को और कर्मल की व्यवस्था को युक्तियों से सिद्ध किया जा सकता है और ऐसी प्रबली युक्तियों से सिद्ध किया जा सकता है जिनका ये भौतिकवादी नास्तिक लोग भी खण्डन नहीं कर सकते। वर्णाश्रम–व्यवस्था मनुष्य को केवल शरीर मात्र नहीं अपितु शरीर और आत्मा

का मेल मानती है। वहां उसके आत्मा पर भी ध्यान रखती है। इसलिये वर्णाश्रम –व्यवस्था में जहां मनुष्य की शारीरिक आश्यकताओं की ओर ध्यान दिया जाता है, वहां आत्मोन्नति की ओर भी ध्यान दिया जाता है। मनुष्य की शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति ऐसे उपायों का अवलम्बन करके नहीं करनी चाहिये कि जिनके अबलम्बन से मनुष्य का आत्मा पतित हो। कोई समाज–व्यवस्था बनाते हुए हमारी नीति ऐसी होनी चाहिए कि उसका प्रयोग करने वाले लोगों का आत्मा भी मनुष्यत्व से गिरकर पशुत्व की कोटि में न चला जाए और जिन लोगों का आत्मा भी मनुष्यतत्व ने गिरकर पशुत्व की कोटि में न चला जाए और जिन लोगों पर उस नीति का प्रयोग किया जाये उन की आत्मा भी पतित न होने पाये। दोनों की आत्मा पवित्र ओर ऊँचा रहना चाहिये। हमें लोगों के आत्मा को जागृत करके, उनके उदात और ऊँचे आत्मिक गुणों को उद्‌बुद्ध करके,उनके सहयोग से समाज की समस्याओं को हल करने का प्रयत्न करना चाहिये। भौतिक बल–प्रयोग का सहारा समाज को समस्याओं को सुलझाने में कम से कम लिया जाना चाहिये। वर्णाश्रम व्यवस्था की पद्धति मनुष्य की शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति का उपाय करने के लिए भी मनुष्य के आत्मिक गुणों का सहयोग लेती है। इस पद्धति में व्यक्ति को वर्णों और आश्रमों की मर्यादा में से ढ़ालकर उनके कर्तव्यों और व्रतों का पालन कराके उनके आत्मा को जागृत किया जाता है। फिर इस जागृत आत्मा के सहयोग से समाज की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति की व्यवस्था की जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि समाज में हठ–दुराग्रह का स्थान नहीं रहता, कलह और विद्वेष नहीं उभरता, ईर्ष्या नहीं भड़कती, खून की नदियाँ नहीं बहती, हत्यायें नहीं करनी पड़तीं, अशान्ति नहीं रहती, राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति अपना कर्तव्य और धर्म समझकर राष्ट्र के लोगों को सुखी बनाने में प्रसन्नता पूर्वक सहयोग देता है। अपना सर्वस्व समाज को सुखी और समृद्ध बनाने में अर्पण करने में तत्पर रहता है। वर्णाश्रम व्यवस्था मे किसी भी व्यक्ति की स्वतंत्रता को छीनने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

मानव के पांच आलम्बन पदार्थ के लिये धन की आवश्यकता :–

मानव जीवन की प्रधान आवश्यकताएं पांच है –

1. खाने के लिये पौष्टिक अन्न
2. पहनने के लिये वस्त्र, जिनसे ऋतुओं की कठोरता से शरीर की रक्षा हो सके ।
3. रहने के लिये स्वच्छ, हवादार और रोशनीदार मकान जिसमें परिवार के सदस्य आराम से

रह सकें ।

4. रोगी होने पर उत्तम से उत्तम चिकित्सा का प्रबंध
5. बालकों को ऊंची से ऊंची शिक्षा का प्रबंध

ये पांचो तथ्य मनुष्य जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना मनुष्य न सुख से जी सकते हैं और न किसी प्रकार की उन्नति ही कर सकते है । ये पांचों मनुष्य जीवन के "आलम्बन पदार्थ" हैं । इन पांचों पर मनुष्य का जीवन सुख और उसकी उन्नति अवलम्बित है । ये पांचों "आलम्बन पदार्थ" समाज के प्रत्येक व्यक्ति को मिलने चाहिये कि उनसे व्यक्ति की आवश्यकताएं अच्छी तरह पूरी हो सकें । यदि किसी राष्ट्र के लोगो को ये पांच पदार्थ प्राप्त नही होते हैं तो निश्चिय ही उस राष्ट्र की समाज–व्यवस्था और राज्य व्यवस्था दूषित होगी । और मानव की यह आवश्यकताएं तभी पूर्ण होगीं जब मानव के पास धन होगा । धन के अभाव मे मानव कभी इन सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति कभी नही कर सकता ।

अनुबन्ध पदार्थ :–

इसमें कोई सन्देह नही कि अर्थ का जीवन में काफी महत्व है, परन्तु साथ ही यहां इस बात पर विशेष जोर दिया गया है कि उचित साधनो से धन कमाया जाए । ईमानदारी से कमाया हुआ अर्थ ही व्यक्ति के सुख और सन्तोष में वृद्धि करता है । धन का उपभोग भी इस प्रकार किया जाना चाहिये कि इससे किसी को कष्ट न हो तथा निन्दनीय कार्यो को भी किसी भी रूप मे बढ़ावा न मिले । हिन्दू शास्त्रकारों ने बताया है कि प्रत्येक को धर्म के अनुसार न्यायोचित ढंग से अर्थोपार्जन और उसका सदुपयोग करना चाहिये । डा0 राधाकृष्णन का कथन है कि अर्थ एवं सुख की प्राप्ति का प्रयत्न मनुष्य की उचित इच्छा है, परन्तु यदि वह मोक्ष प्राप्त करने का इच्छुक है तो उसे उचित तरीके से ही अर्थ की प्राप्ति करनी चाहिये । अतः जोर इस बात पर दिया गया है कि व्यक्ति सद्उपायों से ही धन कमायें और सद्कर्मो से ही उसे व्यय करें, साथ ही यह भी बतलाया गया है कि व्यक्ति को धन कमाने या भौतिक सुख सुविधाओं को प्राप्त करने के प्रयत्न मे अपने आपको पूर्णतः नही लगा देना चाहिये है, उसे इसे ही जीवन जीने का एक मात्र लक्ष्य नही समक्ष लेना चाहिये । यही कारण है कि अर्थ को धर्म के अधीन माना गया है और केवल जीव जीने के और गृहस्थ आश्रम मे ही इसे अर्जित करने का आदेश दिया गया है ।

मानव जीवन मे धन का अभाव :–

प्रत्येक वस्तु का अपना–2 महत्व है और प्रत्येक मानव चाहता है कि उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिये । इसलिये मानव जीवन मे धन का अत्यधिक महत्व है । जब मानव की आवश्यकता की पूर्ति नही होती है तो वह अपनी इच्छा पूरी करने के लिये अन्य मार्गो को अपनाता है । इसमे वह गलत कार्य भी कर सकता है । ऐसे बहुत से मनुष्य है जो अपनी निर्धनता के कारण गलत कार्यो को अपनाते है । निर्धनता मानव के जीवन मे एक ऐसा अभिशाप है जो मनुष्य को प्रत्येक क्षण रूलाती रहती है । जब वह खाने को बैठता तो उसे रोटी नही मिलती जब वह सोने को चलता तो बिस्तर नही मिलता है इस प्रकार धन का अभाव मानव को पल–पल रूलाता है ।

सामाजिक विकास के लिये धन की आवश्यकता :–

सामाजिक विकास से तात्पर्य मानव के चहुंमुखी विकास से है, जिसमें मानव का सम्पर्ण विकास होता है, मानव के जीवन स्तर में सुधार होता है । यह तभी सम्भव है जब धन की उपलब्धता होगी । इस सम्पूर्ण विश्व के विकास में धन की महत्वपूर्ण भूमिका है। भौतिक विकास के ही फलस्वरूप कोई भी समाज उन्नति के शिखर तक पहुंच सकता है । वर्तमान विश्व मे विज्ञान के द्वारा नये–नये आविष्कार हो रहे हैं और इन आविष्कारो के द्वारा मानव की जनसंख्या का निरंतर विकास हो रहा है । विश्व की जनसंख्या का निरंतर विकास हो रहा है । अतः बढ़ी हुई जनसंख्या की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उत्पादन को बढ़ाया जा रहा है । वर्तमान में विश्व का कोई भी राष्ट्र अपने देश की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वतः नही कर सकता । इसलिये धन निवेश से लेकर प्रौद्योगिकी तक एक दूसरे देशों से ली और दी जा रही है । प्रत्येक वर्ष नये–नये कारखानों का निर्माण हो रहा है जिनमें अधिक से अधिक उत्पादन कर अपने देश की आवश्यकताओं को पूरा कर उत्पादन का कुछ हिस्सा निर्यात भी किया जा रहा है । जिससे राष्ट्र को विदेशी मुद्रा मिल रही है । आज वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने विश्व को एक दूसरे के निकट लाने में सहयोग दिया है । हम भी इस प्रक्रिया के अंग हो गये है और अपने राष्ट्र की आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये उपरोक्त सभी विधियों का प्रयोग कर रहे हैं जिससे हम अपने राष्ट्र की गरीबी और बेकारी जैसी समस्या को दूर कर सकते है ।

*****
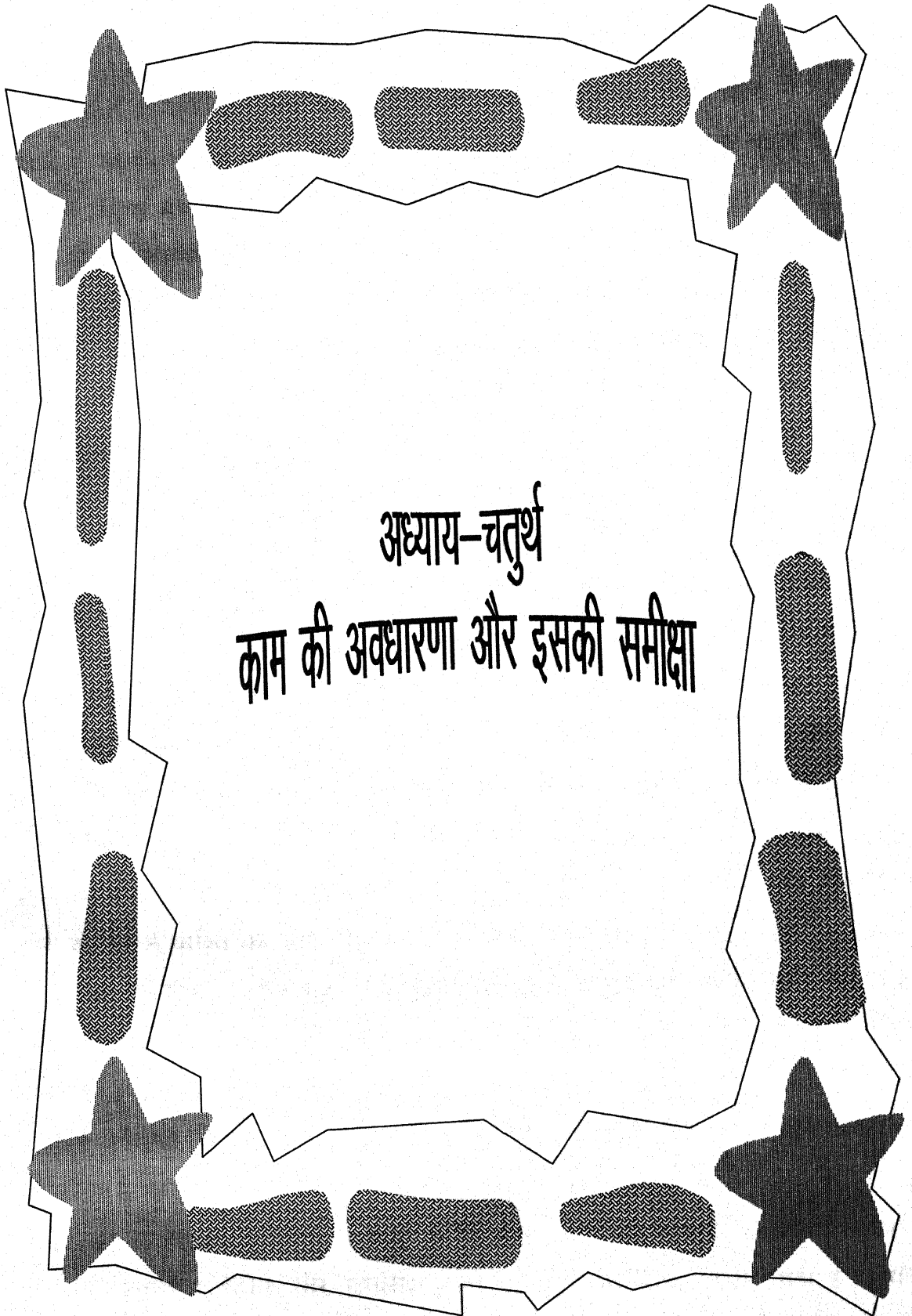
अध्याय–चतुर्थ

काम की अवधारणा और इसकी समीक्षा

काम की अवधारणा और इसकी समीक्षा

प्रस्तुत अध्याय मे बताया गया है कि काम को पुरूषार्थ के तीसरे चरण में क्यों रखा गया है ? इसको धर्म के अधीन माना गया है । इसका मानव जीवन मे क्या महत्व है ? और काम को गृहस्थ आश्रम का आधार क्यों माना गया है ?

हिन्दू विचारकों ने जहां अर्थ को एक पुरूषार्थ के रूप में स्वीकार किया है, जहाँ साथ ही काम को जीवन का साधन माना गया है । काम का तात्पर्य केवल भोग वासना से ही नही है । बल्कि सभी प्रकार की इच्छाओं और कामनाओं से है । काम का महत्व तो भारतीय संस्कृति मे इतना है कि यहां काम देवता भी है जो काम की भावना को जागृत करता है। काम का सम्बंध उन सभी इच्छाओं की संतुष्टि से है जो इन्द्रियपूरक है और जो मनुष्य को सांसारिक सुखों का भोग करने के लिये प्रेरित करती है । काम का प्रयोग दो अर्थो मे किया है – एक संकुचित अर्थ में और दूसरा व्यापक अर्थ में । संकुचित अर्थ मे काम का तात्पर्य यौनिक प्रवृत्ति की संतुष्टि से या यौन इच्छाओं की पूर्ति से है यह काम का ऊपरी अर्थ है जो काम के महत्व को पूर्णतः स्पष्ट नही करती व्यापक अर्थ में काम के अन्तर्गत मानव की सभी प्रवृत्तियां, इच्छायें तथा कामनायें आ जाती है इसमें मानव को शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक एवं कलात्मक सुखों की प्राप्ति होती है । श्री कर्वे के अनुसार सीमित अर्थ मे काम का तात्पर्य यौन सम्बंधी इच्छा से है, जबकि व्यापक रूप मे इसका तात्पर्य व्यक्ति की इच्छा तथा आंकांक्षा से है । इस दृष्टि से व्यक्ति जो कुछ भी चाहता है या चाहने की जो कुछ अभिलाषा उसके भीतर है वही काम है । काम के अन्तर्गत एक प्राणिशास्त्रीय और सांस्कृतिक प्राणी के रूप में व्यक्ति की सभी इच्छायें कामनायें तथा प्रवृत्तियां आ जाती है ।

डा0 कपाड़िया के अनुसार, "काम मानव के सहज स्वभाव एवं भावुक जीवन को व्यक्त करता है तथा उसकी काम–भावना और सौन्दर्य प्रियता की वृद्धि की सन्तुष्टि की ओर संकेत करता है ।"

डी0डी0 कौशम्बी के अनुसार "इच्छाओं और रूचियों की पूर्ति और इसमें यौन इच्छा भी सम्मिलित है परन्तु केवल यौन इच्छा नही है ।"

इस प्रकार इस परिभाषा से स्पष्ट है कि काम जीवन के आनन्द को व्यक्त करता है और यह आनन्द शारीरिक और मानसिक दोनो ही स्तरों पर प्राप्त किया जाता है । यौन सम्बंध के द्वारा जहां व्यक्ति को शारीरिक स्तर पर आनन्द की अनुभूति होती है वही

कलात्मक जीवन के माध्यम से मानसिक स्तर पर सुख या आनन्द की अनुभूति होती है स्पष्ट है कि काम पुरूषार्थ मे केवल यौन तृप्ति ही नही बल्कि सांस्कृतिक दृष्टि से जीवन के आनन्द का उपभोग भी आता है । एक ओर जहां यह इन्द्रिय सुख को व्यक्त करता है वही दूसरी ओर मानव की भावुक और सौन्दर्यात्मक प्रवृत्तियों को प्रस्फुटित होने का अवसर प्रदान करता है ।

काम के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इसके दो पहलू मानव के यौन सम्बंधी जीवन को और दूसरा उसके सौन्दर्यात्मक या भावुक जीवन को व्यक्त करता है प्रथम पहलू पर विचार करने से हम पाते है कि मानव मे यौन सम्बंधी इच्छा या प्रवृत्ति का पाया जाना स्वभाविक है क्योकि यह उसकी मूल प्रवृत्ति के अन्तर्गत आती है फ्रायड ने अपने समाजीकरण के सिद्वान्त मे बताया है कि अन्य आवश्यकताओं (खाना, पीना) के साथ एक बच्चे के काम विषयक प्रवृत्ति भी प्रबल रूप मे पायी जाती है । परन्तु मानव अपने जीवन मे यौन सुख को ही सब कुछ समझ बैठे, इसकी आज्ञा उसे नही दी जाती । यही कारण है कि हिन्दू विवाह के तीन उद्देश्यों मे रति को सबसे निम्न स्थान दिया गया है वहां धर्म और सन्तानोत्पत्ति को रति की तुलना प्रमुखता दी गयी है । यौन सम्बन्ध का महत्व केवल इस दृष्टि से नही है कि इससे शरीर सुख मिलता है, बल्कि इस दृष्टि से भी है कि वह उत्तम सन्तानों के जन्म का माध्यम है । काम का दूसरा पहलू मानव के सौन्दर्यात्मक या भावुक जीवन से सम्बंधित है। मनुष्य अपने सौन्दर्यात्मक या उद्वेगात्मक जीवन को कला के माध्याम से व्यक्त करता है, साहित्य, संगीत, नृत्य, चित्रकला, मूर्तकला आदि व्यक्ति के इसी जीवन की अभिव्यक्ति है । वह, जो कुछ सुन्दर है उसको देखता है, उसकी प्रशंसा करता है और अनन्द का अनुभव करता है। यह केवल इसी से संतुष्ट नही हो जाता बल्कि अपनी रचनात्मक कल्पना की सहायता से सौन्दर्य को मूर्त देने का प्रयास करता है । वह कला का सृजन करता है, चित्र बनाता है, मूर्ति का निर्माण करता है, गीत गाता है, नृत्य करता है और आनन्द विभोर हो उठता है । और अपने आप को भूल जाता है । व्यक्ति के स्वस्थ्य विकास के लिये मानव की सौन्दर्य–वृद्धि एवं सौन्दर्य–सृष्टि की प्रवृत्ति को विकास पूर्ण अवसर प्रदान करना आवश्यक है । कपाड़िया के अनुसार मानव स्वभावतः सृजनात्मक है और यदि उसे उसकी सृजनात्मक प्रवृत्तियों को व्यक्त करने का अवसर न दिया जाये तो उसके व्यक्तित्व का सर्वोत्तम भाग कृष्ठित हो जाता है । जीवन का सर्वोपरि आनन्द सृजनात्मक प्रवृत्तियों में ही है । जो कुछ सुन्दर है उसकी प्रशंसा ही मानव जीवन को विकसित करती है और

समृद्धशाली बनाती है । भावपूर्ण अभिव्यक्ति का दमन व्यक्ति के स्वास्थ तथा मानसिक सन्तुलन के लिये हानिप्रद है । व्यक्ति के स्वस्थ हेतु उद्वेगों की अभिव्यक्ति आवश्यक है । स्पष्ट है कि काम एक ऐसा पुरूषार्थ है जो व्यक्ति की सौन्दर्यात्मक प्रवृत्ति को प्रस्फुटित होने तथा व्यक्तित्व के समुचित विकास का अवसर प्रदान करता है ।

अब प्रश्न उठता है कि पुरूषार्थ के रूप में काम को क्यों स्वीकार किया जाता है ? इसे अग्रलिखित तीन आधारों पर स्पष्ट किया जा सकता है–

(अ) जैवकीय आधार – विभिन्न इच्छाओं की सन्तुष्टि न होने पर मानव के व्यक्तित्व का विकास नही होता । इसलिये व्यक्ति को अपनी इच्छाओं की सन्तुष्टि का अवसर मिलना चाहिये ।

(ब) सामाजिक आधार – प्रजनन अथवा समाज की निरन्तरता बनाये रखने परिवार मे पति–पत्नी मे प्रेम भाव बनाये रखने तथा सौन्दर्य को उसका वास्तविक स्थान देने की दृष्टि से काम एक अनिवार्य संस्था अर्थात विवाह के रूप में स्थान देना आवश्यक है ।

(स) धार्मिक आधार – काम के द्वारा व्यक्ति अपनी अति आवश्यक इच्छाओं एवं इन्द्रिय लोलुपताओं को शांत करके ही आत्मिक विकास कर मोक्ष के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है । इस प्रकार हिन्दू दर्शन मे काम की अवधारणा अति व्यापक है ।

काम के विभिन्न रूप :– सभी योनियों में मनुष्य हर ऐसा प्राणी है जिसके पास एक चिन्तनशील बुद्धि है । जिसके द्वारा वह अपने एवं इस संसार और उसके बाद इस संसार से परे उस सत्ता के विषय मे चिन्तन करता है जिसे परमात्मा कहते है । मनुष्य ने अपने चिन्तन और बुद्धि द्वारा इस संसार मे अनेक प्रकार के निर्माण कार्य किये है । जहाँ उसने अपने शारीरिक सुख के लिये गृह भवन, भोज्य पदार्थो का निर्माण किया है वही उसने परमात्मा अर्थात मोक्ष को प्राप्त करने के लिये मंदिर, शिवालय, एवं धर्मशालाओं तथा तीर्थ स्थानों का निर्माण किया है । इस प्रकार मानव संसार मे रहते हुये अपनी सांसारिक कामनाओं के साथ पारलौकिक इच्छाओं की भी पूर्ति करना चाहता है । इसीलिये हमारी संस्कृति में काम के तीन रूप बताये गये है । प्रथम – शारीरिक काम (दामपत्य बन्धन के रूप में), द्वितीय – कलात्मक काम (सौन्दर्य के रूप में), तृतीय – आध्यत्मिक काम (आत्मिक विकास के रूप में) ।

परिवार की स्थापना जैविक तथा शारीरिक काम को वैध रूप प्रदान करने के लिये विवाह आवश्यक है । विवाह के रूप एवं उद्देश्य निम्नवत् है।

हिन्दू विवाह :–

विवाह एक ऐसी सामाजिक संस्था है जो विश्व के प्रत्येक भाग में पायी जाती है। प्रत्येक समाज में चाहे वह आदिम हो अथवा आधुनिक, ग्रामीण हो अथवा नगरीय, विवाह अनिवार्य रूप से ही पाया जाता है। वास्तव में, विवाह परिवार की आधारशिला है। विवाह के माध्यम से ही हिन्दू गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते है, घर बसाते हे, अपनी यौन इच्छायों की पूर्ति, सन्तानोन्पत्ति एवं बालको को पालन पोषण करते है, और उन्हे समाज का उपयोगी सदस्य बनाने में योग देते है। हिन्दू विवाह का भारतीय सामाजिक संस्थाओं में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। यह गृहस्थाश्रम का प्रवेश द्वार है और गृहस्थाश्रम सभी आश्रमो में श्रेष्ठ माना गया है। मनु ने कहा है कि जैसे सब प्राणी वायु के सहारे जीवित रहते है, उसी प्रकार सभी आश्रम गृहस्थाश्रम से ही जीवन प्राप्त करते है। विवाह के द्वारा व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर चार पुरूषार्थ–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति का प्रयत्न करता है। हिन्दू विवाह यौन सम्बन्धों को प्राथमिकता नही देकर धार्मिक कार्यो को विशेष महत्व प्रदान करता है। यह व्यक्ति को एक कर्म प्रधान प्राणी बनाने में योग देता है। हिन्दू विवाह एक धार्मिक संस्कार के रूप में हिन्दू जीवन को स्थायित्व प्रदान करता है। शतपथ ब्राम्हण में कहा गया है कि पत्नी निश्चित रूप से पति का आदर्श है, अतः जब तक पुरूष पत्नी प्राप्त नहीं करता एवं सन्तान उत्पन्न नहीं करता तब तक वह पूर्ण नहीं होता। विवाह के द्वारा सन्तान के माध्यम से व्यक्ति अपने को अमर बनाता है। ब्रम्हा पुराण में बतलाया गया है देवता अमृत द्वारा अमर हुये और ब्राम्हणादि मनुष्य पुत्र द्वारा। पुत्र के रूप में पिता का पुनर्जनम होता हे, क्योकि पिता के अंग अंग और ह्रदय से प्राप्त अंशो से पुत्र की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि मानव समाज की सत्ता एवं संरक्षण विवाह और परिवार पर आधारित है। यही कारण है कि विवाह का हिन्दू समाज में केन्द्रीय संस्था के रूप में महत्प पाया जाता है। हिन्दू विवाह ने जहां एक ओर व्यक्ति को मानसिक स्थिरता, त्यागमय जीवन की प्रेरणा और व्यक्तिवादी प्रवृत्ति के समाजीकरण में योग दिया है वही दूसरी ओर सामाजिक जीवन को व्यवस्थित बनाने की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

विवाह के सन्दर्भ में वेस्टरमार्क ने कहा विवाह एक या अधिक पुरूषों का एक या अधिक स्त्रियों के साथ होने वाला सम्बन्ध है। जिसे प्रथा या कानून द्वारा स्वीकृति प्राप्त होती है तथा जिसमें इस संगठन में आने वाले दोनों पक्षों एवं उनसे उत्पन्न बच्चों के अधिकार और कर्तव्य का समावेश होता है।

हिन्दू विवाह का अर्थ :–

हिन्दू विवाह का अर्थ स्पष्ट करने से पूर्व यहां विवाह का अर्थ समझ लेना आवश्यक है। वेस्टमार्क ने लिखा है कि विवाह एक या अधिक पुरूषों का एक या अधिक स्त्रियों के साथ होने वाला सम्बन्ध है जिसे प्रथा या कानून द्वारा स्वीकृति प्राप्त होती है तथा जिसमें इस संगठन में आने वाले दोनो पक्षों एवं उनसे उनसे उत्पन्न बच्चों के अधिकार और कर्तव्यों का समावेश होता है। हिन्दू विवाह की दो विशेषताओं का संकेत इस परिभाषा में मिलता है, प्रथम, प्रथाओं का महत्व एवं द्वितीय पति पत्नी के अधिकार एंव कर्तव्य। लावी ने विवाह को परिभाषित करते हुये लिखा है " विवाह उन स्पष्ट रूप से स्वीकृत संयोगो को व्यक्त करता है जो इन्द्रिय सम्बन्धी संतोष के पश्चात भी स्थिर रहते है तथा पारिपारिक जीवन की आधारशिला बनते है। इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि विवाह विषम लिंगियों का वह सम्बन्ध है जिसे प्रथा या कानून द्वारा मान्यता प्राप्त होती है तथा इस बन्धन में बंधने वाले स्त्री पुरूषों के एक दूसरे के प्रति कुछ पारस्परिक अधिकार एवं कर्तव्य भी होते है।

इन परिभाषाओं के आधार पर हिन्दू विवाह को ठीक से नहीं समझा जा सकता। हिन्दू विवाह को डा0 के0एम0 कापडिया ने एक संस्कार कहा है कि विविध संस्कारों को समय समय पर सम्पन्न करता हुआ व्यक्ति आगे बढता है। अपने व्यक्तिगत का विकास करता है अपने आपको पूर्णतया प्रदान करता है। एक हिन्दू के जीवन में संस्कार गर्भाधान से प्रारम्भ होते है और मृत्युपरान्त दाह संस्कार के रूप में समाप्त होते है। हिन्दू जीवन के विभिन्न संस्कारों में विवाह एक अत्यन्त आवश्यक संस्कार माना गया है। गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने की दृष्टि से हिन्दूओं में विवाह को अनिवार्य संस्कार माना गया है। स्त्रियों के लिये विशेष रूप से विवाह संस्कार का विधान किया गया है। हिन्दू विवाह एक अन्य दृष्टिकोण से भी पवित्र धार्मिक संस्कार है। हिन्दू विवाह कुछ धार्मिक कृत्यों जैसे होम, वाणिग्रहण तथा सप्तपदी आदि को सम्पन्न करने पर ही पूर्ण माना जाता है। पवित्र अग्नि की साक्षी मे ब्राम्हण वेद मंत्रों के उच्चारण के साथ इन कृत्यों को पूर्ण करवाता है। साथ ही यह ऐसा धार्मिक

बन्धन है जो जीवन भर रहता है और जिसे तोड़ना हिन्दू सामाजिक मूल्यों की दृष्टि से अनुचित माना जाता है। यह कोई सामाजिक समझौता नहीं है जिसे दोनो पक्ष अपनी इच्छानुसार कभी भी समाप्त कर दें।

हिन्दूओं में विवाह प्रत्येक व्यक्ति के लिये एक आवश्यक संस्कार के रूप मे स्वीकार किया गया है। मोक्ष प्राप्ति हिन्दू जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना गया है और इसकी प्राप्ति के लिये पुत्र सन्तान का होना आवश्यक है। इसी बात को स्पष्ट करते हुये मनुस्मृति में कहा गया है "माताएं बनने के लिये स्त्रियों की उत्पत्ति हुई और पिता बनने के लिये पुरूषों की। इसलिये वेद आदेश देते है कि पुरूष को अपनी पत्नी के साथ ही धार्मिक कार्य सम्पन्न करने चाहिये।[1] वास्तव में विषम लिंगियों में उचित सम्बन्ध निर्वाह के लिये हिन्दू विवाह एक सामाजिक संस्था है।"

शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से विवाह का तात्पर्य वधू को वर के घर ले जाने से है परन्तु वास्तव में विवाह के अन्तर्गत सभी समारोह एंव कर्मकाण्ड आ जाते है जिनके माध्यम से लडके लडकी समाज द्वारा मान्य पति पत्नी के सम्बन्धों में बंधते हे और एक दूसरे के प्रति कुछ कर्तव्यों एवं अधिकारों को निभाते है। *मेघातिथ के अनुसार,* "विवाह कन्या को पत्नी बनाने के लिये एक निश्चित क्रम से की जाने वाली अनेक विधियों से सम्पन्न होने वाला पाणिग्रहण संस्कार है, जिसकी अन्तिम विधि सप्तर्षि दर्शन है।"[2] *रघुनन्दन के अनुसार,* "जिस विधि से नारी पत्नी बनती है वह विवाह है।"[3] अतः समाज द्वारा स्वीकृत विधि के द्वारा पति पत्नी के सम्बन्धों मे बंधने को ही विवाह कहा जाता है। हिन्दू विवाह धर्म, प्रजा और रति की साधना का माध्यम है। हिन्दू विवाह में रति अथवा काम सन्तुष्टि को सबसे कम महत्व दिया गया है। हिन्दू विवाह स्त्री पुरूषों का पति पत्नी के रूप में एक अलौकिक अविच्छेद और शाश्वत मिलन है जिसे तोड़ना अधार्मिक माना जाता है इस सम्बन्ध में हमें यह बात भी ध्यान में रखनी होगी कि हिन्दूओं में एक विवाह ही आदर्श माना गया है। यहां धार्मिक नियम तथा परम्पराओं के अनुसार एक स्त्री का साधारणतया अनेक पुरूषो से विवाह न होकर एक पुरूष के साथ ही विवाह होता है।

1- मनु स्मृति, IX 96
2. मनु स्मृति, 3/20
3. उद्वाहतत्व–तेन भार्यात्वसम्पादक : ग्रहणं विवाह : पूर्वोक्त ।

हिन्दू विवाह के उद्देश्य :–

कुछ सामाजिक एवं धार्मिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु प्रत्येक हिन्दू के लिये विवाह अनिवार्य माना गया है। विवाह के द्वारा गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके ही व्यक्ति अपनी आत्मोन्नति देव, ऋषि, पितृ, अतिथि और भूत ऋणों से और परिवार व समाज के प्रति अपने दायित्वों को निभा सकता है। इसी माध्यम से व्यक्ति चार पुरूषार्थ की पूर्ति का प्रयास, धर्म का संचय और अर्थ का उपार्जन करता है। वह यौन इच्छाओं को पूर्ण करता हुआ, सन्तानोत्पत्ति करता हुआ प्रत्येक हिन्दू अपने कर्तव्यों को निभाता, उत्तरदायित्वों को पूर्ण करता हुआ स्वंय का आत्मकल्याण करता है। इन्ही सब कार्यो की पूर्ति के लिये धर्मशास्त्रों में हिन्दू विवाह के तीन प्रमुख उद्देश्य माने गये है धर्म, प्रजा और रति। डा० कापडिया ने लिखा है, "धर्म, प्रजा और रति विवाह के उद्देश्य माने जाते है।"[1] यहां इन उद्देश्यों का वर्णन किया गया है –

1. धर्म कार्यो की पूर्ति :–

धार्मिक कर्तव्यों को पूर्ण करने के लिये जीवन साथी प्राप्त करने हेतु विवाह किया जाता था। विवाह के अभाव में एक हिन्दू अपने धार्मिक कर्तव्यों का पालन नही कर सकता। वैदिक युग में यज्ञ करना अनिवार्य था, परन्तु पत्नी के बिना यह पूर्ण नही होता था। यही कारण है कि श्री रामचन्द्रजी को अश्वमेध यज्ञ के समय सीताजी की सोने की प्रतिमा स्थापित करनी पड़ी थी। याज्ञवल्क्य ने कहा है कि धर्म कार्य चलाने के लिये एक पत्नी के मरने पर शीघ्र ही दूसरा करना चाहिये। कालिदास के कुमार सम्भव में लिखा है कि कामदेव को जीतने वाले शिवजी ने जब सप्तर्षि और अरूधंती को अपने सम्मुख देखा तो उनकी अरूधंती से विवाह करने की इच्छा हुई क्योंकि धर्म सम्बन्धी क्रियाओं के सम्पादन के लिये पतिव्रता स्त्री की प्रमुख आवश्यकता है। धार्मिक कार्यो की इसी महत्ता के कारण पत्नी को पुरूष की धर्म पत्नी कहा गया है।

हिन्दू धर्म में विभिन्न कर्तव्यों की पूर्ति पर विशेष जोर दिया गया है। हिन्दू जीवन के ये विविध कर्तव्य यज्ञ कहे गये है। इन यज्ञो को सम्पन्न करने के लिये पत्नी का होना आवश्यक है। हिन्दू समाज में प्रत्येक गृहस्थ के लिये पांच महायज्ञ–ब्रम्हायज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ

---

1. The aims of Hindu Marriage are said to be Dharma, Praja (Progeny), and Rati (Pleasure)" - K.M. Kapadia : Marriage and Family in India p.167.

तथा नृयज्ञ करना आवश्यक बताया गया है। पत्नी के अभाव में अविवाहित व्यक्ति इन यज्ञों की पूर्ति नहीं कर सकता। स्पष्ट है कि धार्मिक कर्तव्यों की पूर्ति के लिये विवाह द्वारा पत्नी प्राप्त करना आवश्यक है। समाज में व्यवस्था बनाये रखने और नैतिकता की रक्षा के लिये विवाह के इस उद्देश्य का अत्यन्त महत्व है।

2. प्रजा अथवा पुत्र प्राप्ति :—

हिन्दू विवाह का दूसरा उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति माना गया है। और पुत्र प्राप्ति विशेष महत्व दिया गया है। इसका कारण यह है कि पुत्र द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। पुत्र जब तक अपने पितरों को तर्पण और पिण्डदान प्रदान नही करता तब तक उन्हे मोक्ष प्राप्त नहीं होता। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर पुत्रों की कामना की गई है। पणिग्रहण के अवसर पर मंत्रों के माध्यम से वर वधू को कहता है "मैं उत्तम सन्तान प्राप्त करने हेतु तुमसे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर रहा हूं।" यशस्वी और दीघार्यु पुत्रो की उत्पत्ति पर हिन्दू विवाह में विशेष जोर दिया गया है क्योंकि ऐसी सन्तान ही इहलोक और परलोक में सुख प्रदान करने वाली होती है। महाभारत में कहा गया है कि जो पुरूष सन्तान को जन्म नही देता वह अधार्मिक होता है। सन्तान को तीनों वेद और सदैव बना रहने वाला देवता माना गया है। इस भवसागर अथवा संसार को पार करने के लिये पुत्ररूपी नौका आवश्यक है। मनुसंहिता और महाभारत में पुत्र शब्द की उत्पत्ति पर प्रकाश डालते हुये कहा गया है कि पुत्र वह है जो अपने पिता को नरक अर्थात पुत् में जाने से बचाये। इस प्रकार पितृ यज्ञ को सम्पन्न करने और पितृ ऋण से उऋण होने के लिये पुत्र की उत्पत्ति आवश्यक मानी गई है। परिवार और समाज की निरन्तरता को ध्यान में रखकर ही सम्भवतः हिन्दू शास्त्रकारों ने विवाह के इस लक्ष्य को इतनी महत्ता प्रदान की है।

3. रति :—

रति का तात्पर्य समाज द्वारा स्वीकृत तरीके से अपनी यौन इच्छाओं की पूर्ति करना है। साधारणतया काम अथवा यौन इच्छाओं की पूर्ति सभी समाजों में विवाह के एक उद्देश्य के रूप में मान्य है। यौन सुख की प्राप्ति को उपनिषदों में सबसे बड़े आनन्द के रूप में महत्ता प्रदान की गई है। रति का तात्पर्य व्यभिचार या वासना से न होकर धर्मानुसार काम से है। हिन्दू धर्मशास्त्रो में जहां यौन इच्छाओं की तृप्ति को मनुष्य के लिये आवश्यक बताया

गया है, वहां साथ ही यह प्रतिबन्ध भी लगाया गया हे कि उसे केवल अपनी पत्नी के साथ ही सहवास करना चाहिये और वह भी उत्तम सन्तान की उत्पत्ति हेतु। हिन्दू विवाह के तीन उद्देश्यो में महत्व की दृष्टि से इसे निम्न अर्थात तृतीय स्थान दिया गया है। इस सम्बन्ध में डा0 कापडिया का यह कथन उल्लेखनीय है। "यद्यपि काम अथवा यौन सम्बन्ध विवाह का एक कार्य उद्देश्य अवश्य है किन्तु इसे तीसरा स्थान दिया गया है जिससे स्पष्ट है कि यह विवाह का अत्यत ही कम वांछनीय उद्देश्य है"।

इन तीनों उद्देश्यों के अतिरिक्त हिन्दू विवाह संस्था कुछ अन्य उद्देश्यों की दृष्टि से भी एक महत्वपूर्ण है। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने एवं चार पुरूषार्थ की प्राप्ति की दृष्टि से हिन्दू विवाह एक आवश्यक संस्कार है। तीन प्रकार के ऋणों से उऋण हो होने के लिये विवाह आवश्यक है। पितृऋण से मुक्त होने हेतु पुत्र सन्तान को जन्म देना अनिवार्य है जिससे वह पितरों को तर्पण और पिण्डदान दे सके। वैवाहिक बन्धन में बंधकर ही व्यक्ति इस ऋण से उऋण हो सकता है। इस प्रकार विवाह के द्वारा व्यक्ति मृत व्यक्तियों के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करने में सफल होते है। इसी प्रकार अन्य ऋणों से छुटकारा पाने के लिये भी विवाह आवश्यक है। स्त्री पुरूषों के व्यक्तित्व के समुचित विकास के लिये विवाह अनिवार्य है। विवाह स्त्री पुरूष के मानसिक जीवन को संतुलित बनाता है। और उनकी पशु प्रवृत्तियों करे नियंत्रित करने में योग देता है। विवाह सम्बन्धी विविध विधि विधानों से पति पत्नी को उनके अधिकार एवं कर्तव्यों और जीवन की वास्तविकताओं से परिचित कराने का प्रयास किया जाता है। इन सबका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि पारिवारिक संगठन बना रहता है। और व्यक्ति परिस्थितियों के साथ अनुकूलन कर पाता है। विवाह संस्था व्यक्ति को अपने परिवार और समाज के प्रति दायित्वों का निर्वाह करने की प्रेरणा प्रदान करती है। और उसमें त्याग की भावना को जागृत करती है। परिवार के प्रति भी व्यक्ति का कुछ कर्तव्य होता है। बूढ़े माता पिता की सेवा का उत्तरदायित्व, समाज सन्तान को ही सौंपता है और इसको निभाने के लिये आवश्यक है। इसके अलावा परिवार की परम्पराओं, प्रथाओं तथा धार्मिक मान्यताओं की निरन्तरता हेतु भी विवाह आवश्यक है। व्यक्ति का अपने समाज के प्रति भी कुछ दायित्व है और विवाह करके ही वह इस दायित्व को भली भांति निभा सकता है। विवाह करके सन्तान को जन्म देने से ही समाज की निरन्तरता बनी रहती है।

वर्तमान में विवाह के धार्मिक उद्देश्य की महत्ता काफी कम होती जा रही है। यौन इच्छाओं की पूर्ति और सन्तानोत्पत्ति ही आज विवाह के मुख्य उद्देश्य रह गये है। वर्तमान में

विवाह के उद्‌देश्य आदर्शो से बहुत कुछ भिन्न होते जा रहे है। इसके साथ ही काम के अनेक स्वरूप है।

1. कलात्मक काम :–

मानव एक अदभुत प्राणी है । उसकी इच्छायें भी अनन्त है और वह दान इच्छाओं की पूर्ति भी आवश्यक समझता है । मनुष्य की एक बड़ी इच्छा सुन्दर, दर्शनीय तथा कलात्मक वस्तुओ को देखने की होती है । इसलिये वह अपनी इस कलात्मक इच्छा को पूरा करने के लिये अपने घर को सुन्दर वस्तुओं से सजाता है । जिससे वह अपने घर को भव्य और सुन्दर बना सके । जिससे वह अपनी इच्छाओं को तृप्त कर सके । मानव अपने जीवन मे बहुत से मंदिरों एवं कलात्मक मूर्तियों का निर्माण करता और करवाता है। जिससे वह अपनी कलात्मक इच्छा को पूर्ण कर सके । आज भारत मे खजुराहो के मंदिर एलोरा की गुफाये मानव की कलात्मक इच्छा के प्रतीक माने जा सकते है । अपने देश के मंदिरों में भगवान राम और शिव एवं अन्य देवी देवताओं की मूर्तियां इस कलात्मक काम की अभिव्यक्ति है ।

2. आध्यात्मिक काम :–

भारतीय संस्कृति में पुरूषार्थ की अवधारणा, मानव की मुक्ति का व्यवहारिक कार्यक्रम है । मानव जहां इस संसार मे रहते हुये अपनी समस्त इच्छाओं की पूर्ति करना चाहता है वही वह इसी संसार में रहते हुये परलौकिक जीवन अर्थात मोक्ष को प्राप्त करने का भी प्रयास करता है । और इसके लिये वह विभिन्न मार्गो (कर्म, ज्ञान एवं भक्ति) को साधन बनाने का प्रयास करता है। मानव की अध्यात्मिक इच्छा भगवान के दर्शन और उनको प्राप्त करने की होती है। भारतीय दर्शन मे कहा गया है कि मानव परमात्मा को प्राप्त करने के लिये कभी परमपिता मानता है तो कभी सखा, तो कभी अपने को भक्त तथा कभी मानव ईश्वर को पति तथा अपने को पत्नी मानकर उसकी भक्ति करता है । तभी तो कबीर ने कहा है कि मैं तो राम की दुलहनिया हूँ और इसी प्रकार मीरा ने तो कृष्ण को अपना पति ही मान लिया था । और जीवन भर उनकी पत्नी ही बनी रहीं । यह काम का आध्यात्मिक रूप है इस आध्यात्मिक काम मे ईश्वर के दर्शन करना चहता है उसको पाना चाहता है, उसकी यही अन्तिम इच्छा होती है । कृष्ण और गोपिकाओं की रासलीला आध्यात्मिक काम का सबसे उपर्युक्त उदाहरण हैं ।

काम का सामाजिक जीवन मे महत्व :–

काम का व्यक्ति और समूह के जीवन मे विशेष महत्व है । काम व्यक्ति की विभिन्न प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति कर उसे मानसिक सन्तुष्टि देता है, जिससे मानव अपने लक्ष्य तक पहुंचने पर सक्षम होता है । इसके महत्व को निम्नलिखित तथ्यों से जाना जा सकता है–

1. काम की इच्छा से पुत्र की प्राप्ति होती है जो वंशाकुल का नाम ही नही चलता, वरन उन्हे ऋण से उऋण भी करता है ।

2. यौन इच्छा की सन्तुष्टि व्यक्ति के विकास मे सहायक है ।

3. मानसिक शान्ति के लिये यौन सम्बंध आवश्यक है।

4. समाज की निरंतरता काम पूर्ति से ही सम्भव है।

5. काम की पूर्ति होने के पश्चात ही व्यक्ति मे विरक्ति की भावना का जन्म होता है। विरक्ति की भावना मोक्ष की प्राप्ति मे सहायक होती है।

6. काम इच्छा की पूर्ति नहोने पर व्यक्ति अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न होते है जो शारीरिक एवं मानसिक रूप में हानिप्रद हैं।

7. काम का विस्तृत अर्थ समाज मे नाना प्रकार की कलाओं का सृजन करना है। उसकी उन्नति के लिये अनेक प्रकार के कार्य किये जाते है। स्कूल, कालेज और महाविद्यालय खोले जाते है जिससे संगीत गान, कला आदि मे उन्नति हो सके।

गृहस्थाश्रम मे काम की पूर्ति आवश्यक :–

भारत की प्राचीन सामाजिक आवधारणाओं में आश्रम व्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान है मानव के सम्पूर्ण जीवन को चार भागो मे विभाजित कर आश्रम व्यवस्था के माध्यम से उसके धार्मिक, सांसारिक कर्तव्यों एव उसके अन्तिम अभीष्ट अर्थात मोक्ष को प्राप्त करने को लक्ष्य रखा गया है । इस आश्रम व्यवस्था में कमानुसार ब्रह्मचर्य, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थ और अन्त मे सन्यास आश्रम रखा गया है । ब्रह्मचर्य आश्रम मे व्यक्ति अपनी समस्त इन्द्रियों पर संयम रखकर विद्याअर्जन करता हुआ विवाहोपरान्त गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करता है । गृहस्थाश्रम मानव मे पांच ऋणो से मुक्त होकर अपने सांसारिक जीवन को जीता था । यह पंच ऋण है देव ऋण, ऋषिऋण, पितृऋण, अतिथि ऋण और भूत ऋण के रूप मे जाने जाते थे । ईश्वर द्वारा दी गयी यह मानव योनी समस्त योनियों मे श्रेष्ठ मानी गयी है । इसलिये मनुष्य को अपने सांसारिक कर्तव्यों के साथ–2 ईश्वर का भजन पूजन, चिन्तन–मनन एवं धन्यवाद देने

का प्रयास भी करना चाहिये । इसी प्रकार व्यक्ति को ऋषि ऋण से उऋण होने के लिये घर आये साधु सन्तों की सेवा व भोजन दान देकर सन्तुष्ट करना चाहिये । पितृऋण से उत्कृष्ट होने के लिये प्रत्यके व्यक्ति अपनी पत्नी के साथ योनि आनन्द लेते हुये पुत्र को जन्म देना चाहिये तभी वह अपने पितृऋण से मुक्त हो सकता है । भारतीय संस्कृति मे अतिथि को ईश्वर का रूप माना गया है, अतः गृहस्थाश्रम का पालन कर रहे व्यक्ति को अपने द्वार पर आये अतिथि को सुरक्षा और भोजन देना चाहिये । इस प्रकार व्यक्ति को गृहस्थाश्रम मे धन उपार्जन करते हुये इन सभी ऋणों से उऋण होने का प्रयास करना चाहिये । तभी वह मानव जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष का अधिकारी हो सकता है ।

गृहस्थाश्रम में व्यक्ति नाना प्रकार से अपनी इन्द्रियों की सन्तुष्टि का प्रयास करता है । क्योंकि मानव को गृहस्थाश्रम मे ही इन्द्रियों द्वारा भोग की छूट दी गयी है। लेकिन विडम्बना यह है कि मानव अपनी इन्द्रियो के भोग मे ही लिप्त हो जाता है और शारीरिक सुख ही उसका अभीष्ट हो जाता है । मानव के शारीरिक सुखों मे यौन इच्छा और उसकी तृप्ति एक प्रमुख सुख माना जाता है । अधिकांशतः यह देखा गया है कि यौवन से लेकर वृद्धावस्था तक इस यौन सुख प्राप्त करने मे ही लगा रहता है । हालांकि गृहस्थाश्रम में स्त्री द्वारा प्राप्त यौन सुख को केवल पुत्र प्राप्ति तक ही सीमित किया गया है । इस प्रकार मानव अपनी अन्य इन्द्रियों विशेष रूप से जीव्हा और मुख के द्वारा भोज्य पदार्थो (मांसाहारी एवं शराब) का सेवन करता हुआ अपने जीवन को व्यतीत करता है । फलस्वरूप वह अपने पथ से भ्रष्ट हो जाता है । मेरे कहने का आशय यह है कि व्यक्ति को गृहस्थाश्रम मे अपनी इन्द्रियों की इच्छाओं को पूर्ण करना चाहिये । क्योकि यदि मानव इन इन्द्रियों की संतुष्टि नही करता तो उसका मन इन्ही कामनाओं मे लगा रहता है, फिर वह विरक्ति की तरफ नही चल पाता है अतः हमारे प्राचीन शास्त्र कहते है प्रत्येक मानव को संसार मे रहते हुये अपनी विभिन्न कामनाओं को पूरा करना चाहिये । लेकिन इन इच्छाओं की पूर्ति मर्यादित अर्थात धर्म के अनुकूल होनी चाहिये । क्योकि भोग के बाद त्याग और आसक्ति के बाद विरक्ति का भाव ही आता है ।
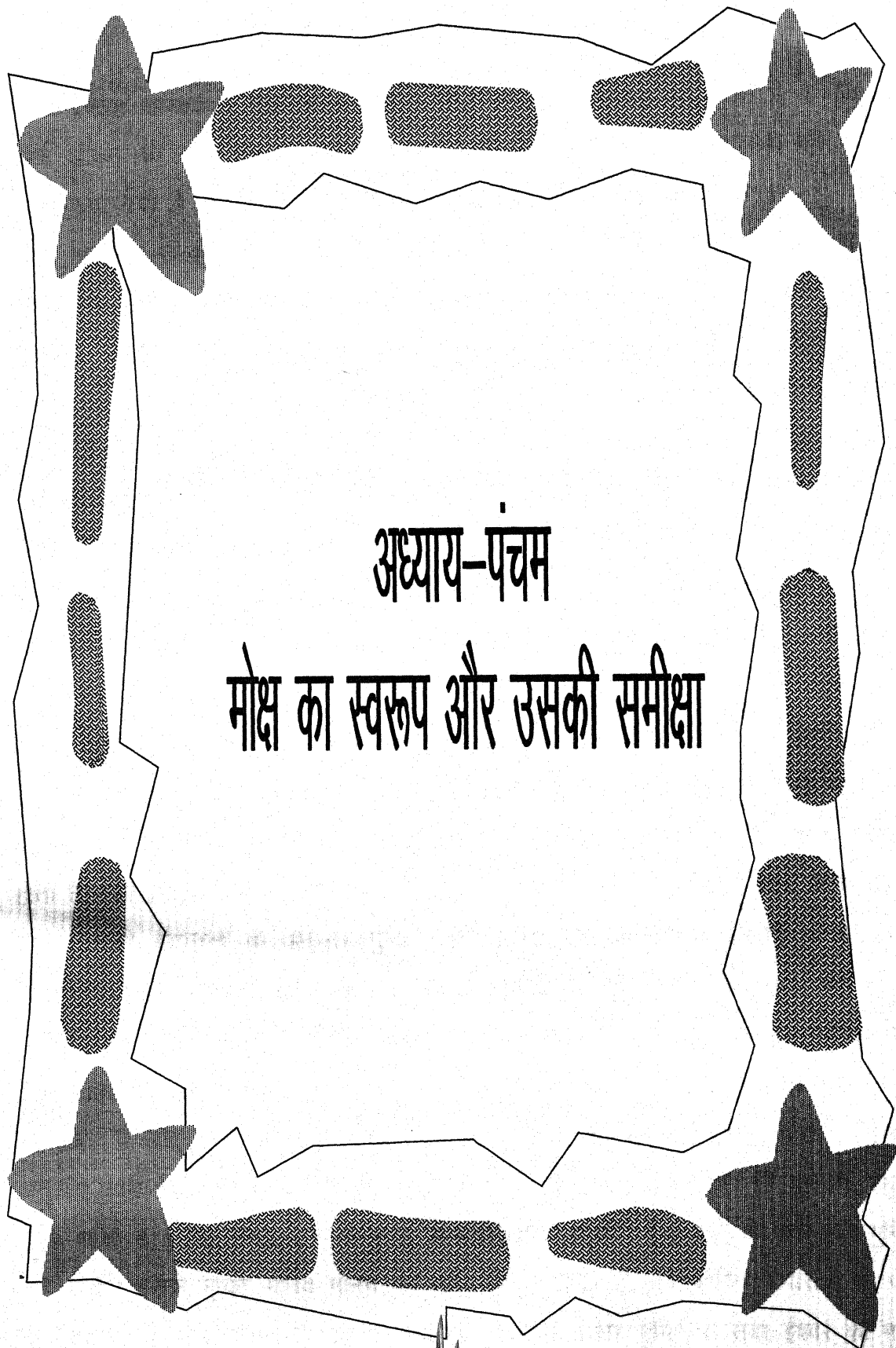
अध्याय–पंचम

मोक्ष का स्वरूप और उसकी समीक्षा

मोक्ष का स्वरूप और समीक्षा

प्रस्तुत अध्याय मे पुरूषार्थ के अंतिम चरण मोक्ष की व्याख्या की गयी है । मोक्ष को मानव जीवन का लक्ष्य बताया गया है इसको प्राप्त करने के मार्गो की व्याख्या की गयी है और बताया गया है कि मोक्ष प्राप्ति के पश्चात मानव जीवन का क्या स्वरूप है ।

भारतीय संस्कृति मे मानव जीवन का अभीष्ट अर्थात मोक्ष को सर्वोपरि माना गया है इस संसार मे आने के बाद मानव अपने जीवन मे नाना प्रकार दुखों और सुखों का भोग करता है । इस संसार का कोई भी प्राणी दुख नही चाहता लेकिन जीवन में दुख आवश्य मिलता है । यह संसार द्वन्द्व के माध्यम से संचालित होता है । यहां जन्म है तो मृत्यु भी है । स्त्री है तो पुरूष भी है इसी प्रकार व्यक्ति के जीवन मे दुख के बाद सुख और सुख के बाद दुख यह सब इस संसार की नियति है इसीलिये भारजीय ऋषियों और ज्ञानियों ने कहा है कि व्यक्ति को ऐसा जीवन जीना चाहिये जिससे वह सांसारिक द्वन्द्व से पार हो जाय अर्थात मोक्ष प्राप्त कर ले । अब प्रश्न उठता है कि मोक्ष क्या है ? मोक्ष इस संसार में व्यक्ति की वह स्थिति है जिसमे वह अपने ज्ञान, भक्ति और निष्काम कर्म द्वारा इस संसार के राजस और तामस गुणों के पार पहुंचने का प्रयास करता है ।

कुछ ज्ञानियों, ऋषियों और मनीषियों ने मोक्ष को स्वर्ग प्राप्त करने की स्थिति बताया है । जैन धर्म मे मोक्ष को केवल और बौद्ध धर्म मे निर्वाण की स्थिति को मोक्ष कहा गया है । भारतीय धर्मशास्त्रों मे शून्य की अवस्था ही होती है । लेकिन जैसे–2 उसका सामाजीकरण होता है उसी प्रकार वह धीरे–2 जाति और सम्प्रदाय की जंजीरों मे जकड़ता चला जाता है ।

स्वामी दयानन्द के अनुसार–मुक्ति एक आस्था एवं अवस्था है जिसमें मानव अपने कर्मानुसार सुख भोगकर पुनः इस संसार के बंधनो से मुक्ति नही चाहता। जब पांचों ज्ञानेन्द्रियों एवं बुद्धि मानव के स्थिर अवस्था मे एवं नियन्त्रित रहती है। तब इस अवस्था को मोक्ष कहते है । स्वामी जी इस बात से सहमत नही है कि मुक्ति मे प्राणी का लय और नाश हो जाता है और अगर प्राणी लय या नाश हो जाता है तो मुक्ति किसकी होती है उनके अनुसार प्राणी ईश्वर के तुल्य कभी नही हो सकता । प्राणो से मुक्त होकर भी गुणधर्म प्रकृति वाला रहता है । वह सदैव कर्म के बंधन से बंधा रहता है और इस कर्म के बंधन की मुक्ति नही होती। इससे मुक्ति मानव मानव को तभी मिल सकती है जब व्यक्ति उपासना के पथ को अपनाता है और अज्ञान के पथ को त्यागता है। इस प्रकार मुक्ति में सदा ईश्वर का नाम

ही पवित्र है । वही हमें मुक्ति का आनन्द दिलाता है और पृथ्वी पर पुनः जन्म देकर भेजता है । मुक्ति का अर्थ है जहां इच्छा हो वहां भ्रमण करें । ब्रह्म में लय होने से नही वरन् ब्रह्म में भ्रमण करता है । अज्ञान मे फंसकर प्राणी जब अपनी तृष्णा की पूर्ति करने मे फंस जाता है तो वही नरक है ।

डा0 कपाड़िया के अनुसार – "मोक्ष का अर्थ यह है कि मानव की शाश्वत प्रकृति आध्यात्मिक है और जीवन का लक्ष्य इसे प्रकट करना और इसके ज्ञान को प्राप्त करना है"[1] हिन्दू विचारक भली भांति इस बात से परिचित थे कि जीवन मे अर्थ और काम का महत्व है परन्तु साथ ही वे यह भी जानते थे कि इन्ही मे अपने आपको जकड़े रखना भी उचित नही है । अतः सांसारिक सुख प्राप्ति के साथ ही आध्यात्मिक उन्नति भी आवश्यक है । यह तभी सम्भव है जब मनुष्य आत्मज्ञान प्राप्त कर ले ईश्वर चिन्तन मे अपने को पूर्णतः कर ले। मोक्ष का तात्पर्य है हृदय की अज्ञानता का नाश । मीमांस मे स्वर्ग प्राप्ति को ही मोक्ष माना गया है।

बौद्ध दर्शन में मोक्ष को जीवन मुक्ति और विद्रोह मुक्ति के रूप में व्यक्त किया गया है । जीवन मुक्ति का तात्पर्य है संसार में रहते हुये संसार के कष्टों से छुटकारा तथा तत्व ज्ञान की प्राप्ति । विदेह मुक्ति का अर्थ है – जीवन मरण के बंधन से मुक्त होना अर्थात मरने के पश्चात पुनः संसार में लौटकर नही आना । मोक्ष बहुत ही कम लोगो द्वारा प्राप्त किया जाता है कठोपनषिद में कहा गया है कि "यह धनुष नही है जिसे प्रत्येक व्यक्ति या कोई भी अपने कन्धे से लटका ले । यह छुरे की धार के समान बहुत ही कठिन मार्ग है।"[2] भगवद्गीता मे कहा गया है कि यह "भक्ति मार्ग की अपेक्षा बहुत कठिन मार्ग है।"[3] उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित मोक्ष का सिद्धान्त यह है कि मानव स्वभाव वास्तव में दिव्य है, मानव के लिये ईश्वर की जानकारी प्राप्त करना तथा उससे तादात्मय स्थापित करना सम्भव है, यही मानव का अन्तिम लक्ष्य होना चाहिये इसकी प्राप्ति अपने उद्योगो एवं प्रयासों से ही सम्भव होती है । किन्तु इसकी प्राप्ति का मार्ग अत्यन्त कठिन है, इसके लिये अहंकार, स्वार्थपरता एवं सांसारिक विषयासक्ति से विमुख होना पड़ता है । मोक्ष सम्बंधी धारणा विभिन्न सम्प्रदायों, यथा न्याय, सांख्य, वेदान्त आदि द्वारा

---

1. के0 एम0 कपाडिया, मैरिज एण्ड फेमली इन इण्डिया, पेज–25
2. कठोपनिषद–3/14
3. भगवद्गीता–12/15

विभिन्न ढंगो से व्यक्त की गयी है । यहां तक कि स्वयं वेदान्त मे मोक्ष सम्बधी धारणा के विषय मे विभिन्न आचार्य विभिन्न मत प्रतिपादित करते है । कुछ विद्वानों ने घोषित किया है कि मुक्ति की चार अवस्थायें है :–

1. सालोक्य (प्रभु के लोक में स्थान)
2. सामीप्य (सन्निकटता)
3. सामरूप्य (प्रभु का ही स्वरूप धारण करना)
4. सामुज्य (समाहित हो जाना)

ब्रम्ह निर्धारण का सिद्धान्त मोक्ष की धारणा को दूसरे ढंग से व्यक्त करता है । इस सिद्धान्त के अनुसार जब व्यक्ति को ब्रह्मात्मैक्य का सम्पर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब आत्मा का लय परब्रह्म मे हो जाता है । इस अवस्था को ही मोक्ष कहते है । मोक्ष की प्राप्ति के लिये न कोई स्थान और न कोई समय । क्योकि मोक्ष तो आत्मा की मूल शुद्धावस्था है । गीता के पांचवें अध्याय मे कहा गया है कि जो व्यक्ति अनासक्त भाव से कार्य करता है, सभी प्राणियों को समान रूप से प्रेम करता है, जिसे सुख दुख की चिन्ता न हो, इच्छाओं से मुक्त हो, ऐसा व्यक्ति ही मोक्ष का अधिकारी होता है ।

सांख्य शास्त्र मे मोक्ष के अर्थ के सम्बंध मे बताया गया है कि यथार्थ मे पुरूष किसी भी कार्य का कर्ता नही है । जो कुछ होता है वह सब प्रकृति का ही खेल है यहां तक कि मन और बुद्धि भी प्रकृति के ही विकार है । बुद्धि को जो कुछ ज्ञान प्राप्त होता है, वह भी प्रकृति के कार्य का ही फल है जब व्यक्ति का सात्विक ज्ञान प्राप्त हो जाता है जब पुरूष अनुभव करने लगता है कि मै प्रकृति से भिन्न रहता हूँ इस अवस्था मे व्यक्ति पर पड़ा माया का आवरण टूट जाता है और वह इससे अप्रभावित रहता है । इस अवस्था मे वह सब प्रकार के बंधनो से मुक्त होकर कैवल्य स्थिति मे पहुंच जाता है । कैवल्य का तात्पर्य है अकेलापन या प्रकृति के साथ संयोग न होना । पुरूष की इस स्वभाविक स्थिति को ही सांख्यशास्त्र मे मोक्ष माना गया है । शिवगीता के अनुसार "मोक्ष किसी स्थान पर रखी हुई कोई वस्तु नही है और न ही विभिन्न गांवो मे घूमकर इसे प्राप्त इसे प्राप्त किया जा सकता है । हृदय की अज्ञानता ग्रन्थि के नाश होने अर्थात व्यक्ति द्वारा ज्ञान प्राप्त कर लेने को ही योग कहा जाता है ।[1]

1. शिवगीता 13/32 ।

गीता मे बताया गया है कि "बाह्य सुख की आशा न कर जो अन्तः करण सुखी हो जाय जो अपने आप मे ही आनन्द प्राप्त करने लग जाय और जिसे अन्तः प्रकाश मिल जाये वह योगी ब्रह्म रूप हो जाता है । और उसे ही ब्रह्म मे लीन हो जाने का सौभाग्य प्राप्त होता है । जिन ऋषियों की द्वन्द बुद्धि समाप्त हो गयी अर्थात जो यह जान चुके है कि सभी स्थानों में एक ही परमेश्वर है जिनके पाप नष्ट हो चुके हैं तथा जो आत्म संयम से सभी प्राणियों का हित करने मे लगे रहते है उन्हें निवाण मोक्ष) प्राप्त होता है ।[1]

अद्वैत वेदान्तियो की मान्यता है कि आत्मा स्वयं ही परब्रह्म स्वरूप है और जब मानव आत्मा के इस स्वरूप को पहचान लेता है तब वह स्थिति उसकी मुक्ति या मोक्ष कहलाती है। इसी कारण अद्वैत वादियों का कहना है कि अपनी आत्मा के अमर, श्रेष्ठ, शुद्ध नित्य एवं सर्वव्यापी स्वरूप को पहचान कर उसी में लीन हो जाना, ज्ञानवान व्यक्ति का इस संसार में प्रथम कर्तव्य है । स्पष्ट है कि जब व्यक्ति संसार के सुख दुख का उपभोग करके यह अनुभव कर लेता है कि ये सब अनित्य, अपूर्ण है तो अपने आपको सांसारिक बंधनों से मुक्त करने का प्रयत्न करता है । और तब मानव यह भी अनुभव करता है कि व्यक्ति को पुनः–2 जन्म लेकर इस संसार मे आना पड़ता है और अनेक प्रकार के दुख भोगने पड़ते है । अतः वह जन्म मरण के बंधनों से छुटकारा पाने के लिये प्रयत्न करता है । और इस प्रयत्न में सफलता ही वास्तविक मोक्ष है । व्यक्ति जब परब्रम्ह को ठीक प्रकार से जान लेता है संसार के भोगो को भोगने के पश्चात अपने सही स्वरूप को पहचान लेता है और उसी में लीन हो जाता है तो इस स्थिति को मोक्ष के नाम से पुकारते है । मोक्ष को ब्रम्ह की अनुभूति और परमआनन्द की स्थिति के रूप मे लिया गया है । मोक्ष का तात्पर्य यह है कि आत्मा का परमात्मा से मिलन हो जाये, वे दोनो एकाकार हो जायें और व्यक्ति को विभिन्न रूपों में बार–2 संसार मे नही आना पड़े। इस दृष्टि से आवागामन के बंधनों से छुटकारा प्राप्त करना ही मोक्ष है । श्रुति के अनुसार – सब प्रकार की इच्छाओं से छुटकारा प्राप्त करना ही मोक्ष है तभी तो किसी मनीषी का कथन है –

"न मोक्षों नभसः पृष्ठे न पातालेन भूतले।
सर्वाशासक्ष्यें चेतः क्षर्यो मोक्षः इति पुति।।"

---

1. *गीता 5/25–28*

इसका तात्पर्य है कि आवागमन से छुटकारा पा जाने को ही मोक्ष कहा जाता है । मोक्ष आत्मा की आत्मशुद्धि एवं आत्मिक विकास का ही दूसरा नाम है । मानव का ब्रह्मज्ञानी हो जाना ही मोक्ष है ।

3. मोक्ष की परिभाषाएं :–

1. राधाकृष्णन के अनुसार – "मोक्ष एक आध्यात्मिक साक्षात्कार है।"

2. महात्मा गाँधी के अनुसार – "अहं के कारण यह शरीर रहता है । अहं का पूर्ण रूप से नाश ही मोक्ष है । जिसने ऐसा करने मे सफलता प्राप्त कर ली, यही सत्य की वास्तविक मूर्ति है उसे ही हम ब्राह्मण कह सकते हैं ।"

1. पी0वी0काणे ने लिखा है कि –"यह मानव जीवन का सर्वोत्तम लक्ष्य है ।"[1]

इस प्रकार भारतीय जीवन दर्शन मे मानव के अभीष्ट के रूप मे मुक्ति या मोक्ष को रखा गया है इस संसार में रहते हुये व्यक्ति नाना प्रकार के दुखों और कष्टों को भोगता है यद्यपि वह सदैव सुख की ही कामना करता रहता है । और यही तृष्णा उसके मृत्यु तक उसको विश्राम नही लेने देती है । इसलिये ऋषिभर्तहरि ने कहा है कि व्यक्ति का शरीर तो रूणा होकर जल जाता है लेकिन तृष्णा नही मरती । मानव के सामने इस संसार बंधन से छुटकारा के लिये केवल मोक्ष ही उसको सुख शांति और परमानन्द को प्रदान करने वाला एक मात्र साध्य मोक्ष ही रहता है इसलिये प्राचीन काल मे बहुत से मानवो ने इस संसार के यथार्थ को जानकर मोक्ष प्राप्त करने का प्रयास किया था । यह कहा जा सकता है कि उस समय प्रत्येक मानव अपने पुरूषार्थो का पालन करते हुये विभिन्न आश्रमों के धर्मो को साधन बनाते हुये मोक्ष तक पहुंचने का प्रयत्न करता था ।

इसके पहले कि मैं मोक्ष के मार्गो को बतलाने का प्रयास करूं यहां यह भी जानना आवश्यक हो जाता है कि मोक्ष यात्री की इस यात्रा का दिशा निर्देश कौन करेगा ? इस आध्यात्मिक यात्रा का दिशा निर्देश वही व्यक्ति कर सकता है कि जो कभी इस मार्ग का पथिक रहा हो और जो मंजिल तक पहुंचा हो वही ज्ञानी भक्त या सन्त गुरू के योग्य हो सकता है। हमारे भारतीय जीवन दर्शन मे व्यक्ति को गुरू करने का निर्देश दिया गया है और लगभग सभी

---

1. पी0वी0काणे,धर्मशास्त्र काइतिहास, द्वितीय भाग, अध्याय 8 पेज 236।

हिन्दू अनुयायी अपने जीवन मे प्रारम्भ से लेकर अन्त तक किसी न किसी साधु या सन्त को गुरू अवश्य बनाने का प्रयास करते है । यहां पर यह कहना समीचीन होगा कि गुरू किस व्यक्ति को बनाना चाहिये क्या किसी भी साधु सन्त को गुरू बनाया जा सकता है । मेरा मत है कि व्यक्ति को गुरू के रूप मे उसी व्यक्ति को स्वीकार करना चाहिये जो ब्राह्मज्ञानी अर्थात जिसको ईश्वर स्वंय उपलब्ध हो गया हो । कहने का तात्पर्य यह है कि जिसने स्वयं को ईश्वर को जाना हो जो आत्मज्ञानी नही है, जिसको परमानन्द प्राप्त नही हुआ है वह कैसे दूसरे व्यक्ति को उस मार्ग की यात्रा का दिशा निर्देश दे सकता है, जिस पर उसने स्वयं कभी यात्रा न की हो ।

भारतीय संस्कृति में गुरू को बहुत ही महिमामण्डित किया गया है। गुरू को साक्षात् ईश्वर की संज्ञा दी गयी है । इसलिये हमारे शास्त्रों मे कहा गया है कि –

"गुरू ब्राह्म गुरूविष्णु–गुरू देवो महेश्वरा।
गुरू साक्षात् परब्राह्म तस्मै श्री गुरूवे नमः।"

अर्थात गुरू ही ब्राह्मा है, गुरू ही विष्णु है, गुरू ही शिव है, एवं गुरू ही साक्षात् परमब्राह्म है, इसलिये गुरू को सदैव नमन करना चाहिये, उसका सम्मान तथा श्रृद्धा करनी चाहिये । उपरोक्त से यह आशय है कि गुरू की महिमा अपार है । इसलिये प्रत्येक वह मानव जो मोक्ष को किसी भी मार्ग से प्राप्त करना चाहता है सबसे पहले किसी योग्य साधु संत या ज्ञानी अथवा मुक्त को गुरू के रूप मे स्वीकार करना चाहिये । उसके सामने अपने को दास के रूप में उपस्थित करना चाहिये। जब तक आप गुरू के सामने है। जब तक अपनी बुद्धि और ज्ञान का विसर्जन कर देना चाहिये । व्यक्ति को खाली घड़े के समान बन जाना चाहिये तभी तो गुरू उसमे कुछ भर सकेगा । व्यक्ति की आध्यात्मिक यात्रा मे अगर कोई उसका शत्रु है तो अहंकार है । व्यक्ति का कर्ता भाव का समाप्त होना बहुत असम्भव कार्य होता है । यदि कोई मानव वास्तव मे अपने जीवन मे मोक्ष पाना चाहता है तो उसको काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार से मुक्ति पाना चाहिये । इन मानव शत्रुओ को समाप्त करने का सदप्रयास करना चाहिये । यह सब चिन्तन, मनन, ध्यान और स्वाध्याय से सम्भव हो सकता है । मन को नियंत्रित करने का प्रयाय करना चाहिये, क्योंकि व्यक्ति के जीवन मे मन ही सभी बुराईयों की जड़ है जब तक यह स्थिर नही होता है तब तक पारलौकिक यात्रा प्रारम्भ करना बहुत ही कठिन होता है ।

जब कोई भी व्यक्ति गुरू के पास मोक्ष या मुक्ति अर्थात ज्ञान को प्राप्त करने पहुंचता है तो सर्व प्रथम गुरू उसकी परीक्षा लेता है । इस संसार मे ऐसे भी गुरू हुये है जिन्होने ज्ञान के आकांक्षी को शराब पीने मांस खाने को कहा । यदि व्यक्ति ने शराब पी लिया या पीने की चेष्टा की तो गुरू समक्ष जाता था कि व्यक्ति ने मेरा आदेश माना और अपनी बुद्धि का प्रयोग कर शराब पीने से मना नही किया । दूसरी बात यह भी थी कि इस व्यक्ति में बहुत अच्छे बुरे का चुनाव रहा । यह अचुनाव मे पहुंच गया है । इसी समय कुछ ऐसे भी शिष्य पहुंचते थे जो शराब पीने और मांस खाने से मना कर देते थे, उनको यह गुरू अपने शिष्य के योग्य नही समझता था । और उनसे वहां से चले जाने का आदेश देता था । धर्म का मार्ग बड़ा कठिन है । इसलिये कहा गया है कि धर्म से बड़ा कोई दुस्साहस नही है । गुरू के पास व्यक्ति को बिल्कुल खाली अर्थात अहंकार शून्य होकर पहुंचना चाहिये सच्चा गुरू वही है जो व्यक्ति के सामाजिक जीवन की हत्या कर देता है कल तक आप डाक्टर, वकील, प्रोफेसर या पूंजीपति थे और यदि अब भी आप यह सब सोचते रहे है कि भूत मे फलां-2 था तब आप की भविष्य की यात्रा कभी भी फलित नही हो सकती । गुरू के पास व्यक्ति सम्पूर्ण समर्पण के साथ पहुंचना चाहिये । क्योकि गुरू के बिना मनुष्य को ज्ञान नही हो सकता । वही इस भवसागर से पार लगा सकता है।इसलिये गुरू को साक्षात ईश्वर या परमात्मा की संज्ञा दी गयी है। भारतीय संस्कृति की साधु परम्परा मे कबीर आत्मबोध को उपलब्ध सन्त कवि एक अलमस्त फक्कड़, परम रहस्य के एक अनूठे गायक और परमात्मा रस से संसक्ति ज्ञानी हुये है । इन कबीर ने भी गुरू की महिमा का वर्णन अपनी रचनाओं मे किया है जो निम्न प्रकार से है ।

गुरू गोविन्द दोउ खडे काके लागूं पायं।
बलिहारी गुरू आपने, गोविन्द दियो बताय।।
हरि रूठे गुरू ठौर है, गुरू रूठे नही ठौर।।

आपने तो यहां तक कहा है कि यदि गुरू गोविन्द दोनो खड़े हो तो गुरू की आज्ञा का पालन सबसे पहले करना चाहिये । दूसरी बात आप ने कहा कि यदि भगवान रूठ जाता है तो गुरू को ठिकाना बनाया जा सकता है लेकिन यदि गुरू रूठ जाय तो किसके पास जाया जाये । क्योंकि गुरू के बिना भगवान का रास्ता कौन बतलायेगा । इसलिये प्रत्येक साधक जो कर्म, ज्ञान मार्ग यथाभक्ति मार्ग के माध्यम से मोक्ष प्राप्त करना चाहता है, उसको उपयुक्त समय पर एक सिद्ध पुरूष को जो स्वयं मुक्त हो चुका हो गुरू स्वीकार करना

चाहिये और फिर उसकी आज्ञा अनुसार अपनी आध्यात्मिक यात्रा प्रारम्भ करनी चाहिये तभी उसको मोक्ष या ज्ञान उपलब्ध हो सकता है । प्रचीन धर्मशास्त्रों मे कई जगह यह उल्लेख मिलता है कि यदि मानव अपने जीवन मे मोक्ष को प्राप्त करना चाहता है तो उसको किस मार्ग का अनुसरण कर मोक्ष तक पहुंचना चाहिये । हमारे जीवन दर्शन मे मोक्ष को प्राप्त करने के तीन मार्ग बतलाये गये है । जो निम्नलिखित है –

1. कर्म मार्ग
2. ज्ञान मार्ग
3. भक्ति मार्ग

उपरोक्त तीनो मार्गो मे से किसी एक मार्ग पर चलकर व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी बन सकता है ऐसा शास्त्रों मे कहा गया है । यद्यपि भरतीय आध्यात्मिक इतिहास मे कुछ महामानव ऐसे भी हुये है जिन्होने तीनो मार्गो का पालन करते हुये परमानन्द को प्राप्त किया, इनमे कबीर को तीनो मार्गो की त्रिवेणी के रूप मे देखा जाता है अब प्रश्न यह उठता है कि जो व्यक्ति संसार मे माया मोह से निराश होकर मोक्ष को प्राप्त करना चाहता है उसे मोक्ष के किस मार्ग का चयन करना चाहिये । और उसके द्वारा अपने अभिष्ट का प्रयास करना चाहिये । ईश्वर ने प्रत्येक व्यक्ति को एक अलग स्वभाव देकर जन्म दिया है । इसी संसार में कोई व्यक्ति बुद्धि प्रधान होता है तो कोई व्यक्ति ह्यदय प्रधान होकर जन्म लेता है कोई व्यक्ति संकल्पवान होता है तो कोई व्यक्ति संकल्पहीन होता है अर्थात तरह तरह के फर्मे के लोग इस संसार में पाये जाते है । यहां कोई किसी का विकल्प भी नही हो सकता, इसलिये जो व्यक्ति इस संसार के दुखों–सुखों से ऊबकर मोक्ष की यात्रा करना चाहता है उसको सर्व प्रथम अपने स्वभाव को देखना चाहिये । कर्म मार्ग का इच्छुक व्यक्ति किसी भी स्वभाव या प्रकृति का हो सकता है । वह बुद्धि प्रधान या हृदय प्रधान, संकल्पवान या संकल्पहीन कोई भी हो सकता है। इस संसार मे बहुत से व्यक्तियों के जीवन में बुद्धि की प्रधानता होती है वह प्रत्येक कार्य तर्क की कसौटी पर कसकर या बुद्धि द्वारा सोच समझकर ही निर्णय लेते है । और प्रायःयह भी देखा गया है कि ऐसे व्यक्ति संकल्पवान भी होते है । यह लोग जीवन मे जिस कार्य का संकल्प ले लेते है उसको पूरा करके ही छोड़ते है । इस अवधारणा को एक उदाहरण देकर समझाया जा सकता है अक्सर लोग एक समूह मे बैठकर वार्तालाप करते है मान लिया उसी समय एक भिखारी आता है और उस समूह के लोगों से भिक्षा देने का निवेदन करता है तब उस समूह के कुछ लोग उस भिखारी को भिक्षा के रूप में धन दे देते

है और कुछ लोग भिखारी के शरीर और उसकी आयु पर विचार करने लगते है तथा उस भिखारी का हष्टपुष्ट शरीर होने के कारण उसको शारीरिक परिश्रम कर मजदूरी कमाने का उपदेश देते है उपरोक्त घटना के सन्दर्भ मे कहा जा सकता है कि उस समूह के कुछ लोगो ने हृदय प्रधान होने के कारण दयावश उसको भिक्षा दे दी क्योकि कहा गया है कि प्रेम देता है ऐसे लोग यदि मोक्ष के मार्ग पर चलना चाहते है तो उसकों भक्ति मार्ग पर चलकर मोक्ष प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये । इसी समूह के कुछ लोग ऐसे भी है जो अपनी बुद्धि द्वारा चिन्तन करते है कि यदि यह भिखारी हष्टपुष्ट होने के कारण शारीरिक श्रम करे तो कही ज्यादा धन कमा सकता है, जो लोग ऐसा सोचते है यह बुद्धि प्रधान लोग है इनको ज्ञान मार्ग पर चलना चाहिये क्योकि ऐसे व्यक्तियों के लिये बुद्धि और ज्ञान ही सब कुछ है इस प्रकार कहा जा सकता है जो भी व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त करना चाहता है उसको सबसे पहले अपने मार्ग की पहचान करनी चाहिये । कभी–2 यह भी देखा गया है कि कई व्यक्ति मोक्ष के गलत मार्ग को चुनकर अपनी आध्यात्मिक यात्रा प्रारम्भ कर देते है लेकिन वह अपनी मंजिल या साध्य मोक्ष को प्राप्त नही कर पाते है और अपनी यात्रा अधूरी ही छोड़कर पुनः गृहस्थाश्रम को अपना लेते है ।

अब मैं मोक्ष को प्राप्त करने के तीन मार्गो को क्रमशः समझाने का प्रयत्न करूंगी ।

1. कर्म मार्ग :– हिन्दू जीवन दर्शन में मानव की आयु को चार भागो मे विभाजित किया गया है – जिसको आश्रम व्यवस्था कहा जा सकता है । प्रारम्भ के पच्चीस वर्ष ब्रम्हचर्य आश्रम फिर पच्चीस से पचास वर्ष तक गृहस्थाश्रम उसके बाद पचास से पछत्तर वर्ष तक वान प्रस्थ आश्रम और अन्तिम सौ वर्ष तक सन्यास आश्रम माना गया है इस सभी आश्रमों के अपने अपने धर्म और कर्तव्य है । इस प्रकार मानव के सम्पर्ण जीवन कर्तव्यों के रूप मे पुरूषार्थ की अवधारणा को जन्म दिया गया था। भारतीय जीवन दर्शन मे कर्म के सिद्धान्त और पुनर्जन्म की अवधारणा को भी मान्यता प्रदान की गयी है। भारतीय संस्कृति मे कहा गया है कि इस संसार मे प्रत्येक व्यक्ति को कर्म करना चाहिये कर्म से ही यहां इच्छित वस्तु या उद्देश्य को प्राप्त किया जा सकता है । लेकिन कर्म के सिद्धान्त द्वारा यह भी कहा गया है कि अच्छे कर्मो का अच्छा परिणाम और बुरे कर्मो का बुरा परिणाम होता है । अर्थात व्यक्ति को अपने जीवन मे अच्छे कर्मो को करना चाहिये और बुरे कर्मो को नही करना चाहिये। हमारे जीवन दर्शन मे कर्म भी तीन प्रकार के बताये गये है। जिनको मनसा वाचा कर्मणा के

रूप में कहा जाता है । एक कर्म यह होता है जो शरीर द्वारा किया या व्यवहार करके किया जाता है जैसे गरीबों को दान देना, माता पिता की शारीरिक सेवा करना, दीन दुखियों एवं रोगियों की सेवा करना, घर पर आये हुये साधु सन्तों की सेवा करना, पशुपक्षियों को भोजन कराकर उनको तृप्त करना आदि यह कार्य शारीरिक कार्य कहे जा सकते है । दूसरे कार्य हमारे जीवन मे वाणी द्वारा किया जाता है । अपनी वाणी से मीठा बोलना, किसी की निन्दा न करना । यदि आप किसी दुखी व्यक्ति से दो मीठे शब्द बोल देते है तो उससे ही आपको शांति मिल जाती है । भारतीय जीवन दर्शन में कहा गया है कि परनिन्दा से बड़ा कोई पाप नही है इसलिये व्यक्ति को कर्म मार्ग से मोक्ष प्राप्त करना चाहता है उसको अपनी वाणी का सदुपयोग करना चाहिये दुरूपयोग नही । तीसरा कार्य हमारे मन से होता है हम अपने में सदैव कुछ न कुछ सोचते रहते है कभी हमारे मन मे अच्छे विचार आते है और कभी बुरे विचार आते है । कर्म मार्ग मे कहा गया है कि व्यक्ति को कभी भी अपने मन में बुरे विचार नही लाने चाहिये, यद्यपि इस मन के कृत्यों को कोई दूसरा प्राणी देखता नही और नही इनसे प्रभावित होता है फिर भी प्राणी को अपने मन मे बुरे विचारो को स्थान नही देना चाहिये । क्योकि कहा गया है कि मन के विचार ही भविष्य मे शरीर के कर्म बन जाते है ।

प्रत्येक वह व्यक्ति जो कर्म मार्ग का अनुयायी है उसको अपने जीवन मे सभी आश्रमों के धर्मो का पालन करना चाहिये । ब्रम्हचर्य आश्रम मे व्यक्ति को अपनी इन्द्रियो पर संयम रखना चाहिये और ज्ञानार्जन करते हुये अपने गुरू की सेवा करनी चाहिये यही ब्रम्हचर्य आश्रम का धर्म और कर्तव्य है । गृहस्थाश्रम मे मानव को अपने सभी ऋणो से मुक्त होने का प्रयास करना चाहिये । यह सभी ऋण देव ऋण, ऋषि ऋण पितृ ऋण, अतिथि ऋण और भूत ऋण के रूप में जाने जाते है । इन ऋणों से मुक्ति व्यक्ति पंच महायज्ञ करके प्राप्त कर सकता है । देव ऋण से मुक्ति के लिये व्यक्ति ईश्वर का हवन पूजन करना चाहिये ऋषि ऋण से उऋण होने के लिये साधु सन्तों को भोजन देकर सेवा करनी चाहिये । पितृ ऋण से उऋण होने के लिये विवाह करके एक पुत्र को जन्म देना चाहिये तभी वह अपने पिता के ऋण से मुक्त हो सकता है । भारतीय संस्कृति में अतिथि को ईश्वर का स्थान दिया गया है । इसलिये "अतिथि देवोभव" का आदर्श गृहस्थाश्रम मे रखा गया है । हमारे सम्पूर्ण जीवन मे जाने अनजाने मे बहुत से पशु पक्षी हमारी सहायता करते है इसलिये उनको भी कभी कभी भोजन एवं अन्न देकर भूत ऋण से मुक्त होने का प्रयास करना चाहिये । इस प्रकार प्रत्येक

आश्रम मे व्यक्ति को अपने धर्मो एवं कर्तव्यों का पालन करते हुये मोक्ष की कामना करना चाहिये ।

हमारे प्राचीन धर्म शास्त्रों मे कहा गया है कि जो व्यक्ति कर्म मार्ग के आध्यम से मोक्ष को प्राप्त करना चाहता है उसको अपने जीवन मे दया, क्षमा, संयम, पवित्रता, शुचिता, सेवा, प्रेम, सहयोग, श्रद्धा, आस्था को धारण करना चाहिये । इन्द्रियो पर संयम रखते हुये मांस, मदिरा एवं अन्य तामसी पदार्थो का सेवन नही करना चाहिये । परनिन्दा नही करना चाहिये, मधुर वाणी बोलकर दूसरों को शांति पहुंचाना चाहिये इस मार्ग में यह भी कहा गया है कि व्यक्ति दान देकर तीर्थ स्थानों के दर्शन कर, पवित्र नदियों मे स्नान कर एवं भिन्न भिन्न पवित्र तिथियों पर वृत एवं हवन यज्ञ कर मोक्ष का अधिकारी बन सकता है । यहां यह भी कहा गया है पवित्र धर्मग्रन्थों जैसे वेद पुराण, उपनिषद गीता, रामायण एवं भागवत का पाठ कर एवं श्रवण कर उनका आध्यात्मिक लाभ अर्जित कर पुण्य कमाया जा सकता है । यह सब साधन कर्ममार्ग की यात्रा के साधन है यह मार्ग सभी मार्गो से सरल एवं कठिन है युधिष्ठिर ने इसी मार्ग पर चलकर मोक्ष प्राप्त किया था इस मार्ग को निष्काम कर्मयोगियों के द्वारा और भी विस्तार से समझाया जा सकता है ।

मोक्ष एवं निष्काम कर्मयोग :–

बिना ज्ञान के मुक्ति असम्भव है जिस प्रकार धधकती हुई आग काष्ट–पुंज को जलाकर राख बना देती है उसी प्रकार ज्ञानाग्नि मे समस्त कर्म पुंज जलकर स्वाहा हो जाते है । यह गीता का कथन है ज्ञान कर्म को नही अपितु उसके बन्धनात्मिक शक्ति को भस्म करता है । ज्ञान से ही जीवन प्रणाली तथा कर्मो का शुद्धिकरण होता है जल जाने के बाद रस्सी किसी को बांध नही सकती वैसे वह रस्सी जैसी प्रतीत भले ही हो । उसी प्रकार से कर्म मनुष्य को बंधन में डालते है किन्तु ज्ञानाग्नि मे दग्ध कर दिये जाने के बाद वे चाहे कर्म सदृश प्रतीत भले ही हों किन्तु उनमे कर्ता को बंधन मे गलाने की शक्ति नही रह जाती । वह शक्ति जो कर्म के माध्यम से अपना अभिव्यक्ति चाहती है वह ज्ञान के रूप मे परिवर्तित हो जाती है ।

हम उस ज्ञानाग्नि को कैसे पैदा कर सकते है जो कि कर्म के बंधन को दग्ध कर सकें ? हम अपने कर्मो को भोगकर कभी भी छुटकारा नही पा सकते । कर्मो से भागना या उनसे आंख मूंद लेना, कर्मो को नष्ट करना नही हुआ । जीवन की समस्याओं को यूं ही नही

टाला जा सकता । उनका तो समाधान करना ही होगा जीवन एवं कर्म के मुट्ठी मे आने के बाद, बुद्धिमत्ता पूर्वक उनके चुनौतियों को स्वीकार कर आध्यात्मिक बल एवं निष्काम भाव से कर्मो का सम्पादन करते हुये ही उनसे मुक्ति मिल सकती है । प्रायः लोग अच्छे कर्म करने मे ही विश्वास करके उसको अपना जीवन दर्शन बना लेते है यह जीवन दर्शन अधिक दूरी तक साथ नही देता क्योंकि एक–2 बर्हिमुखी अभिव्यक्ति मात्र है । किसी चीज को अच्छा मानने का मात्र विश्वास बहुत उथला दर्शन है । जीवन की परीक्षा की घड़ियों में इस दर्शन की अपूर्णता सिद्ध हो जाती है। वास्तविक शक्ति निष्काम कर्म से आती है जिसे मन वचन एवं कर्म से अभिव्यक्त करना होता है । हमे यह कदापि नही भूलना चाहिये कि इस शक्ति का मूल त्रोंत आत्मा है । अंतित श्वांस तक कर्मरत रहना ही जीवन की सफलता एवं सार्थकता का रहस्य है । अकर्मण्य व्यक्ति को तमस की तरफ तथा स्वार्थ परक कर्म बंधन की तरफ ले जाती है । अतः मानव को इन दोनो से बचकर रहना चाहिये ।

स्वार्थपरता, आध्यात्मिक चेतना की प्रतिबंधनी है स्वार्थमयता जानवरो को शोभा दे सकती है क्योंकि उन्हे अपने सच्चे स्वरूप का कोई अनुभव नही है । सांसारिक विषय ही उनके सम्पूर्ण चेतना को अवृत्त किये हुये है केवल मनुष्यों मे ही यह आत्माभिमुखी जागरूकता पाई जाती है। आत्म नियंत्रण अनुशासन, शारीरिक एवं मानसिक सन्तुलन के साथ निष्काम कर्म ये ही शुद्ध बुद्ध तथा नित्य मुक्त स्वभाव वाले आत्मा के ज्ञान के साधन है केवल अपने भौतिक अस्तित्व की रक्षा मे ही अनुरक्त रहना एक प्रकार से आध्यात्मिक विकास का हनन करना है, क्योंकि इस प्रवृत्ति से व्यक्ति अपने पूर्णता के उद्घाटन के सौभाग्य से विमुख हो जाता है ।

भाग्य भी मनुष्य की अपनी सृष्टि है अपना ही पूर्व जन्म का किया हुआ कर्म भाग्य बनकर प्रस्तुत होता है । जीवन जीने की कला तथा कार्य करण भाव की परिधि से परे जा सकते है मानव अपने समस्त अनुभूतियों को स्थान एवं काल की ही परिधि मे परिभाषित करता है । स्थान एवं काल वस्तुतः क्या है ? वे अपने आप मे परम सत्य नही है । वे केवल तुल्यात्मक मान्यतायें है जब मन एकाग्र होकर स्थान काल एवं कार्यकारण भाव के परिधि से परे हो जाता है तब संस्कारों से मुक्ति पाना सम्भव हो जाता है ।

दुख एवं मोह का अनुभव शारीरिक एवं मानसिक अवस्थाओं के साथ अज्ञानमयी तादाम्य के फलस्वरूप हुआ करता है । इसी तादाम्य भावना के कारण हम अपने को असहाय पाते है साथ ही दूसरो से पृथक रखते है। इस निर्बलता की अवस्था मे हम विविध प्रकार की

गलती करते है जो कर्मबंधन को और भी पुष्ट बनाकर नये–2 संस्कारो को पैदा करके जन्म मरण के अंतहीन चक्र मे डाल देती है ।

आंतरिक सत्य के प्रतिजागरूक न होने के कारण ही हम अपने को पूर्ण से अलग कर एक छोटे से व्यक्तित्व का निर्माण कर के उसके चारो तरफ स्वार्थ की चहारदीवारी खींच देते है यथा शक्ति निस्वार्थ कर्म के सम्पादन से शांति की अवस्था प्राप्त की जा सकती है । शांत एवं स्वथ्य मन ही चैतन्य की समस्त अवस्थाओं का अनुभव करता हुआ अन्ततः मोक्ष प्राप्त कर सकता है ।

संस्कार हमारे अज्ञानमय पुण्य एवं पाप के वे समुदाय है जो जीवन धारा को उसके मूल त्रोत से विछिन्न कर देते है नदी अपने मूल त्रोत से विछिन्न हो जाने पर सूख जाती है उसी प्रकार मनुष्य अपने मूल (आत्मतत्व) से पृथक हो जाने पर दुर्बल होकर दुख एवं मोह के अन्धकूप मे गिर जाता है ।

एक अध्यात्मिक शोधकर्ता के रूप मे, आन्तरिक अनुशासन तथा सामाजिक नियामों का अनुसरण करते हुये, साधक अपनी अन्तश्चेतना के विकास मे सफल हो जाता है । पूर्ण अनुशासन साधक को स्थूल तथा सूक्ष्म कर्मो एवं उसके संस्कारों से मुक्त करने में सहायक होता है । जब व्यक्ति निष्काम कर्म करना प्रारम्भ करता है तो उसके साथ ही उसका मन स्वस्थ होकर विश्व चेतना के साथ तादाम्य स्थापित करने लगता है । यह तादाम्य स्थापन उसे विश्व सत्ता के साथ परिणामतः मोक्ष लाभ करा देता है । इस प्रकार निष्काम कर्म करना जीवन मे बहुत बड़ी आध्यात्मिक साधना है ।

जब समता और विषमता दोनो ही मानव मन मे शांत हो जाते है, तब उसी समय मोक्ष सम्भव हो पाता है । सत्कर्म के विषय मे वैमत्य केवल एक बहुत ऊपरी अर्थो में होता है । ज्ञान ही गहराई मे अखण्ड एकता ही विद्यमान है । प्रत्येक कर्मो एवं स्थितियो के बीच मनुष्य की आत्मा से प्रवाहित होने वाली आत्मिक पूर्णता बनी ही रहती है । जब व्यक्ति अपने समस्त मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक कर्मो को आध्यात्म के सांचे में ढाल देता है तो वे कर्म फिर बंधन स्वरूप नही रह जाते । तब सूक्ष्म संस्कारों मे अंकुरित होने की क्षमता नही रह जाती ।

संस्कारो से उभरते हुये क्लेशों से मुक्त होने के लिये कर्तव्यों की बिना उपेक्षा किये हमे अपने इन्द्रिय एवं मन को अनुशासित करना होगा ।

कर्मो के ऋण को निष्काम कर्म की साधना से ही चुकाया जा सकता है । परिवार मित्र या समाज आदि के प्रति बिना अपने कर्मो के ऋणों को चुकायें, बंधन मुक्त होना सम्भव नहीं । अतः अपने कर्तव्यों को पूर्ण करके उनसे मुक्ति पाना मनुष्य का आवश्यक कर्तव्य है ।

जन्म के पूर्व ही हम अपने माता पिता तथा माता पिता हमें चुनते है । अतः हम पारिवारिक कर्मो एवं कर्तव्यों का सम्पादन करते हुये की कर्म बंधन से मुक्त होकर मोक्ष पथ पर सफलता अर्जित कर सकते है । ज्ञान की अग्नि निष्काम कर्म ईधन पर ही प्रज्जवलित होती है और तभी कार्मिक ऋण से व्यक्ति उऋण हो पाता है । कर्म बंधन से मुक्ति पाने के लिये व्यक्ति अपने कर्मो को इस ढंग से करे कि वे मुक्ति के मार्ग मे विद्यमान विघ्न बाधाओं को दूर करने मे सहायक हो सकें ।

ज्ञाता ज्ञेय एवं ज्ञान ये कर्म सम्पादन की त्रिपुटी है । साधन, क्रिया तथा परिणाम ये तीन सिद्ध कर्म की त्रिपुटी है । तथा इस त्रिपुटी को सात्विक, राजयिक, एवं तामसिक गुणों के आधार पर पुनः बांटा जा सकता है । प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व अपने आप मे निराला है । अनेकता संसार का स्वभाव है। किन्तु इस अनेकता के मध्य एकता नित्य अक्षुण है । सतोगुण के प्रकर्ष से विविधता के बीच भी व्यक्ति अखण्ड एकता को देखता है । उदाहरणार्थ समुद्र की विविध तरंगों के मूल मे एक ही जल विद्यमान है । लहरों के वैचित्रय के बीच जल की एकता को देखना सत्वगुण का परिणाम है । विविध नाम रूपधारी स्वर्णिम अलंकारों के मूल मे स्वर्णमयता की एकता को देखना सतोगुण बहुल ज्ञान है । इसी प्रकार संसार मे हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध, ईसाई, यहूदी आदि विविध धर्म विद्यमान है । उनमें ऊपरी सतह पर विविधता एवं वैचिय भी है, किन्तु उनके मूल मे एक ही सतोगुंण के दर्शन करना सतोगुण से अनुशासित ज्ञान का कार्य है । मनुष्य, पशु, पक्षी वनस्पति आदि एक दूसरे से भिन्न है किन्तु सात्विक ज्ञान के प्रभाव से उनमे एकता का दर्शन ही सच्चा ज्ञान है ।

रजोगुण से आवृत ज्ञान के कारण व्यक्ति अनेकता एवं बहुत्व का दर्शन करता है । अनेकता में एकता को देखने की बाधा रजोगुण के कारण ही पड़ती है ।

तमोगुण से आवृत्त होने पर व्यक्ति, सत्य का यत् किंचित भी उद्घाटन नही कर पाता । एक अंश विशेष मे आसक्त होने के कारण वह उसी एकांश को पूर्ण समझ लेता है । यही अज्ञान का कारण है तथा यही कार्य कारण की परम्परा जीवन को अस्त व्यस्त कर देती है यह असद्नुभूति अज्ञान अथवा अशुद्ध विचार है जो आत्म ज्ञान का विरोधी है । तमसावृत

व्यक्ति की एकांश पर आग्रह करके पूर्ण को छिन्न करने तक का प्रयास करता है । इसी प्रकार का ज्ञान व्यक्ति को वास्तविक विनाश की तरफ प्रवृत्त करता है ।

सत्व अभिप्रेरित ज्ञान के कारण व्यक्ति अनेकता मे एकता जबकि तमस अभिप्रेरित ज्ञान के कारण व्यक्ति एकता मे अनेकता का आभास करता है । सत्व अनुप्रेणित ज्ञान आत्मानुभूति मे उपयोगी कर्म को करने की प्रेरणा देता है । जबकि तमोगुण, आत्म विस्मरण की तरफ प्रवृत करता है । राग–द्वेष आदि से रहित होकर निःस्वार्थ भाव से सर्वजन सुखाय किया गया कर्म सात्विक कर्म कहलाता है । राग – द्वेष की भावना मन को विषयोपयोग की लालसा से अनुरंजित करके, उसे पूर्ण रूप से व्यग्र बना देती है । मानसिक शांति के हेतु राग द्वेष आदि मलों की परिशुद्धि होना अति आवश्यक है ।

शांत मन से किया गया कर्म सात्विक है तथा विषयभोग की कामना से अपने कर्तव्य अभिमान के साथ किया गया कर्म राजसिक कहलाता है । सात्विक कर्म, अहंकार रहित होकर बिना फल इच्छा या आसक्ति से किया जाता है । जबकि राजसिक कर्म निषेधात्मक गुणों से ओत प्रोत होते है । सात्विक कर्म सुख जनक है तो राजसिक कर्म दुख के जनक है । अतः कर्मो के सम्पादन मे व्यक्ति को राजसिक एवं तामसिक कर्मो के प्रति बहुत सचेष्ट रहना चाहिये ।

अन्तः प्रवृत्तियों के आधार पर ही व्यक्ति सद् अथवा असद् कर्म को करता है । शांत एवं स्थिर चित से बिना उद्विग्न हुये कर्मो को करने वाला व्यक्ति सन्तुलित अथवा स्थिरप्रज्ञ कहा जाता है । सुखों मे स्पृहा रहित तथा दुखों मे अनुद्विग्न व्यक्ति सात्विक प्रकृति वाला कहा जाता है । वही धैर्यशाली है । सफलता एवं असफलता उसे अद्विग्न नही कर पाती ।

भोगो में आसक्त रहने वाला व्यक्ति राजसिक स्वभाव का होता है । उसके सभी कर्मो के मूल मे भोग की भावना छिपी रहती है । सुखो मे आसक्त व्यक्ति को लोभ घेर लेता है । थोड़ा सुख प्राप्त हो जाने पर तो उसके दुखों का ठिकाना नही रहता । सुख और दुख ही उसके मन का नित्य दोलायमान करते रहते है । ऐसा अशांत व्यक्ति कभी भी सुख आनन्द की वास्तविक अनुभूति नही कर सकता । सुख उपभोग के मार्ग में किसी विघ्न के उपस्थित होने पर उसमें ईर्ष्या, हिंसा एवं विध्वंस की भी प्रवृति जागते देर नही लगती । ये सब प्रवृत्तियां नित्य ही शरीर एवं मन के मलो से संवृत रहती है । राग – द्वेष, लोभ–क्रोध के रहते मन, वाणी एवं शरीर की स्वच्छता एवं पवित्रता को स्थिर रखना असम्भव है ।

अज्ञान एवं मोह तामसिक व्यक्ति के धर्म है । क्योंकि उसमें किसी भी कार्य को बुद्धिमत्ता से करने की सामर्थ्य नही होती है । अज्ञानवश वह सद्व्यवहार से भी रहित होती है । तमसावृत व्यक्ति सद्ज्ञान से विरहित होने के कारण न तो शास्त्र चिन्तन ही कर पाता है और न ही अपने कर्तव्यों का निर्वाह भली भांति कर पाता है । वह हमेशा आलसी बना रहता है अन्तः प्रेरणा के अभाव मे व्यक्ति मे किसी प्रकार से आत्मविकास की सम्भावना नही रह जाती । अपने कर्मो एवं प्रयत्नों के बाबजूद भी जब वह आत्म विकास मे सफल नही हो पाता तो उसका मन उस अन्धकारमयी परिस्थिति मे फंस कर दुख एवं शोक से अभिभूत हो जाता है ऐसी स्थिति में पड़ा हुआ मानव दूसरों के प्रति घृणा करने लगता है । तथा वह दूसरों की सफलता पर कभी भी प्रसन्नता का अनुभव नही कर पाता । वह हमेशा दुखी, मलीन तथा घृणा के भाव से भरा रहता है ।

मन के विविध भागो मे से बुद्धि का कार्य सर्वश्रेठ है। निश्चात्मक निर्णय लेने का कार्य बुद्धि का है । बुद्धि को तीन भागों में बांटा जा सकता है – सात्विक, राजसिक एवं तामसिक। सात्विक बुद्धि व्यक्ति को यह साफ साफ बता देती है कि उसे क्या करना चाहिये तथा क्या नही करना चाहिये? क्या बंधन कारक है तथा क्या मोक्ष दायक है । राजसिक बुद्धि हमेशा स्वार्थ युक्त होकर सुखों के पीछे दौड़ा करती है । तामसिक बुद्धि कभी भी कर्तव्य, अकर्तव्य, बंधन–मोक्ष, स्वतंत्रता–परतंत्रता का विवेचन नही कर पाती तथा हमेशा असत्य का ही चित्र प्रस्तुत करती है । तामसिक बुद्धि व्यक्ति को विमूढ़ किये रहती है तथा वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान प्रकट नही होने देती । एक तामसिक व्यक्ति कभी भी कर्तव्य अकर्तव्य का विवेचन नही कर पाता है ।

सुख का भी त्रिधा वर्गीकरण किया जा सकता है– सात्विक, राजसिक एवं तामसिक। सात्विक सुख प्रारम्भ मे भले ही कष्टदायी प्रतीत हो किन्तु उसका दूरगामी परिणाम सुखमय तथा मंगलमय होता है । वे मन की पवित्रता ज्ञान, तप, इन्द्रिय संयम तथा आत्मशुद्धि करते हुये आत्मविकास का मार्ग प्रशस्त कर देते है । सात्विक सुख का तात्पर्य सर्वत्र आनन्दानुभव करना है । जिसकी अभिव्यक्ति जीवन के प्रत्येक परिस्थिति मे मनोनुशासन, आत्मनुभूति, निष्काम–कर्म मानव मात्र की सेवा तथा ईश्वर का भजन आदि के रूप में होती है । राजसिक सुख, इन्द्रिय एवं उसके विषयों के संयोग से उद्भूत होते हैं तथा विषय के नष्ट होते ही नष्ट हो जाते हैं । राजसिक व्यक्ति केवल उन्हीं प्रयत्नों में सुख का अनुभव करता है जो उसे ही सुख दे सकें । राजसिक सुख का पर्यावसान दुःख में ही होता

है । तामसिक सुख वस्तुतः दु:ख ही है जो निंद्रा, आलस्य तथा आकर्मण्यता के रूप में अभिव्यक्त होता है । तामसिक व्यक्ति आलस्य में ही सुख का अनुभव करता है ।

संसार की प्रत्येक वस्तुओं में ये तीनों गुण थोड़ा कम या अधिक मात्रा में पाये जाते हैं । पूरा विश्व इन्हीं तीनों गुणों का कीड़ा मात्र है । हमारे सूक्ष्म संस्कारों तक में ये तीनों गुण पाये जाते हैं । मन में विद्यमान इन तीनों गुणों के अध्ययन से व्यक्ति अपने अर्न्तनिहित संस्कारों का समुचित विश्लेषण कर सकता है । निष्पक्षतापूर्ण अर्न्तनिरीक्षण के द्वारा व्यक्ति अपने सात्विक, राजसिक एवं तामसिक गुणों का निर्धारण करके यह पता कर सकता है कि वह आध्यात्मिक विकास के किस सोपान पर खड़ा है ।

कर्मबन्धन तथा जन्म मरण के चक्र से मुक्त होने के लिए, साधक को चाहिए कि वह अपने कर्तव्यों का सम्पादन पूरा मन लगाकर कर करे । अपने कर्तव्य कर्मों में भार भीनी श्रद्धा एवं विश्वास रखकर उसका सम्पादन करने से व्यक्ति पूर्णत्व को प्राप्त होता है । अपने कर्तव्यों को त्याग कर दूसरों के कर्तव्यों के पीछे दौड़ने से कोई उपलब्धि सम्भव नहीं होती । किन्तु प्रश्न यह है कि अपना कर्तव्य क्या है, उसको कैसे जाना जाए ?

कर्तव्यों का निर्धारण व्यक्ति के जन्मजात संस्कारों से होता है । उदाहरणार्थ – यदि व्यक्ति सात्विक संस्कारों से युक्त है तो उसे शान्ति, इन्द्रिय – निग्रह आदि कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए । यदि उसमें सत्व से अनुप्राणित 2 जोगिणी संस्कार विद्यमान हैं तो वह कर्मयोग का अनुसरण करते हुए अपने कर्तव्यों का पालन करे । इस प्रकार अपने जन्मजात संस्कारों में अर्न्तनिहित गुणों के आधार पर व्यक्ति अपने उपादेय कर्मों एवं कर्तव्यों का निर्धारण करके शीघ्र ही सफलता प्राप्त कर सकता है ।

कर्म का सिद्धान्त अपरिहार्य है । कर्म ही उपासना एवं पूजा है । सर्वनियन्ता तथा सर्वव्यापक ईश्वर की कर्मों के द्वारा उपासना करते हुए साधक शीघ्र ही पूर्णता प्राप्त कर लेता है । आत्मा ही शरीर का अर्न्तनिवासी है । वह परम तत्व जो पूरे शरीर को व्याप्त कर मन, आंख एवं कान आदि को तत्तद् व्यापारों के प्रति शक्ति प्रदान करता है – वही अराध्य है । पैर जिसके लिए चलता है, हाथ जिसके लिए काम करता है, पेट जिसके लिए भोजन पचाता है, हृदय जिसके लिए रक्त संचारित करता है, मन जिसके लिए मनन करता है तथा बुद्धि जिसके लिए निश्चयात्मक निर्णय लेती है – वही आत्मा है वही आराधना का विषय है । विविध रूपों में मन, इन्द्रियत्रादि उसी आत्मतत्व की उपासना में अनुरत हैं । भीतर ही भीतर आत्मा की उपासना प्रत्येक कर्मों के द्वारा स्वतः ही हो रही है । हृदय, उदरादि अंग तथा

आंख, कान आदि इन्द्रियां कभी भी अपने कर्मों का त्याग कर दूसरे के कर्मों में हस्तक्षेप नहीं करते । अपने ही कर्तव्य कर्मों के सम्पादन से वे सबके सब सफलता प्राप्त करते हैं । विश्व को व्याप्त करने वाली शक्ति मनुष्य को भी व्याप्त करती है । सर्वव्यापी ईश्वर के हम सभी अंश हैं । अतः अपने समस्त कर्मों के द्वारा हम उसी सर्वव्यापी ईश्वर की ही सेवा कर रहे हैं।

कर्तव्य कर्मों का पालन किये बिना जीना सम्भव नहीं है । कर्म ही जीवन धारा के शुद्धीकरण का एक मात्र साधन है तथा बिना शुद्धीकरण के पूर्णत्व प्राप्त करना असम्भव है । यह विश्व अनभिव्यक्त सत्य की अभिव्यक्ति है । हम देखते हैं कि झील के ऊपरी सतह पर एक लहर उठती है क्षण भर के लिए स्थिर रहकर पुनः विलीन हो जाती है । यह कहां से आयी, कहां स्थिर रही तथा पुनः कहां चली गई ? यह लहर, जल से ही उद्‌भूत हुई, जल में ही स्थिर रही तथा अन्ततः जल में ही विलीन हो गयी । उस क्षणिक लहर का वास्तविक स्वभाव जल ही है । उसी प्रकार सत्य ही संसार का वास्तविक स्वरूप है जब व्यक्ति परिवर्तनीय, तुच्छ – विषयानुभवों के लहरों में अपने को फंसा हुआ पाता है तो वह अपने को परिवर्तन, विनाश एवं मृत्यु का विषय समझ लेता है तथा पुनः जीवन की स्थिर एवं सुरक्षित रूप रेखा नहीं बना पाता । जब निरन्तर अभ्यास एवं जागरूकता के द्वारा व्यक्ति अनित्य के मध्य में नित्य का दर्शन करता है तब आत्मिक शान्ति का उदय होता है ।

अनित्य के बीच नित्य को देखना ही कर्मयोग का लक्ष्य है । अनित्य के व्यावर्तन तथा नित्य के सीपिन से साधक, जीवन के दूसरे तट (मोक्ष) पर पहुंचता है । इस साधना में, हम क्या त्यागते हैं वह नहीं अपितु हम क्या हस्तगत करते हैं ? – वह सहायक होता है । यह संसार आनन्द लेने के योग्य है, हमें आनन्दानुभव कने की कला को सीखना चाहिए । इसके पहले कि हम संसार से आनन्दानुभव करना चाहें, हमें उसके प्रति सच्चे एवं उचित साधनों को अपनाना होगा । निष्काम कर्म की अपेक्षा सकाम भावना से किया कर्म बहुत तुच्छ कोटि का होता है । स्वार्थ प्रेरित कर्म निश्चिय ही दुख एवं क्लेशों का आवाहन करते हैं । बिना त्यागवृत्ति से किसी भी प्रकार की आनन्दानुभूति नहीं की जा सकती । प्रायः हम अपने पारस्परिक सम्बन्धों में तुच्छ अहंकार को बिना अनावृत किये ही सुख भोगने की कामना करते हैं, तुच्छ अहंकार को त्याग वृत्ति से व्यावृत करके जब हम अपने को सच्चे अहं (आत्मा) से सम्बद्ध करते हैं तब वस्तुतः सच्चे जीवन से सम्पर्क होता है । इस प्रकार तुच्छ अहं का निषेध पराहन्ता (विशुद्ध अहं – आत्मा) की स्वीकृति का की एक रूप है ।

कर्म का सिद्धान्त हमें नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों से परिचित कराते हुए जीवन में आनन्दानुभव करने की कला का पाठ पढ़ाता है । जब अनासक्ति एवं निष्काम कर्म की साधना के द्वारा साधक का मन 'सत्यंशिवंसुन्दरं, रूपी परम लक्ष्य की तरफ उन्मुख हो जाता है, तो उसका हृदय–कमल, प्राणिमात्र के प्रति प्रेम के लिये खिल उठता है । मन का आत्मा से सम्बन्ध स्थापित हुए बिना करूणा का प्रवाह सम्भव नहीं । ऐसी स्थिति में जब व्यक्ति निष्काम कर्म में ही सुखानुभूति करने लगता है तो सच्चे नैतिक भाव स्वतः ही प्रबुद्ध हो जाते हैं और जब वे व्यक्ति के स्वभाव में प्रविष्ट कर जाते हैं तो सत्कर्मों के किये बिना रहा भी नही जाता । कर्मफलों को दूसरों को समर्पित कर तुच्छ अहं का व्यावर्तन करते हुए व्यक्ति शीघ्र ही उद्देश्य को पूरा कर लेता है । बिना आत्म तत्व को अनावृत किए सच्ची आनन्दानुभूति एक सपना मात्र है । हमारा पार्श्ववर्ती संसार आत्मा के आनन्दस्वरूपता का ही अभिव्यक्त रूप है तथा हम यहां उस आनन्दमयता का अनुभव करने के लिये ही अवतरित हुए हैं । स्वार्थमय इन्द्रियनुभूति में आसक्त हो जाने के कारण ही संसार की आनन्द रूपता हमारे सामने प्रकट नहीं हो पाती । हमें अपना जीवन बदलने की नहीं अपितु केवल वृत्तियों को ही बदलने की नितान्त आवश्यकता है ।

ज्ञानमार्ग :—

मोक्ष को प्राप्त करने का ज्ञान मार्ग भी एक साधना के रूप में लिया जाता है । हमारे धर्मशास्त्रों में कहा गया है कि संसार में यदि कुछ भी श्रेष्ठ है तो वह ज्ञान है । इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिये मानव जीवन भर प्रयास करता रहता है । इस संसार में ज्ञान भी दो प्रकार का है । एक सांसारिक ज्ञान है और दूसरा आध्यात्मिक अर्थात् ईश्वरीय ज्ञान है । मानव इन दोनों प्रकार के ज्ञानों को प्राप्त करने का सदैव अभिलाषी रहता है । व्यक्ति अपनी इन्द्रिययों से सृष्टि का ज्ञान तो प्राप्त कर लेता है लेकिन इन इन्द्रियों से ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त करना उसके लिये असम्भव रहता है । अर्थात् कहा जा सकता है कि मानव ने सृष्टि का ज्ञान तो विज्ञान द्वारा सम्भव कर दिखाया है लेकिन सृष्टा का ज्ञान जो धर्म द्वारा ही सम्भव है उसको प्राप्त करना मानव के लिये असम्भव तो नहीं लेकिन कठिन अवश्य है । इस संसार में कई शताब्दियों में कोई महापुरूष जन्म लेता है जो अपनी साधना, तपस्या एवं योग द्वारा इस संसार की माया मोह रूपी वैतरिणी को पार कर पाता है । सर्वप्रथम यहां पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ज्ञान का अर्थ क्या है ? हमारे धर्मग्रन्थों में कहा गया है कि मानव

चौरासी लाख योनि मानी गई है । इसलिये व्यक्ति को यह चिन्तन करना चाहिये कि मेरा जन्म योनि में क्यों हुआ है ? मेरी यहां आने का क्या प्रयोजन है और मेरा यहां अन्तिम साध्य क्या है ? इन प्रश्नों का उत्तर हमारे धर्मशास्त्रों में दिया गया है । कि मनुष्य को अपने जीवन में सभी धर्म और कर्तव्यों का पालन करते हुए मोक्ष को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए । हिन्दु धर्मशास्त्रों में कहा गया है कि परमात्मा इस संसार को बनाते समय सभी प्राणियों में अपना अंश आत्मा के रूप में स्थापित कर देता है । जिस प्रकार से एक मानव एक मकान में किरायेदार के रूप में रहता है उसी प्रकार यह पुरूष रूपी आत्मा भी कभी इस मकान में तो कभी उस मकान में रहते हुए शरीर बदला करती है । यहां पर यह कहना समीचीन होगा कि आत्मा ही स्थायी तत्व है जो ईश्वर का अंश है तथा कभी भी समाप्त नहीं होती है । इसलिये ज्ञान मार्ग के व्यक्ति को इस अजर –अमर और शाश्वत आत्मा को ही जानने का प्रयास करना चाहिए और जब मानव अपने तप और योग द्वारा आत्माक्षात्कार या आत्मदर्शन कर लेता है और आत्मनिष्ठ हो जाता है तो इसे ही ज्ञान कहते हैं । यह संसार अनित्य है । यहां प्रतिदिन जन्म और मृत्यु है । दुख और सुख है । इसलिये व्यक्ति को अन्तर्मुखी होकर अपने अन्दर बैठे हुये परमात्मा को जानने का प्रयत्न करना चाहिये । यह ब्रम्हज्ञान ही ज्ञान मार्ग का अभीष्ट है ।

अनादिकाल से मानव पूर्णता के अभाव में जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अन्वेषण करता आया है । जगत् में होने वाले अन्वेषणों से प्राप्त सुविधायें अभी तक उसे पूर्णत्व प्राप्त कराने में असमर्थ रहे । पूर्णता की जिज्ञासा से ही प्रेरित होकर शान्त और आनन्द को प्राप्त करने के लिए ही प्रत्येक व्यक्ति प्रातः से सन्ध्या तक परिश्रम करता है । उपनिषद् के तीन वाक्य हमें स्मरण दिलाते हैं कि मानव पूर्णता की प्राप्ति के लिए अनादि काल से प्रयत्नशील है । उपनिषदों के ऋषि प्रार्थना किया करते थे कि हे प्रभु मुझे असत्य से सत्य की ओर अग्रसर करों, अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलो प्रभु ! मृत्यु से अमरता की ओर ले चलो प्रभु ! उपनिषदों की ये तीन जिज्ञासायें प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर विद्यमान हैं, और इन्हीं जिज्ञासाओं की तृप्ति के हेतु वह मन, बुद्धि और कर्म का प्रयोग करता रहा है । इन प्रयोगों में उसे बाह्य जीवन की सुविधायें उपलब्ध हुई, किन्तु वह अपने अन्दर निहित भय से मुक्त नहीं हो पाया है । उसका कारण है, मनुष्य साधना के विशिष्ट स्वरूप से अनभिज्ञ रहा । आध्यात्मिक और भौतिक – जीवन में सामंजस्य स्थापित करना साधना की पराकाष्ठा है । इस पराकाष्ठा को प्राप्त करने के लिए हमें अपने स्वजन, सम्बन्धियों से विलग होकर कहीं एकान्त में बैठने

क आवश्यकता नहीं । वास्तव में मनुष्य किसी वस्तु को त्याग भी तो नहीं कर सकता । किसी वस्तु के त्याग करने की भावना, उसके अहंकार और अज्ञान का सूचक है । संसार की कोई भी वस्तु अपनी नहीं, किन्तु अपने लिए है । और जब संसार की प्रत्येक वस्तु को अपनी साधना के हेतु प्रयोग करते हैं तो जीवन में ममत्व और मोह के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता । इस प्रकार का अभ्यास करने वाले साधन इसी संसार में मुक्त होकर निवास करते हैं । वस्तु त्याग तो एक भ्रम मात्र है । वास्तव में मानव को आवश्यकता होती है वैराग्य साधना की । एक विरक्त ही संसार के सुखों का वास्तविक रूप में उपभोग करने में समर्थ है । संसार में रहकर उससे अलिप्त रहना, संसार के उपभोगों के होते हुए भी उनसे उठे रहना ही विरक्ति है । वस्तुओं के प्रयोग और न प्रयोग करने से कोई भी व्यक्ति महान और क्षुद्र नहीं माना जा सकता । मनुष्य क्षुद्र तो विरक्ति के अभाव में ही होता है । साधना और अभ्यास के लिए विरक्ति की भावना को सुदृढ़ करना परमावश्यक होता है ।

पूर्णता की प्राप्ति के लिए अभ्यास और साधना इसलिए अनिवार्य माने जाते हैं कि बिना साधना के कोई भी मन का निग्रह करने में समर्थ नहीं होता । मन के निग्रह और एकाग्रता के द्वारा ही मनुष्य अपने अन्दर निहित शक्तियों को प्राप्त करने में समर्थ होता है । वास्तव में मन ही एक ऐसा विलक्षण यन्त्र है जिसके उचित प्रयोग से शान्ति और आनन्द की प्राप्ति हो सकती है । मन बाह्य विषयों को अपना स्वरूप समझकर मानव को उसके वास्तविक स्वरूप की अनुभूति से अनभिज्ञ बनाये रखता है । मन का स्वभाव इन्द्रियों के उपभोगों की प्राप्ति में ही संलग्न रहता है । ये उपभोग क्षणिक सुख की कामना से मन को प्रेरित कर मन शक्ति का ह्यस कर देते हैं । मनोबल क्षीण होने से मनुष्य और उसके उद्देश्य के बीच में एक महान दीवार खड़ी हो जाती है । ऐसी अवस्था में अशान्त मानव बाह्य जगत की वस्तुओं की प्राप्ति और उसके उपभोगों को ही जीवन का लक्ष्य निर्धारित कर लेता है ।

जीवन के निरीक्षण करने पर यह विदित होता है कि हम अपने जीवन का बहुमूल्य समय व्यर्थ ही गवां देते हैं । समय का साधना से अति निकट का सम्बन्ध होता है । जब साधक चिरकाल तक एक ही आसन पर स्थिर होकर बैठने का अभ्यास करता है तो वह अनुभव करने लगता है कि मैं केवल शरीर ही नहीं यद्यपि शरीर एक महान यन्त्र है और उसको स्वस्थ रखना भी आवश्यक है । शारीरिक स्वास्थ्य के अभाव में मनुष्य की सम्पूर्ण

शक्तियां केवल शरीर की ही और केन्द्रित होती है । ऐसी दशा में मनुष्य साधना के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता ।

साधक के लिए एक स्वस्थ शरीर का होना अनिवार्य है । शरीर की स्थिरता प्राप्त करने के पश्चात् साधक को यह अनुभव होने लगता है कि उसके शरीर के अस्तित्व का आधार प्राणों पर निर्भर करता है । मानव शरीर में होने वाली प्रत्येक प्रक्रिया प्राणों के स्पन्दन से ही संचालित होती है । जब साधक शरीर को एक आसन में बैठकर कुछ काल स्थिरता को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है तो उसकी बुद्धि उसके ध्यान को श्वास–प्रश्वास की प्रक्रिया की ओर आकर्षित करती है ।

यद्यपि सभी प्राणी स्वभावतः श्वांस लिया करते है, किन्तु श्वास–प्रश्वास में संतुलन स्थापित करना, प्राण साधना के बिना संभव नहीं । प्राण और अपान की गतियों को मनोबल के द्वारा निग्रह किया जा सकता है । जिस प्रकार साधक शारीरिक स्वास्थ्य के लिए शुद्ध और पुष्ट भोजन करना अनिवार्य समझता है, ठीक उसी भांति शुद्ध वायु ग्रहण करना भी आवश्यक है । दिन में कम से कम तीन बार स्थिर बैठकर गहरी श्वांस लेना और छोड़ना स्वास्थ्य के लिए अति उपयोगी सिद्ध हुआ है । श्वांस – प्रश्वास की प्रक्रिया ठीक होने पर मन का निग्रह सुगम हो जाता है ।

जब शरीर और श्वांस के स्तरों से विक्षेप होना बन्द हो जाते हैं, तब मन को स्थिर किया जा सकता है । जितना ही मन स्थिर होगा उतना ही आनन्द लाभ होने लगेगा । मन को स्थिर करने के लिए कई प्रक्रियाएं बतलाई जाती हैं, किन्तु मन के निग्रह के लिए सबसे सुगम प्रक्रिया मन को प्राणों पर ध्यान केंन्द्रित करने की है । श्वास – प्रश्वास की गति ठीक चल रही है या नहीं, हमारे श्वास में किसी प्रकार का अवरोध तो नहीं ? क्या हम आसानी से गहरी श्वास ले रहे हैं ? श्वांस के ऊपर ध्यान देने से साधक को यह विदित होने लगता है कि उसका मन शनैः शनैः एकाग्र होता जा रहा है । एकाग्रता मनोबल के लिए अत्यन्त आवश्यक होती है । बिना मनोबल के हमारे अन्दर निहित शक्तियों का प्रादुर्भाव नहीं होता ।

जब मन साधक को विचलित करने में समर्थ नहीं होता तो मन से परे आत्मबोध की झलक मिलने लगती है, किन्तु यह तभी सम्भव होता है, जब मन एकाग्र एवं अन्तर्मुखी हो जाता है । एकान्तिक और अन्तर्मुख मन की शक्तियां अनन्त होती हैं । ऐसे मन से प्राप्त किया हुआ ज्ञान साधक को यह निश्चय दिलाने में समर्थ होता है कि उसके अनुभव बाह्वय जगत में प्राप्त होने वाले अनुभवों से भिन्न और श्रेष्ठ हैं । प्रारम्भिक अवस्था से मन अपने

अचेतन भण्डार से कई द्वन्द्व उसे विक्षिप्त नहीं कर पाते । अन्तर्जगत की अनुभूतियां बाह्रय जगत की होने वाली अनुभूतियों से सर्वथा भिन्न इसलिए होती हैं कि वह किसी पुष्टि की अपेक्षा नहीं करतीं । ये अनुभूतियां स्वतः ही अपने आप में शुद्ध हुआ करतीं हैं । जब साधक चेतन मन को अपना साथी बना लेता है, जो कि सम्पूर्ण मन का एक छोटा सा भाग है तब मन के अचेतन भण्डार से आने वाले विचार भी समझ में आने लगते हैं । यह साधना का क्रम चिरकाल तक बनाये रखने पर साधक को यह विश्वास होने लगता है कि अन्तर्जगत में निवास करने वाली शक्तियां वास्तव में शक्तियां हैं और बाह्रय जगत में प्रतीत होने वाली अनुभूतियां केवल उनके आभास मात्र उनके प्रतिबिम्ब हैं ।

जब साधक अपने अन्तर की अनन्त गहराईयों में प्रवेश करने लगता है, तो उसे सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने की विधियों से सर्वथा भिन्न और श्रेष्ठ हैं । ध्यान द्वारा प्राप्त किया हुआ ज्ञान प्राप्त करने की विधियों से सर्वथा भिन्न और श्रेष्ठ हैं । ध्यान द्वारा प्राप्त किया हुआ ज्ञान इसलिए श्रेष्ठ होता है कि मन इन्द्रियों के आश्रितजन्य ज्ञान पर निर्भर नहीं होता, अवलम्ब नहीं करता ।

मानव के अन्दर अतुलित ज्ञान का भण्डार है, किन्तु इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए पहले उसे अपने मन को एकाग्र और अन्तर्मुख करना होता है । मन से ऊपर एक और शक्ति है जिसे हम बुद्धि कहते हैं । जब मन सबल हो जाता है और बाह्रय जगत की वस्तुएं उसको विचलित नहीं करतीं, तब वह बुद्धि के निर्णयात्मक आदर्शों पर बिना संकल्प–विकल्प के चलने लगता है । ऐसा मन साधक को अद्भुत भेंट प्रस्तुत करता है और साधक अपने आप में निमग्नता और अपार शान्ति का अनुभव करने लगता है । बुद्धि सदा ही एकाग्र मन को सन्मार्ग पर ले जाने के लिए तत्पर रहती है । मन का अचेतन भाग ज्ञान का एक विशद् भण्डार है । साधक स्पष्ट समझने लगता है कि बाह्रय एवं आन्तरिक अनुभूतियों के निरीक्षण में व्यस्त रहती है । किन्तु शरीर, प्राण और मन के सुस्थिर हो जाने पर बुद्धि भी कुशाग्र बन जाती है । यह बुद्धि आत्मा से सीधे ही अपना सम्बन्ध स्थापित करने लगती है । आत्मोन्मुखी बुद्धि अध्यात्म–बल की आधार – शिला है, उसके निर्णय आत्मबोध से ओत प्रोत होते है ।

आत्मा अजय, अद्वय और अमर है । जब शरीर, प्राण, और मन थक कर निष्क्रिय हो जाते हैं तो आत्मा साधक को समाहित करने लगती है ।

ध्यान परिपक्व होने से मन एकाग्र होता है और मन की एकाग्रता निर्मल बुद्धि को सहयोग देने लगती है । बुद्धि के सभी विकार दूर होने पर वह आत्मतत्व के निकट पहुंचकर

परमशान्ति का अनुभव करने लगती है, यह शान्ति सजीव और सुखदायी होती है । तर्क–विर्तकों की सीमा से परे बुद्धि अपने आपको समाहित अवस्था में पाती है । यहां पर बुद्धि के समक्ष तर्क – वितर्क करने के लिए कुछ भी नहीं रह जाता । बुद्धि की यह अलौकिक अवस्था साधक को यह विश्वास दिलाने में समर्थ होती है कि उसके जीवन का लक्ष्य अति निकट है, आत्मा के प्रकाश से आलोड़ित बुद्धि समाधि प्राप्त करने में समर्थ होती है, समाधि प्राप्त होने पर अभय पद प्राप्त हो जाता है । जब तक साधक बाह्रय जगत की वस्तुओं, शरीर, प्राण और मन की निम्न शक्तियों का आश्रय लेता रहता है तो वह जरा, मृम्यु और व्याधि के पाशों में ही आबद्ध रहता है, किन्तु आत्मज्ञान पर सम्पूर्ण निर्धारित होने वाली बुद्धि उसे अभय बना देती है । जब मन और बुद्धि आत्मा के साम्राज्य में निवास करने लगते हैं तो उन्हें सुख और दुखों के द्वन्द्व से मुक्ति मिल जाती है । यह मुक्ति की वास्तविक और श्रेष्ठ अवस्था है । आत्मा के साम्राज्य में निवास करने वाला साधक परिवार, समाज और देश ही नहीं वनन् सम्पूर्ण मानव जाति की सेवा में समर्थ होता है । इसके लिये मानव धर्म उतना ही प्रिय होता है जितनी प्रिय उसकी अपनी आत्मा ।

आत्मा के वृहत स्वरूप का ज्ञान तभी सम्भव है जब वह अपने मन, कर्म, वचन से सेवा के मार्ग पर आरूढ़ हो जाता है । समाधि से प्राप्त आनन्द एक अनूठा आनन्द है किन्तु उस आनन्द की पूर्ति तभी असम्भव है जबकि वह अन्य मानवों के हित के लिए हो । ऐसा साधक किसी कन्दरा में जाकर बैठ जाए यह संभव नहीं हो सकता । सूर्य को किसी अन्धकार में नहीं रखा जा सकता ।

आज हमारे समाज को ऐसे साधकों की आवश्यकता है जो पूर्णतया निःस्वार्थ हों, अभय हों और जनसेवा को ही अपना विशिष्ट धर्म समझते हों । परहित करना जिनका धर्म है वही सच्चे साधक हैं । जीवन की सार्थकता इसी में है कि उसकी सम्पूर्ण शक्तियां दूसरों के हित के लिए सुगमता से उपलब्ध हों ।

जीवन – लक्ष्य को समक्ष रखते हुए जो साधक इस प्रकार की साधना करते हैं वे सदा मुक्त रहते हैं । बाल्यकाल से ही यदि किसी पर दैवी कृपा हो जाय तो वह बालक एक दिन सच्चा साधक बनने में समर्थ हो सकता है । बाल्यकाल की साधना सम्पूर्ण जीवन की आधारशिला है । ऐसी अवस्था में सरलता से मन का निग्रह हो जाता है । साधना बाल्यकाल, युवावस्था में कभी भी प्रारम्भ की जा सकती है । एक बुरे से बुरा व्यक्ति भी

साधना में तत्पर होकर अच्छे से अच्छा बन सकता है । मन से प्रेरित सभी कार्यकलाप सुव्यवस्थित होते हैं ।

साधन का सम्बन्ध विषयों की विरक्ति और आसक्ति से नहीं होता । अभ्यास के द्वारा साधन परिपक्व होता है और फिर प्रत्येक कार्य की विधि सुगमता से सुलभ हो जाती है । ऐसे व्यक्ति को कोई कार्य करना और उसमें सफलता प्राप्त करना सुगम हो जाता है ।

साधना का क्रम कैसे आरम्भ करना चाहिये । साधक को पहले अपने लिए कुछ ऐसे नियमों का निर्धारण कर लेना चाहिये जिनका सुगमता से पालन कर सके । इससे संकल्प शक्ति दृढ़ होती है । संकल्प शक्ति के आधार पर अनेक दुर्लभ कार्य भी सुलभ हो जाते हैं । मैं यह कार्य करूगां, मैं यह कार्य कर सकता हूं, की भावनाएं चितृवृत्तियों को एकाग्र और सबल बनाने में सहायक होतीं हैं । प्रारम्भ में अपने लिए कठोर नियमों को निर्धारित करना और फिर उन पर न चल सकना अथवा उन नियमों को तोड़ देना, संकल्प शक्ति को क्षीण कर देना है । अतएव साधक को इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिये कि उसकी संकल्प शक्ति मन के द्विविधान संस्कारों से मलिन न हो । मन का स्वभाव प्रारम्भिक अवस्था में साधना के नियमों का विरोध करना होता है । कुछ साधक मन के प्रतिवाद से भयभीत होकर आत्मविश्वास खो बैठते हैं । जब साधक को यह प्रतीत होने लगता है कि वह इच्छित अनुभवों को प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो पायेगा तो उसकी निराशा का भाव उसकी संकल्प शक्ति को कुंठित कर उसे साधन पथ से विमुख कर देता है । मन का चंचल स्वभाव किसी एक कार्य को एकाग्र होकर करना नहीं वह तो चंचल स्वभाव से ग्रसित रहता है ।

प्रातः काल सूर्योदय से पूर्व साधना का समय निर्धारित करना चाहिये । शौचादिक क्रिया से निवृत्त होकर व्यायाम करना आवश्यक है, किन्तु यह व्यायाम अपनी शक्ति के अनुरूप होना चाहिये । यौगिक व्यायाम की अन्य प्रणालियों से अधिक उपयोगी होता है । इससे शरीर स्वास्थ्य ही नहीं वरन् मानसिक लाभ भी प्राप्त होते हैं । आसनों के अभ्यास से शरीर का आलस्य दूर हो जाता है और शरीर में एक स्फूर्ति उत्पन्न हो जाती है । व्यायाम न अधिक होना चाहिये और न कम ही । इसका मापदण्ड शारीरिक शक्ति और आयु के ऊपर निर्भर करता है ।

व्यायाम के पश्चात् कुछ काल तक एक ही आसन में बैठने का अभ्यास होना चाहिये । यदि कुछ काल तक नित्य एक ही समय साधक एक ही आसन पर बैठने को अभ्यास करे तो

उसकी मांसपेशियों में तनाव नहीं होता । मांसपेशियों के तनाव के कारण भी कई भयंकर उत्पात उत्पन्न हो सकते हैं । हृदय के कई रोग इनमें सम्मिलित हैं ।

जिस भूमि पर साधक बैठे वह कठोर न होनी चाहिए । एक कम्बल को चार परतों में तहकर आसन बनाया जा सकता है । व्यायाम के आसन भिन्न होते हैं और ध्यान के आसन भिन्न । साधक को अपने लिए किसी सुगम और दृढ़ आसन को चुन लेना चाहिये । नित्य एक की आसन में बैठकर शिर, ग्रीवा और मेरूदण्ड को एक सीध में रखते हुए आसन की स्थिरता पर ही ध्यान देना चाहिये । जब आसन स्थिर हो जाय, तब साधन के अगले सोपान की ओर ध्यान दे ।

प्रारम्भिक अवस्था से ही बिना मन एकाग्रता के मन्त्र, जप आदि अधिक लाभदायक नहीं होते । जब शरीर में कोई कम्पन्न और अन्य सुविधाएं न हों तभी उसको प्राणायाम की सरल विधियों का अभ्यास करना चाहिए । दस मिनट तक एक ही आसन में बैठने पर शरीर की स्थिरता से उत्पन्न लाभों का अनुभव होने लगता है । यह अनुभव बाह्रय जगत के अनुभवों से भिन्न हैं । जब श्वास – प्रश्वास सुगमता एवं सरलता से चलने लगते हैं । तो आनन्द की अनुभूति भी बढ़ने लगती है । साधक के लिए इससे अगला सोपान सुषुम्ना का उदय होने में है ।

'सुखमना' और 'सुषुम्ना' का उदय मन को एक उल्लास और आनन्द देता है जिसके कारण मन, बाह्रय जगत के विक्षेपों से विचलित नहीं होता । मन की अन्तर्जगत में प्रवेश करने की जिज्ञासा उभर उठती है, सुषुम्ना का उदय होना साधक के जीवन में भाग्योदय होना होता है । इसके उदय होने से अनिर्वचनीय आनन्द उत्पन्न होने लगता है । इस उदय होने से ध्यान दृढ़ होने लगता है और मन अपनी बहुमुखी वासनाओं से विलग होकर अन्तर की गहराईयों में प्रवेश करने के लिए उत्सुक होता है । सुषुम्ना का उदय होना एक महान बात है और यह अभ्यास द्वारा सुगम और सुलभ है ।

साधक को एक और सोपान भी प्राप्त करना होता है । हमारे जीवन के अन्तराल में एक ऐसी शक्ति सुषुप्तावस्था में रहती है जिसके जागृत होने से साधक देवत्व के आनन्द का उपभोग करने लगता है । इस शक्ति को देवात्म शक्ति कहते हैं । प्रायः यह शक्ति अपने सुषुप्त भाव में रह कर प्रगाढ़ निंद्रा में अपने अव्यक्त भाव में शयन करती रहती है ।

महापुरूष, महान कलाकार, कवि, लेखक और वैज्ञानिक इसी शक्ति को जागृत कर असाधारण स्थिति को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं । इस शक्ति के जागृत होने पर साधक

का सम्पूर्ण स्वभाव परिवर्तित हो जाता है । यह शक्ति साधक को आत्मप्रदेश में प्रवेश कराने में उपयोगी सिद्ध होती है । हमारे ऋषियों ने ध्यान के द्वारा इसी शक्ति को जागृत कर आत्मानुभूति की । कई साधक वर्षों तपस्या करने पर भी इस शक्ति को जागृत नहीं कर पाते । इसके तीन मुख्य कारण हैं – पहला कारण है ध्यान की विधि में अपूर्णता और दोष, दूसरा कारण है भोजन और व्यायाम में अनियमितता, तीसरा कारण है सतत् अभ्यास न करना, जिससे संकल्प शक्ति क्षीण हो जाती है ।

यदि साधना विधिवत् की जाय तो 'देवात्म शक्ति' का जागृत होना कठिन नहीं । अनन्त शक्तियों से आभूषित यह शक्ति साधक के जीवन को उस विशिष्ट ज्ञान को प्रदान करने में समर्थ होती है जो इन्द्रिय, मन और बुद्धि के परे हो ।

देवात्म शक्ति ऊर्ध्वगामिनी होती है और सदैव ही अपने परम – प्रिय आत्म – बिन्दु के सम्मेलन के लिए आतुर रहती है । जब यह शक्ति चेतना के केन्द्र जो कि सभी शक्तियों का मूल श्रोत है, में पहुंच जाती है तब साधक अनुपम सिद्धियों को प्राप्त कर लेता है । ऐसे साधक प्रेम के अपार पारावार परमात्मा से अभिन्न रहकर नित्य समाधि में रमण करते हैं । इस समाधि को प्राप्त करना ही ज्ञान मार्ग का अभीष्ट है ।

भक्ति मार्ग :– मोक्ष को प्राप्त करने का तीसरा मार्ग भक्ति मार्ग है । भक्ति रूपी जीवन यात्रा का प्रथम सोपान प्रेम है और अन्तिम सोपान भक्ति है । सर्वप्रथम यह बताना यहां आवश्यक होगा कि किस साधक को भक्ति मार्ग पर जाना चाहिये । इस संसार में बहुत से मानवों में प्रेम की प्रधानता रहती है । वह बुद्धि का प्रयोग कम हृदय का प्रयोग अधिक करते हैं । ऐसे लोगों की विशेषता है कि यह लोग जीवन में संकल्पवान न होकर संकल्पहीन होते हैं । यह नियत समय पर अपना करना कार्य नहीं निपटा पाते हैं । ऐसे व्यक्तियों में दया, करूणा, श्रद्धा, विश्वास, प्रेम और क्षमा की प्रधानता रहती है । ऐसे लोग जीवन में प्रेम प्रधान होने के कारण दूसरों की सहायता करने में तुरन्त तत्पर हो जाते हैं । क्योंकि प्रेम देता है । इस प्रकार कहा जा सकता है कि जो लोग प्रेम प्रधान होते हैं उनको ही भक्ति मार्ग पर जाना चाहिए । जो इन्सान से प्रेम नहीं करते वह भगवान से प्रेम क्यों करेंगें ? भारतीय अध्यात्म में मैं और तू पर जोर दिया गया है । मैं का अर्थ यहां मानव को अपने शरीर और मन से नहीं लगाना चाहिये । मैं का अर्थ इस शरीर में स्थित आत्मा से है । इसलिये ज्ञान मार्ग में साधक को साक्षी भाव लाकर अपने द्वारा करते हुए सभी कार्यों को देखना चाहिये ।

परन्तु भक्ति मार्ग के साधक या भक्त को मैं को समाप्त करते हुये जीवन में तू पर जोर देना चाहिये । यहां पर मैं का अर्थ व्यक्ति के अहंकार से है । प्रत्येक व्यक्ति इस जीवन में जो भी कार्य करता है और उससे जो सफलता प्राप्त करता है इससे उसमें कर्ताभाव आ जाता है और इस सफलता में अपना श्रेय समझने लगता है । यहीं पर व्यक्ति भटक जाता है और नाना प्रकार के दुख सुख और मायामोह में फंसकर अपने अभीष्ट से विमुख से जाता है । भक्ति मार्गी व्यक्ति को भी इस मार्ग पर चलने के पूर्व एक गुरू की आवश्यकता होती है । ऐसा कोई सिद्ध पुरूष ही हो सकता है जिसने अपनी भक्ति साधना द्वारा अपने आराध्य भगवान के समीप्य को प्राप्त कर लिया हो । इस साधक को भी अपने गुरू को साक्षात् परमात्मा मानकर उसकी आज्ञानुसार अपनी यात्रा प्रारम्भ करनी चाहिये ।

मैंने पूर्व में कहा है कि प्रेम का अन्तिम सोपान भक्ति है । आज संसार में प्रेम शब्द का सर्वाधिक गलत अर्थ लगाया जाता है । इसलिये सबसे पहले प्रेम की व्याख्या करना समीचीन होगा । प्रेम का अर्थ प्यार । प्रेम हृदय की उत्पत्ति है । प्रेम में व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का आलिंगन करता है उसको प्यार करता है और अक्सर वह उस व्यक्ति को हृदय से लगा लेता है जिसको वह प्रेम करता है। प्रेम व्यक्ति दूसरे को स्वामी न मानकर अपने को दास समझता है । लेकिन विडम्बना यह है कि आज व्यक्ति जिससे भी प्रेम करता है उससे अपेक्षा करता है कि वह जितना प्रेम उससे करता है वह भी उतना ही प्रेम करें । प्रेम उत्तर नहीं चाहता है प्रेम तो मात्र देना चाहता है । प्रेम दो व्यक्तियों के बीच अभिन्नता का भाव है ।
तभी तो कबीर ने कहा है –

प्रेम गली अति सांकरी जागे दो न समाय ।

परिवार में पिता अपने बच्चों से प्रेम करता है । पति और पत्नी एक दूसरे से प्रेम करते हैं । भाई–भाई से प्रेम करता है । मित्र–मित्र से आपस में प्रेम करते हैं । यह सांसारिक प्रेम है या इसे मोह भी कह सकते हैं । आज के प्रेम को निच्छल प्रेम नहीं कहा जा सकता है क्योंकि जैसे ही पति को मालूम होता है कि मेरी पत्नी पूर्व में किसी से भी प्रेम करती रही है वैसे ही पति का भाव अपनी पत्नी के प्रति बदल जाता है और वह उससे घृणा करने लगता है । प्रेम एक साधना के समान है । जिसमें व्यक्ति को देना ही होता है लेना नहीं होता । सांसारिक जीवन में यदि प्रेम के कुछ निश्छल उदाहरण दिये जा सकते हैं तो वह इस प्रकार हैं – जैसे लैला मजनू, शीरीं फरहाद और सोनी महिवाल आदि हैं । जिन्होंने प्रेमी के वियेग में अपनी जीवन लीला ही समाप्त कर ली । भारतीय धर्मशास्त्रों में कहा गया

है कि जब शरीर शरीर मिलते हैं तो उसे काम कहते हैं । जब मन मन मिलते हैं तो उसे प्रेम कहते हैं । और जब आत्मा और आत्मा मिलती है तो उसे भक्ति कहते हैं । वर्तमान में प्रेम और काम एक दूसरे से अधिक हो गये हैं । आज का व्यक्ति पहले प्रेम करता है फिर काम में पहुंच जाता है । फिर काम द्वारा प्रेम में पहुंच जाता है । जिस तरह आभूषण को बनाते समय उसमें रांगा मिला होता है या जो पारिवारिक सम्बन्धों में प्रेम पाया जाता है यह प्रेम न होकर मोह ही कहना उचित होगा । यह प्रेम का विकृत रूप है । जब तक प्रेम से काम सम्बन्धित है तब तक वह प्रेम भक्ति नहीं बन सकता । प्रेम तो वह है जिसमें दो प्रेमी एक दूसरे के मन में प्रवेश कर आसमान के चांदनी रात्रि में एक दूसरे में एकाकार हो जाते हैं । यह प्रेम भी आध्यात्मिक मात्रा में बहुत अधिक नहीं बढ़ पाता है लेकिन यह प्रेम यात्रा की कुछ दूरी तय करता है । तीसरा प्रेम दो आत्माओं को बीच कहा गया है । जब कोई साधक इस सम्पूर्ण ब्रम्हाण्ड में प्रत्येक प्राणी, पशु –पक्षी, जीव – जन्तु, पेड़–पौधों यहां तक कि प्रत्येक वस्तु में उसी ब्रम्ह का रूप देखता है और उससे प्रेम करता है तो इसे भक्ति कहते हैं । क्योंकि कहा गया है कि व्यक्ति के शरीर में स्थित उसकी जीवात्मा ही उसका जीवन है । उस जीवात्मा के निकलते ही व्यक्ति निर्जीव हो जाता है । यह जीवात्मा उस परमात्मा का ही अंश है एवं उसी का रूप है । इसलिये यही नित्य है बाकी सब अनित्य है । इसलिये श्री कृष्ण भगवान ने गीता में कहा है कि यह सम्पूर्ण ब्रम्हाण्ड मुझ में है । मुझसे बाहर कोई वस्तु नहीं । मनुष्य के जन्म लेते समय न उसकी कोई जाति होती है और न ही कोई वर्ग, न वह उच्च होता और न ही निम्न । धीरे–धीरे जब वह बड़ा होता है वैसे वैसे उसमें यह सभी ऊंचे नीचे के प्रवेश करते हैं और वहीं से वह इस संसार में भटकना शुरू कर देता है ।

वैष्णव दर्शन में ज्ञान दर्शन तथा कर्म मार्ग के स्थान पर भक्ति –मार्ग अथवा भक्ति योग का ही मोक्ष का प्रमुख साधन माना गया है रामानुज, निंबार्क, बल्लभ, चैतन्य आदि वैष्णव दार्शनिकों के अनुसार, मनुष्य ईश्वर –भक्ति द्वारा ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है । इन सभी दार्शनिकों ने अपने अपने सिद्धान्तों के अनुरूप भक्ति के स्वरूप तथा उसके विभिन्न पक्षों का विस्तृत विवेचन किया है । यद्यपि भक्ति के स्वरूप के विषय में इन दार्शनिकों में मतभेद हैं, फिर भी वे यह स्वीकार करते हैं कि ईश्वर के प्रति प्रेममय आत्म–समर्पण ही भक्ति है । सच्चा भक्त वह है जो बिना किसी कामना के अपना सम्पूर्ण जीवन ईश्वर की आराधना करते हुए अपने समस्त कर्म उसके प्रति पूर्ण समर्पण की भावना से ही करता है और ईश्वर कृपा के

अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की आंकाक्षा नहीं रखता । ईश्वर अथवा किसी अन्य आराध्य विषय के प्रति भक्त के पूर्ण आत्म–समर्पण की इसी भावना तथा पूजा या उपासना को ही ' भक्ति' की संज्ञा दी जाती है ।

बहुत प्राचीन काल से हिन्दू धर्म और संस्कृति में भक्ति का विशेष महत्व रहा है । वेदों में ऋषियों द्वारा इंद्र, अग्नि, सूर्य, वरूण आदि देवताओं की जो स्तुति की गई है उसे भक्ति का ही प्रारम्भिक रूप माना जा सकता है । उपनिषदों में एक ही ईश्वर की उपासना के रूप में इसी भक्ति का विकास हुआ है । वेदों तथा उपनिषदों के अतिरिक्त 'रामायण' एवं 'महाभारत' नामक महाकाव्यों और 'विष्णु – पुराण', 'भागवत – पुराण' आदि अनेक पुराणों मे भक्ति के विभिन्न रूपों की विस्तृत विवेचना उपलब्ध होती है । गीता में मोक्ष के लिये ज्ञान योग तथा कर्म योग के अतिरिक्त भक्ति योग को भी बहुत महत्व दिया गया है और भक्तों की अनेक श्रेणियों एवं भक्ति के विभिन्न रूपों का सविस्तार विवेचन किया गया है परन्तु भक्ति का चरम विकास वैष्णव दर्शन में ही हुआ है, जो भक्ति को मोक्ष प्राप्ति का एकमात्र मार्ग मानता है ।

भक्ति के स्वरूप के विषय में ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि इसमें भक्त तथा आराध्य के द्वैत का होना अनिवार्य है । भक्त अपने आराध्य की पूजा या उपासना करता है और सदा उसके अनुग्रह की कामना करता है, अतः भक्त और आराध्य इन दोनों में से किसी एक के अभाव में संभव नहीं है । भक्त एवं आराध्य में इस द्वैत के अतिरिक्त भक्ति के लिये आराध्य का सगुण, साकार तथा व्यक्ति सम्पन्न होना भी अनिवार्य है । भक्त ऐसे ही आराध्य की उपासना कर सकता है जो उसकी प्रार्थना सुनता है और संकठ काल में उसकी सहायता करता करता है । इसी कारण भक्त सगुण, और व्यक्ति सम्पन्न ईश्वर की सत्ता में ही विश्वास करता है । व्यक्तित्वरहित, निर्गुण तथा निराकार ब्रह्म की पूजा करना उसके लिये संभव नहीं है, क्योकि वह उपासना का विषय नहीं हो सकता । इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुये शंकर ने भी व्यावहारिक सत्ता के रूप में सगुण एवं साकार ईश्वर की अस्तित्व को स्वीकार किया है और उसे ही पूजा या आराधना का विषय माना है भक्ति के लिये उपर्युक्त दोनों तत्वों के साथ साथ भक्ति के मन में अपने आराध्य के प्रति पूर्ण आत्म समर्पण की भावना का होना भी आवश्यक है । इसी भावना से प्रेरित होकर वह अपने आराध्य को सर्वगुणसम्पन्न तथा अत्यधिक महान और उसकी तुलना में अपने आपको अत्यन्त तुच्छ मानता है । वह अपने आराध्य को स्वामी तथा संरक्षक मानकर अपने आपको उसकी शरण में डाल

देता है और सदा उसकी कृपा पर ही निर्भर रहता है । आराध्य के प्रति भक्त की पूर्ण शरणागति की इसी अवस्था को प्रपतित की संज्ञा दी जाती है । वस्तुतः यही भक्ति का गहनतम रूप है, ऐसी भक्ति के लिये भक्त में अपने आराध्य के प्रति अगाध श्रद्धा एवं आस्था का होना आवश्यक है । परन्तु उसमें ऐसी श्रद्धा की उत्पत्ति तभी संभव है जब उसका अहंकार पूर्णतः नष्ट हो जाये और वह अपने आराध्य के प्रति पूर्ण निष्ठा एवं आत्मसर्म्पण की भावना का अनुभव करे ।

भक्ति के कुछ अनिवार्य आधारभूत तत्वों की विवेचना करने के पश्चात् अब संक्षेप में उसके वर्गीकरण पर विचार करना आवश्यक है । भक्त के प्रयोजनों की दृष्टि से भक्ति मुख्यतः दो प्रकार की मानी जाती है – हैतुकी या गौणी तथा अहैतुकी अथवा मुख्य । हैतुकी भक्ति वह जिसमें भक्त अपने आराध्य से स्वयं अपने लिये सुख, समृद्धि, यश, धन सम्पत्ति आदि की याचना करता है । ऐसी भक्ति निष्काम न होकर मूलतः भक्त की स्वार्थ सिद्धि द्वारा ही प्रेरित होती है, अतः इसे निम्न कोटि की भक्ति माना जाता है और इसे गौणी की संज्ञा दी जाती है । अनेक व्यक्ति सांसारिक सुख समृद्धि प्राप्त करने के लिए इसी प्रकार की भक्ति करते हैं। परन्तु स्वार्थ द्वारा प्ररित होने के कारण ऐसी भक्ति को गीता के निकृष्ट माना गया है और जो व्यक्ति यह भक्ति करते हैं, उन्हें वास्तविक भक्त के रूप में स्वीकार नहीं किया गया । ये व्यक्ति भक्ति को स्वतः साध्य न मानकर उसे स्वार्थ सिद्धि का साधन मात्र मान लेते हैं । यह स्पष्ट है कि ऐसी स्वार्थपूर्ण भक्ति मनुष्य के लिए मोक्ष का मार्ग प्रशस्त नहीं कर सकती । वस्तुतः सांसारिक विषय भोगों के प्रति आसक्ति से प्ररित होने के कारण इस प्रकार की भक्ति मनुष्य को बंधन में ही डालती है । इसी कारण गीता में ऐसी निम्नकोटि की भक्ति को त्याज्य माना गया है ।

उपर्युक्त हैतुकी भक्ति के विपरीत अहैतुकी भक्ति वह है जिसमें भक्त ईश्वर के प्रति प्रेम तथा श्रद्धा से प्रेरित होकर निष्कामभाव से उसकी आराधना करता है और उसके प्रति सर्वस्व समर्पित कर देता है। वह आत्म समर्पण तथा आराधना के प्रतिदान के रूप में ईश्वर से किसी वस्तु की याचना नहीं करता । वह अपनी भक्ति को किसी प्रकार के लाभ या स्वार्थ का साधन नहीं मानता । वह अपने आराध्य के प्रति अगाध श्रद्धा तथा पूर्ण समर्पण की भावना से प्रेरित होकर निस्वार्थभाव से सदा उसकी पूजा या उपासना करता है । इस प्रकार की निष्काम भक्ति को ही गीता में उच्चकोटि की तथा सच्ची भक्ति माना गया है और इसे 'अनन्या भक्ति' की संज्ञा दी गई है । इसी भक्ति को 'मुख्या' अथवा 'परा भक्ति' भी कहा

जाता है । जो व्यक्ति अपने आराध्य की ऐसी निस्वार्थ उपासना करते हैं उन्हें ही गीता में उच्च श्रेणी के सच्चे भक्तों के रूप में स्वीकार किया गया है । यह निष्काम भक्ति ही मनुष्य की मुक्ति के लिए मार्ग प्रशस्त करती है, अतः गीता में इसे विशेष महत्व दिया गया है । भगवान कृष्ण का कथन है कि मनुष्य ऐसी निस्वार्थ भक्ति द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकता है । ईश्वर ही अपना स्वामी मानकर सेवाभाव से अपने समस्त कर्मों को उसे समर्पित कर देना आदि इस भक्ति के मुख्य रूप हैं । इन सब रूपों का प्रयोग करते हुए भक्त सदा अपने आराध्य ईश्वर के सानिध्य में रहता है । इस प्रकार गीता के अनुसार मनुष्य इस निष्काम तथा अहैतुकी भक्ति द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकता है । इस प्रकार इसमें अन्य चार प्रकार की भक्तियों का वर्णन किया गया है ।

1. तामस भक्ति :–

इसमें व्यक्ति इसलिये तंत्रमंत्र और भजन पूजन करता या करवाता है जिससे वह अपने शत्रु का बुरा कर सके । यह भक्ति का सबसे निकृष्टतम रूप है ।

2. राजस भक्ति :–

यह वह भक्ति है जिसमें व्यक्ति संसार की भौतिक वस्तुओं या विभिन्न राजनीतिक और अन्य पदों को पाने के लिये ईश्वर की उपासना एवं भजन पूजन करता है ।

3. सात्विक भक्ति :–

यह वह भक्ति है जिसके द्वारा एक भक्त इस संसार के आवागमन के चक्र से मुक्त होकर स्वर्ग या मोक्ष पाने का प्रयत्न करता है । ज्यादातर आध्यात्मिक साधक अपने मन में स्वर्ग एवं मोक्ष प्राप्त करने की आकांक्षा रखते हैं । कोई विरला ही साधक ऐसा होता है जो कामनाशून्य होता है जो मोक्ष भी पाने की इच्छा न रखता हो ।

4. पराभक्ति :–

इस भक्ति को जानने वाले बहुत ही उच्च कोटि के साधक होते हैं । जो स्वर्ग, मोक्ष और मुक्ति की कभी कामना से ऊपर उठ जाते हैं । वह तो ईश्वर से कहते हैं कि मुझे कुछ नहीं चाहिये यहां तक कि मोक्ष भी नहीं चाहिये । यह साधक अपनी सम्पूर्ण भक्ति ईश्वर पर ही छोड़ देते हैं और कहते हैं कि जैसी, आप की मर्जी । मै उसी में प्रसन्न हूं जैसे आप चाहेंगें । फलस्वरूप ऐसे भक्ती को भगवान की कृपा प्राप्त होती है । और ईश्वर अपना दर्शन देकर भक्त को कृतार्थ कर देता है । आध्यात्म में कहा गया है कि जब तक भक्त कुछ भी

चाहता है तब तक ईश्वर नहीं मिलता बाकी संसार की वस्तुएं उसको प्राप्त हो जाती है । इसे पराभक्ति कहते हैं ।

प्रत्येक साधक को संत का संग तथा सेवना भगवत्प्राप्ति के शुद्ध भाव से करना चाहिये तो निश्चय ही साधक की स्थिति तथा साधन का शांति के अनुसार उसको परमार्थ पथ पर प्रशांति के अनुभव होने लगेंगें और वह उत्तरोत्तर आगे बढ़ता चला जायेगा । प्रशाति के वे लक्षण ये हैं –

1. काम, क्रोध, लोभ, मद अभियान ईर्ष्या, द्वेष, हिंसा, निषाद, शोक, भय, परहित में रूचि, व्यर्थ चिन्तन, व्यर्थ भाषण, कटु भाषण आदि का न रहना ।
2. मन में विकार उत्पन्न करने वाले शारीरिक, मानसिक, साहित्यिक, कुसंग का त्याग ।
3. जगत के विषयों की विस्मृति ।
4. भोगों में वैराग्य तथा उपरति ।
5. जागतिक लाभ हानि तथा अनुकूलता प्रतिकूलता में सुख दुख का होना, समान स्थिति रहना ।
6. बुद्धि, मन तथा इन्द्रियों का भोगों की ओर से हटकर भगवान में लगे रहना ।
7. दैवी सम्पत्ति के सभी लक्षणों का सहज विकास ।
8. संत के तथा भगवान के अनुकूल आचरण करना ।
9. अपने इष्ट भगवान का नित्य मधुर स्मरण ।
10. स्वाभाविक ही सर्वभूतहित की भावना शास्त्रीवहित कर्मों में प्रवृत्ति ।

याद रखो उपर्युक्त लक्षण यदि जीवन में प्रकट होने लगें तो समझो कि वास्तव में संत का संग तथा संत का सेवन हो रहा है । जैसे सूर्य के उदय होने पर प्रकाश का होना अनिवार्य तथा स्वयं सिद्ध प्रत्यक्ष है वैसे ही संत के संग तथा सेवन से उपर्युक्त भावों तथा गुणों का प्रकाश अनिवार्य स्वयं सिद्ध तथा प्रत्यक्ष होता है ।

संत का संग और सन्त का सेवन करने पर भी यदि उपर्युक्त लक्षणों का उदय न होकर उसके विपरीत आसुरी सम्पत्ति का विकास तथा विस्तार, भोगों तथा पापों में रूचि, शासनिषिद्धि कर्मों में राग परअहित में प्रसन्नता, विषयचिन्तन आदि होते हैं तो समझना चाहिये कि या तो जिनको संत माना गया है, वे संत नहीं हैं अथवा उनका संत और सेवन न करके उनके नाम पर विषय संग तथा विषय सेवन ही किया जा रहा है, भगवतप्राप्ति का उद्देश्य ही नहीं है ।

जब कोई भक्त अपनी साधना और भक्ति द्वारा ईश्वर को प्राप्त कर लेता है तो ईश्वर उससे प्रसन्न होकर अपने आनन्द का सागर उसकी खाली गागर में उड़ेल देता है । यही स्थिति भक्त के लिये परमानन्द की हो जाती है । कल्पना करिये इस छोटी सी गागर में पूरा समुद्र आ जाये तो भक्त की मानसिक स्थिति की कल्पना की जा सकती है तभी तो सन्तों ने कहा है कि भक्त की आंखों में एक हजार बोतल का नशा होता है । वह इतना आनन्दित होता है कि उसके पास इस परमानन्द की स्थिति का वर्णन करने के लिये शब्द नहीं होते । तभी तो शास्त्रों में कहा गया है कि भक्ति गूंगें का गुड़ है । एक गूंगें को गुड़ खिला दीजिये फिर उससे उसका स्वाद पूछिये, गूंगा गुड़ के स्वाद का इशारा तो करता है लेकिन न बोल पाने के कारण वह गुड़ का असली स्वाद नहीं बता पाता । इस प्रकार एक भक्त अपनी सम्पूर्ण भक्ति के फलस्वरूप अपने आराध्य में लीन हो जाता है । इसलिये कहा गया है कि अन्त में भक्त ही भगवान हो जाता है और भगवान भक्त हो जाता है । अब यहां दो नहीं रह जाते हैं दोनों अद्वैत हो जाते हैं । इस भारत भूमि पर बहुत से भक्त और महापुरूष हुये हैं जिन्होंनें अपनी भक्ति के परिणामस्वरूप ईश्वर को प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की । तुलसी, मीरा, चैतन्य महाप्रभु कबीर, रविदास, मलूक दास गोस्वामी, रामकृष्ण परमहंस आदि नाम के इस कोटि में लिये जा सकते हैं ।

उपरोक्त कथन द्वारा मैंने यह बतलाने का प्रयास किया है कि कोई भी व्यक्ति या साधक इन तीनों मार्गों (कर्म, ज्ञान, भक्ति) द्वारा मोक्ष को प्राप्त कर सकता है । हालांकि इस धर्म के मार्ग पर चलकर मोक्ष प्राप्त करना इतना आसान नहीं है जैसे बहुधा साधक समझता है लेकिन फिर भी यदि कोई व्यक्ति, साधक या भक्त मोक्ष का आकांक्षी होकर इन मार्गों का अनुसरण करता है और यदि मोक्ष नहीं भी प्राप्त हो पाता है तो कम से कम उसका व्यक्तिगत और सामाजिक जीवननियंत्रित और सम्भावित रहता है जिससे वह सभी चिन्ताओं और तनावों से मुक्त होकर जीवन जी सकता है और समाज को भी कुछ योगदान कर सकता है ।
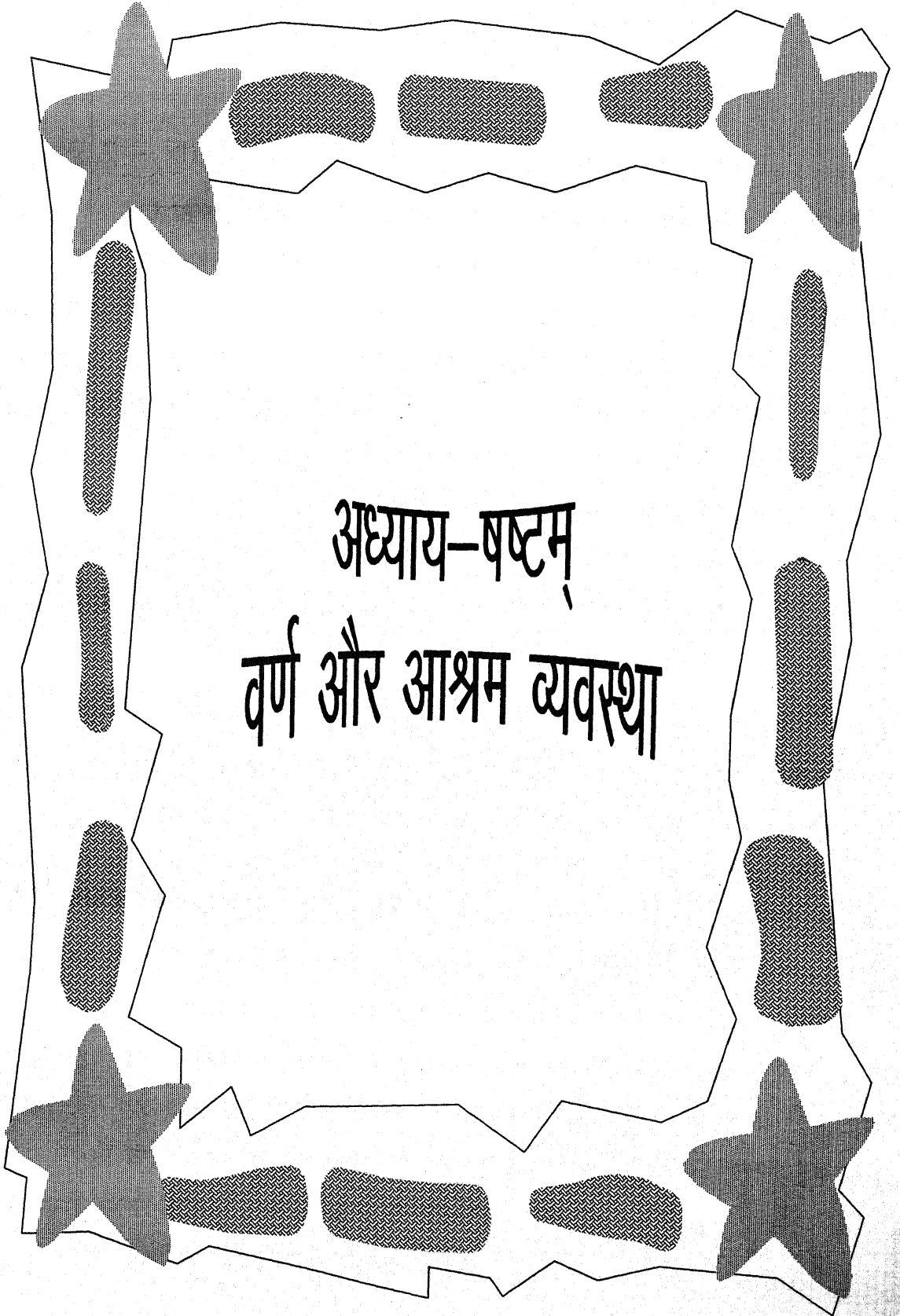
अध्याय–षष्टम्

वर्ण और आश्रम व्यवस्था

वर्ण एवं आश्रम व्यवस्था

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है –

यह अति प्रसिद्ध उक्ति है कि "मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।" वह एकाकी नहीं रह सकता। उसका सर्वथा अकेले रहकर निर्वाह हो सकना असंभव है। उसे अन्य साथियों, सहयोगियां की आवश्यकता है। यही कारण है कि वे ग्राम, कस्बा या नगर बसाकर रहते है। वे सभी परस्पर सहयोग और सहानुभूति से रहना पसन्द करते है, न केवल रहना ही अपितु मिलकर विचार करना, मिलकर बोलना और एक होकर चलना पसन्द करते है। इस प्रकार एक होकर सोचने, बोलने और चलने वाले सदस्यों की संस्था को ही समाज कहते है। सममजन्ति जनाः यस्मिन् स समाजः स्वंय भगवती श्रुति ने भी कहा कि जब पहले पहल मनुष्यों के स्वराज्य स्थापना के लिये प्रयत्न किया तो उन सभी मनुष्यों की गति अथवा चाल मिलकर एक हो गई थी तब कहीं धरती पर मनुष्य प्राणी का स्वराज्य स्थापित हो सका था 'यद् अजः प्रथम संबभूव स ह तत् स्वराज्यमियाय'।

शरीरांगों की भांति संवेदनशीलता –

मनुष्य समाज के घटकों में परस्पर वैसी और उस प्रकार के सहयोग, सहानुभूति की अपेक्षा है, कि जैसी और जिस प्रकार की शरीर के अंगों में है। कैसी और कितनी परस्पर संवेदना होनी चाहिये, जैसी और जितनी मनुष्य शरीर के अंगो में है। शरीर के किसी भी अंग में पीड़ा होने पर मुंह से आह और आंसू स्वतः निकलने लगते है। हाथ सहलाने, थपथपाने एवं दबाने के लिये स्वतः पहुंच जाते है। और पांव उसकी निवृत्यर्थ योग्य चिकित्सक की तलाश में स्वतः दौड़ पडतें है। यह सब अतना सहज और स्वाभाविक तौर पर होता है कि मानो मनुष्य कोई स्वलाचिल मशीन हो। यही कारण है कि स्वंय वेद भगवान ने भी प्रत्येक व्यक्ति को परस्पर सहयोग सहानुभूति का सामाजिक जीवन व्यतीत करने के लिये पुरूष शरीर से ही उपमा दी और समाज को भी पुरूष रूप में चित्रित किया। उसके मुख, बाहु, ऊरू और चरण बताकर उनका वर्णन भी कर दिया।

मनुष्य शरीर से उपमित समाज पुरूष –

यह आवश्यक था कि मनुष्य के सामने कोई ऐसी मिसाल रखी जाती कि जिसकी अनुकृति में समाज संरचना में अपूर्व योगदान होने के साथ साथ उसकी जानी पहचानी होती। यही कारण है कि वेदों ने समाज को पुरूष रूप में चित्रित किया। मनुष्य के लिये अपने शरीर से अधिक परिचित कोई अन्य उपमा हो ही न सकती थी। मनुष्य प्राणी के आंखे खोलते ही जो वस्तु उसके सामने थी उसकी अपनी अथवा अपने माता पिता की देह ही तो थी। सर्वप्रथम उसे इसी का इसके एक एक अंग का परिचय कराया गया था फिर बड़ा होने पर उसके सामने बम्हाण्ड देह विद्यमान था, विराट पुरूष था। उसका परिचय कराते हुये भी अथर्ववेद के शब्दों में यही कहा गया था कि "भूमि ही जिसके पांव है, अन्तरिक्ष ही जिसका उदर है, दिव ही जिसकी मूर्धा है" इत्यादि। योग्य गुरू की यही पहचान है कि वह शिष्य को ज्ञात से अज्ञात का बोध कराये, अतः परमगुरू ईश्वर ने भी ज्ञात पिण्ड पुरूष के आश्रित अज्ञात समाज पुरूष का परिचय कराया। अथर्ववेद में जहां एक ओर विराट पुरूष का वर्णन है केन सूक्त में जहां पिण्ड पुरूष के एड़ी से लेकर चोटी तक का वर्णन है वहां सभी संहिताओं मे पुरूष सूक्त के माध्यम से समाज पुरूष का भी सागंड़ोपांगड़ वर्णन है।

प्रश्न और उसका समाधान –

स्वंय भगवान के सामने भी यह प्रश्न था कि – मनुष्य को कैसे समझाया जाये कि जिस प्रकार व्यक्ति पुरूष को गन्तव्य के लिये गति साधन चरणों की स्थातव्य के लिये स्थिति साधन ऊरू उदर की, कर्तव्य के लिये कृति साधन करों की वक्तव्य के लिये उक्ति साधन मुख की, मन्तव्य के लिये मति साधन मन, मस्तिष्क की आवश्यकता है, उसी प्रकार समाज पुरूष को भी गति के लिये चरणों की, स्थिति के लिये ऊरू उदर की, कृति के लिये बाहू कर की, मति के लिये मुख मस्तिष्क की आवश्यकता है, क्योंकि समाज पुरूष भी चलता है, ठहरता है, करता है बोलता है। अतः इन चारों अंगों के स्थानापन्न किन्ही व्यक्तियों की आवश्यकता है। इन्ही व्यक्तियों का नाम है – ब्राम्हण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। मनुष्य समाज के इन चार विभागों का वर्णन करने वाला पुरूष सूक्त का प्रसिद्ध मंत्र निम्न प्रकार है–

ब्राहम्णोस्य मुखमासीद्, बाहू राजस्वः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।
ऋग् 10/90/12, यजुर् 31/11

ब्राम्हणोस्य मुखमासीद् बाहू राजन्योभवत।

म्ध्यं तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ।। अथर्व 19/3/6।।

अर्थात "(ब्राम्हण) ब्राम्हण (अस्य) इस मनुष्य समाज का (मुख) मुख है, (राजन्यः) क्षत्रिय (बाहू) भुजायें (कृतः) बनाया गया है, (यद्) जो (वैश्य) वैश्य है (तत) वह (ऊरू) जंघायें और पैरों के लिये (शूद्रः) शूद्र (अजायत) बना है"।

अथर्ववेद का मंत्र थोड़े से पाठभेद के साथ वही है जो ऋग्वेद और यजुर्वेद का है। अथर्ववेद में ऋग और यजुर के "बाहू राजन्यः कृतः" के स्थान में बाहू राजन्यः अभवत" और "ऊरू तदस्य यद्वैश्य" के स्थान में "मध्यं तदस्य यद् वैश्यः" ऐसा पाठ है। अथर्ववेद के "बाहू राजन्य अभवत का तो वही अर्थ है जो बाहू राजन्य कृत का है। मध्यं तदस्य यदवैश्यमें ऋग और यजुः के ऊरू का अर्थ जंघायें होता है और मध्य का अर्थ बीच का हिस्सा होता है। अथर्ववेद में प्रयुक्त हुये मध्य शब्द ने ऋगवेद और यजुर्वेद के ऊरू शब्द की व्याख्या कर दी है। अथर्ववेद के "मध्य" शब्द के प्रयोग से यह प्रतीत होता है कि शेष दोनो वेदों में प्रयुक्त (ऊरू) शब्द को शरीर के मध्य हिस्से का उपलक्षण समझना चाहिये। अर्थात ऊरू का अर्थ जंघायें और जंघाओ से उपलक्षित पेट करना चाहिये। पेट और जंघायें ही शरीर के मध्य भाग का निर्माण करते है। फलतः मनुष्य समाज के शरीर का मध्य भाग वैश्य को समझना चाहिये।

मंत्रार्थ–निष्कर्ष –

यह मंत्र वैदिक धर्म के समाज संगठन सम्बन्धी वर्णव्यवस्था सिद्धान्त का प्रधान और आधार भूत मंत्र है। वर्णव्यवस्था के सम्बन्ध में अन्यत्र वेद में तथा वैदिक साहित्य के अन्य ग्रन्थों में जो कुछ लिखा गया है वह इसी मंत्र की विस्तृत व्याख्या और भाष्यमात्र है। इस मंत्र से जो निष्कर्ष निकलते है उन्ही को प्रकारान्तर से वेद में अन्यत्र तथा वैदिक साहित्य के ऋषिकृत दूसरे ग्रन्थों में विस्तार के साथ कहा गया है। इसलिये समाज संगठन के सम्बन्ध में इस महत्वूपर्ण मंत्र से जो निष्कर्ष निकलते है उन्हे जरा ध्यान से देख लेने की आवश्यकता है।

अनिवार्य विभाजन –

1. पहली बात तो जो मंत्र को पढ़ते ही सबसे प्रथम ध्यान में आती है, वह यह है कि मनुष्य समाज को ब्राम्हण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार विभागों में विभक्त होना चाहिये।

किसी भी राष्ट्र में रहने वाले लोगो को अपने जन समाज को इन चार विभागों में विभक्त करके रहना चाहिये।

समाज शरीर और अंगचतुष्टय –

2. दूसरी बात जो मंत्र को गम्भीरता से पढ़ने और स्पष्ट ध्यान में आती है वह यह है कि मंत्र में मनुष्य शरीर से उपमा दी गई है। जैसे मनुष्य शरीर में मुख, हाथ, पेट और पैर होते है, वैसे ही मनुष्य समाज में भी मुख, हाथ, पैर होते है। जैसे शरीर के मुख, हाथ आदि मिलकर शरीर का निर्माण करते है वैसे ही समाज के मुख, हाथ आदि मिलकर अंग मिलकर समाज शरीर का निर्माण करते है मनुष्य शरीर की भांति समाज भी एक प्रकार का शरीर है। जैसे शरीर की पुष्टि और उन्नति के लिये उस प्रत्येक अंग का पुष्ट और उन्नत होना आवश्यक है, वैसे ही किसी जन समाज की पुष्टि और उन्नति के लिये भी इसके प्रत्येक अंग का पुष्ट और उन्नत होना आवश्यक है। जैसे शरीर के किसी अंग की अपुष्टि और उसके किसी अंग का रोग समग्र शरीर के लिये घातक हो जाते है, उसी प्रकार जन समाज के किसी अंग की अपुष्टि उसके किसी अंग की अवनति, समग्र समाज की अवनति और हीनता का कारण बन जाती है। इसलिये समाज की उन्नति के लिये उसके सब अंगो का उन्नत होना अत्यावश्यक है।

3. तीसरी बात जो मंत्रों के शब्दों से निकलती है वह यह है कि मंत्र में ब्राम्हण आदि को मुख आदि कहा गया हें ब्राम्हण आदि का यह मुख आदि के साथ रूपक ब्राहम्ण आदि के गुणों पर बड़ा सुन्दर प्रकाश डालता है। ब्राम्हणादि के मुखादि के साथ इस रूपक से ब्राम्हणादि के गुणों पर किस प्रकार प्रकाश डालता है, यह शरीर में मुखादि के कार्यो को देखने से स्पष्ट हो जाता है।

मुखवत् ज्ञानी, तपस्वी और त्यागी –

ब्राम्हण समाज का मुख है। अब जरा मुख के कार्य और गुणों पर दृष्टि डालिये। मुख में आंख, नाक, कान रसना और त्वचा ये पांच ज्ञानेन्द्रिय एकत्र है। शेष शरीर में केवल त्वचा ही एक ज्ञानेन्द्रिय है। इस प्रकार मुख में शरीर के और अंगों की अपेक्षा पाचं गुणा ज्ञान रहता है। ब्राम्हण जन समाज का मुख है। यहां मुख से तात्पर्य सारे शरीर से है। (संस्कृत साहित्य में मुख शब्द सारे शरीर या चेहरे के लिये बहुधा प्रयुक्त होता है। चन्द्र इव मुखम – यह मुख चन्द्रमा जैसा मनोहर है – इत्यादि वाक्यों में मुख से तात्पर्य – मुख छिद्र से नहीं होता,

प्रत्युत सारे शरीर या चेहरे से होता है। समाज के अन्य क्षत्रियादि अंगों की अपेक्षा ब्राम्हण में पांच गुणा ज्ञान रहना चाहिये) मुख से बोलकर अपने ज्ञान को दूसरों तक पहुंचाता है। ब्राम्हण समाज का मुख है, अतः उसे भी अपना ज्ञान उपदेश द्वारा दूसरे लोगो तक पहुंचाना चाहिये। इस प्रकार जो लोग ज्ञान के अर्जन और अर्जित ज्ञान के प्रचार में लगे रहते है वे ब्राम्हण है। मुख तपस्वी है, कठोर से कठोर शीत के दिनों में भी जबकि हम सारे शरीर को वस्त्रों से ढक लेते है, हमारा मुख नग्न ही रहता है। ब्राम्हण समाज का मुख है। उसे मुख की भांति तपस्वी होना चाहिये। उसे शीतोष्णादि द्वन्द्वों को सहने का अभ्यास होना चाहिये। इसी के उपलक्षण से उसे मानसिक क्षेत्र में मान अपमान आदि द्वन्द्वों के सहने का भी अभ्यास होना चाहिये। मुख स्वार्थरहित और परोपकारी है, वह संचित ज्ञान को अपने पास नहीं रखता, उसे औरो को स्पष्ट देता है, प्राप्त हुये भोजन को वह अपने पास नहीं रखता उसे पचने योग्य बनाकर पेट के अर्पण कर देता है, जहां से वह सब अंगों को पहुंचता है। ब्राम्हण समाज का मुख है, उसे मुख की तरह स्वार्थहीन ओर परोपकारी होना चाहिये। उसे अपना सब ज्ञान और अपनी सब शक्तियां समाज के उपकार में लगा देनी चाहिये। यदि मुख स्वार्थी हो जाये प्राप्त हुये भोजन को अपने में ही रखे और कण्ठ से नीचे नहीं उतरने दे, तो सड़ांद होकर मुख स्वंय भी नष्ट हो जायेगा और सारे शरीर को भी नष्ट करेगा। इसी प्रकार स्वार्थी ब्राम्हण स्वंय भी नष्ट हो जायेगा और समाज को भी नष्ट करेगा। जो मुख की भांति ज्ञानवान, ज्ञान का उपदेष्टा, तपस्वी, सहनशील, स्वार्थहीन और परोपकारी है, वह ब्राम्हण है।

भुजाओं की भांति क्षत्–त्राण –

क्षत्रिय समाज की भुजाये है। भुजाओं में बल है। जब शरीर पर कहीं से भी किसी प्रकार का प्रहार होता है। तो भुजाओं आगे बढ़कर उस प्रहार को अपने ऊपर ओटती है, और शत्रु पर प्रहार करती है। प्रहार से स्वंय घायल होना स्वीकार करती है परन्तु शरीर के अन्य अंगों को घायल नहीं होने देती। शरीर के शत्रुओं पर प्रहार करके उनके नाश का प्रयत्न करती है। इसी प्रकार जो लोग अपने भीतर बल की विशेष वृद्धि करते है और उस बल से समाज की रक्षा करते है। वे क्षत्रिय है। समाज के किसी भी अंग पर कहीं प्रहार कोई अत्याचार नही होने देगा। वह आगे बढ़कर प्रहार को अत्याचार को रोकेगा। स्वंय कष्ट में पडना स्वीकार करेगा। यहां तक कि मृत्यु तक का आलिंगन करने का भी उद्यत रहेगा। पर समाज के किसी अंग को अन्याय अत्याचार से पीड़ित नहीं होने देगा। वह समाज की रक्षा

और उसके शत्रुओं के विनाश के लिये सदा अपना रूधिर बहाने के लिये उद्यत रहेगा। जो शरीर में भुजाओं की भांति समाज की अन्याय और अत्याचार से रक्षा करने के लिये सदा तत्पर रहता है, और इस कार्य के लिये सदा अपनी जान हथेली पर लिये फिरता है, वह क्षत्रिय है। क्षत्रिय समाज की भुजा है।

ऊरू उदर की भांति सबका आधार–

वैश्य समाज का मध्य भाग है। शरीर के मध्य भाग में पेट का प्रधान स्थान है। पेट के कार्य से वैश्य के कार्य पर प्रकाश पड़ता है। खाया हुआ अन्न पेट में जाकर एकत्र होता है। पेट उस अन्न हो पचाकर रस बना देता है और फिर उस रस को रूधिर में मिला देता है। रूधिर में मिला हुआ यह रस शरीर के प्रत्येक अंग में पहुंचकर उसे भोजन देता है उसे पुष्टि और बल देता है। वैश्य समाज का मध्य भाग है, पेट है। पेट जैसे शरीर के सब अंगो के लिये रस तैयार करके भोजन तैयार करके देता है, वैसे ही वैश्य समाज के ब्राम्हण आदि सब अंगो को भोजन तैयार करके देना होगा। समाज का जो अंग समाज शरीर के सब अंगो के भरण पोषण का भार अपने ऊपरलेता है वह वैश्य कहा जायेगा। मध्य भाग में जंघायें भी सम्मिलित की गई है। जंघाओं का काम चलना फिरना है। जो जंघाओं की तरह चले फिरेगा देश देशान्तर में आ जाकर व्यापार व्यवसाय करेगा, वह वैश्य कहलायेगा। देश देशान्तर में आ जाकर व्यापार व्यवसाय करना, और उसके द्वारा अपने राष्ट्र के जन समाज के भरण पोषण का उपाय करना, वैश्य का कर्तव्य है। ये वैश्य राष्ट्र शरीर के मध्यभाग होते है जिसके ऊपर उनके सब अंगो का जीवन निर्भर होता है।

चरणों की भांति गति–स्थिति का आधार–

पैरो के काम के लिये 'शूद्र' है। शूद्र समाज शरीर का पैर है। पैरों का शरीर में क्या काम है ? पैर सारे शरीर को अपने ऊपर उठाये रहते है। सारे शरीर को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाते है। स्वंय धूल, मिट्टी, कीचड़ आदि में रहते है परन्तु बाकी शरीर को साफ बचाये रहते है। पैरों में शेष शरीर की सेवा का ही यह एक विशेष गुण है। और कोई विशेष गुण पैरों में नहीं होता। जो लोग ज्ञान आदि विशेष गुण अपने अन्दर नहीं रखते, और इसलिये वे समाज के ब्राम्हण आदि अन्य अंगों की सेवा का ही कार्य कर सकते है। उन्हे शूद्र कहते है। ये शूद्र लोग ब्राम्हणादि की सेवा करके उन्हे उनके ज्ञानार्जन और ज्ञान प्रचार आदि

के कार्यो के लिये अधिक समय प्राप्त कर सकने में सहायता देकर राष्ट्र शरीर की सेवा करते है। यदि ब्राम्हण आदि को अपनी सेवा के वस्त्र धोना, भोजन बनाना, बरतन मांजना, झाडू देना, और हजामत करना आदि सारे काम स्वंय ही करने पडे तो उन्हे उनके ज्ञानार्जन और ज्ञान प्रचार आदि कार्यो के लिये समय कम मिलेगा। और फलत वे राष्ट्र के लिये अधिक उपयोगी कार्य कम कर सकेंगे। शूद्र लोग उनकी इस प्रकार की सेवाये करके उन्हे राष्ट्र के लिये अधिक उपयोगी काम करने का अधिक अवसर प्रदान करते है। और इस भांति वे भी एक प्रकार से राष्ट्र के हित साधन का काम करते है। ज्ञान आदि विशेष गुण न होने के कारण जो लोग केवल समाज शरीर की सेवा का कार्य ही कर सकते है, उन्हे शूद्र कहा जाता है।

वर्ण विभाग के आधार –

4. चौथी बात जो मंत्र को ध्यान पूर्वक देखने से प्रकट होती है यह है कि ब्राम्हण आदि का विभाग घृणा पर ऊँचनीच के भेद पर अवलम्बित नही है। यह विभाग अपनी शक्तियों द्वारा समाज की अधिक से अधिक सेवा कर सकने के भाव पर अवलम्बित है। शरीर के मुख, भुजा आदि अंग एक दूसरे से घृणा नहीं करते। वे एक दूसरे के साथ मिलकर रहते है। वे एक दूसरे के सुख दुख को अपना सुख दुख समझते है। मुख का दुख जिस प्रकार सारे शरीर का दुख होता है। उसी प्रकार पैर का दुख भी सारे शरीर का दुख होता है। एक की पीडा सब की पीडा होती है। और एक का सुख सबका सुख होता है। जब पैर मे कांटा चुभ जाता है तो पैर के उस दुख को अपना दुख समझकर, क्षत्रिय भुजा उसे निकालने के लिये अपनी अंगुलिये और नाखुन वहां भेजती है और ब्राम्हण मुख अपने दांत वहां भेजता है। शूद्र पैर का वह दुख दूर हो जाने पर ही इनको चैन पड़ती है। यही अवस्था समाज शरीर में उसके मुख, भुजा, पेट और पैर ब्राम्हण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रो की होनी चाहिये। उनमें परस्पर किसी प्रकार की घृणा नही होनी चाहिये। उन्हे परस्पर प्रेम से मिलकर रहना चाहिये। एक दूसरे का सुख दुख उन्हे अपना सुख दुख समझना चाहिये। एक दूसरे की उन्नति अवनति उन्हे अपनी उन्नति अवनति समझनी चाहिये। शूद्र के कष्ट और विपत्ति ब्राम्हण को अपना कष्ट और विपत्ति समझना चाहिये और ब्राम्हण के कष्ट और विपत्ति शूद्र को अपने कष्ट और विपत्ति समझने चाहिये। और ऐसा समझकर सबको सबके कष्ट और विपत्ति दूर करने में तथा सुख और सम्पत्ति बढ़ाने में निरन्तर भरपूर प्रयत्न करना चाहिये। उन्हे समझना

चाहिये कि सबका जीवन सबके सहयोग पर अवलम्बित है। इसलिये कोई किसी से ऐसा ऊंचा नहीं है कि वह घमण्ड में चूर होकर दूसरे से घृणा करने लगे। यदि कुछ ऊँचनीच है तो वह योग्यता और सेवा पर अवलम्बित है जो जितना अधिक गुणवान है और जितना अधिक दूसरों की सेवा करता है वह उतना ही अधिक ऊंचा है। योग्यता और तज्जन्य सेवा के कारण ही वह ऊँचा एवं दूसरों के मान और सत्कार का पात्र बनता है। अपने से अधिक योग्य और राष्ट्र की अपने से अधिक सेवा करने वाले व्यक्ति को अपने से ऊँचा मानना, और ऊँचा मानकर उसका सत्कार करना, सत्कार करने वाले व्यक्ति की आत्मा को उन्नत करता है। और सत्कृत व्यक्ति को राष्ट्र सेवा के लिये और अधिक उत्साहित करता है। इस प्रकार की सात्विक ऊँचनीच के अतिरिक्त और किसी प्रकार की ऊँचनीच की भावना वेद के ब्राम्हणादि वर्ण विभाग में नहीं है। वैदिक उपदेश के वास्तविक रहस्य को न समझने के कारण आधुनिक हिन्दू समाज में प्रचलित जन्म पर आश्रित वर्णव्यवस्था में जो ऊँचनीच के भाव पाये जाते है वे घृणा पर अवलम्बित भेद भाव, इस वर्ण विभाग में कही नहीं है। ब्राम्हण सबसे ऊँचा इसलिये है क्योंकि वह सबसे योग्य और राष्ट्र का सबसे अधिक सेवक है। शरीर में सिर का सब अंगों से अधिक महत्व है, क्योंकि सिर पर शरीर का जीवन सबसे अधिक अवलम्बित है, इसी प्रकार राष्ट्र में ब्राम्हण का महत्व सबसे अधिक इसलिये है कि उस पर जीवन की उन्नति सबसे अधिक अवलम्बित है।

वर्ण का आधार व्रत–निश्चय –

वेद का यह ब्राम्हणादि वर्ण विभाग योग्यता, सेवा, सहयोग और प्रेम पर आश्रित है। इसमें घृणा औ मानसिक तुच्छता को स्थान नहीं है।

इस प्रकार इस मंत्र में जो उपदेश दिया गया है उसका निष्कृष्टार्थ यह है कि प्रत्येक राष्ट्र का जन समाज ब्राम्हण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में विभक्त होना चाहिये। जो लोग भांति भांति के विद्या विज्ञानों के क्षेत्र में जीवन लगाकर ज्ञान के संग्रह और संगृहीत ज्ञान के प्रचार में लगे रहेगे तपस्या का जीवन व्यतीत करेंगे, सहनशील, स्वार्थहीन और परोपकारी होंगे वे ब्राम्हण कहलायेंगे। जो लोग अपने अन्दर बलवीर्य का विशेष सम्पादन करेंगे और इस संचित शक्ति को राष्ट्र के लोगो की अन्याय, अत्याचार से रक्षा करने में खर्च करेंगे – उन्हें क्षत्रिय कहा जायेगा। जो लोग अपना जीवन भांति भांति के व्यापार व्यवसाय करके भोजन, वस्त्र आदि प्राकृतिक सम्पत्ति उत्पन्न करने और इस सम्पत्ति द्वारा राष्ट्र के लोगो का भरण पोषण

करने में लगायेंगे – उन्हे वैश्य कहा गया है जो लोग न तो ज्ञान संचय और ज्ञान प्रचार का काम करेंगे और न ही अन्याय अत्याचार से राष्ट्र के लोगो की रक्षा और न प्राकृतिक सम्पत्ति की उत्पत्ति करके उनके भरण पोषण का काम कर सकेंगे, केवल ब्राम्हणादि की सेवा कर सकेंगे – उन्हे शूद्र कहा जायेगा। दूसरे शब्दों में जो लोग राष्ट्र के अज्ञान से पैदा होने वाले कष्टों को दूर करने का व्रत लेंगे वे ब्राम्हण कहलायेंगे, जो लोग अन्याय से होने वाले राष्ट्र के कष्टों को दूर करने का व्रत लेंगे, वे क्षत्रिय कहलायेंगे, जो लोग सम्पत्ति के अभाव से होने वाले राष्ट्र के कष्टो को दूर करने का व्रत लेंगे, वे वैश्य कहलायेगे। और जो लोग इन तीनों कामों में से कोई भी विशिष्ट कर्म न कर सकेंगे केवल इन कामों को करने वाले लोगो की सेवा ही कर सकेंगे – उन्हे शूद्र कहा जायेगा। इन चारों प्रकार के लोगों को परस्पर प्रेम से मिलकर रहना चाहिये। और सब को अपने आपकों राष्ट्र के समाज शरीर का अंग समझना चाहिये। ऐसा समझकर उन्हें सामूहिक उन्हें जीवन की उन्नति के लिये निरन्तर उद्योगशील रहना चाहियें।

वर्ण व्यवस्था का प्रतिपादक एक और मंत्र –

इस प्रसंग में ऋग्वेद का निम्न मंत्र भी देखने योग्य है –

क्षत्राय त्वं श्रवसे महीया इष्टये त्मर्थमिव त्वमित्यै।

विसदृशा जीविताभि प्रचक्षे उषा अजीगर्भुवानानि विश्वा ।। ऋग् 1–113–6

सब जगत अन्धकार से निगला हुआ पड़ा था। प्रातः काल उषा आई और उसने जगत को उगलकर अन्धकार से बाहर कर दिया। उषा ने जगत को अन्धकार से बाहर क्यों कर दिया ? इसलिये कि विभिन्न स्वभाव वाले लोगो को प्रकाश मिल सकें, जिससे वे अपने अपने कामों को भली भांति कर सकें। कोई क्षत्र कर्म कर सकें। कोई यज्ञ के कर्म का सके। कोई धन सम्पत्ति के कर्म कर सके, और कोई चल फिर कर साधारण सेवा आदि के कर्म कर सके।

मनुष्यों की चार मुख्य प्रवृत्तियां –

चतुर्धा वृत्तियाँ –

मंत्र कहता है कि प्राणी विसदृश होते है। वे एक समान नहीं होते। उनके स्वभाव भिन्न भिन्न होते है। और स्वभावों की भिन्नता के कारण वे कर्म भी भिन्न भिन्न प्रकार के

करते है। मनुष्य स्वभाव की भिन्नता के कारण किस प्रकार के भिन्न भिन्न काम किया करते है इसका एक सामान्य वर्गीकरण मंत्र के पूर्वाद्ध में कर दिया गया है।

रक्षावृत्ति के लोग–

कुछ लोगो को यश से प्रेम होता है। क्षत्र शब्द वैदिक साहित्य में बल और राष्ट्र अर्थो में प्रयुक्त होता है। क्षत्रिय अर्थ में भी यह शब्द के और दूसरे संस्कृत साहित्य में खूब प्रयुक्त होता है। यहां शब्द "श्रवः" का विशेषण होकर आया है। श्रवः यश को कहते है। इसलिये क्षत्रं श्रवः का अर्थ होगा बल सम्बन्धी, राष्ट्र सम्बन्धी और क्षत्रियों सम्बन्धी यश। कुछ लोगो को बल के, राष्ट्ररक्षा के, क्षत्रियोचित कार्य करके यशस्वी बनने की इच्छा होती है। क्षत्रिय शब्द का अर्थ ही यह होता है – जो क्षत्र अर्थात् राष्ट्र रक्षा और बल वीरता के कार्यो में निपुण हो।

सत्य वृत्ति के लोग–

कुछ लोगो को इष्टियों से प्रेम होता है भांति भांति के यज्ञ यागादि कर्मो मं अभिरूचि होती है। यज्ञ शब्द बहुत विस्तृत भाव को अपने भीतर लिये हुये है। एक तो यज्ञ शब्द धार्मिक क्रियाकलाप का सूचक है। दूसरे यह शब्द अपने धात्वर्थ के बल से जितने भी देवपूजा, संगतिकरण और दान के कार्य है उन सबका बोधक है। देवपूजा से परमात्मा की आराधना और उपासना तथा अग्नि जल, विद्युत आदि देवों के गुणों का परिज्ञान और उससे समुचित उपयोग लेना अभिप्रेत होता है। ज्ञानी विद्वान पुरूषों की सेवा में उपस्थित होकर उनका मान सत्कार करना तथा उनसे विविध विद्या विज्ञानों को सीखना भी देवपूजा से अभिप्रेत होता है। संगतिकरण से विद्युत जल आदि पदार्थो के मेल से तरह तरह के पदार्थो का निर्माण करने के लिये शिल्पकलायें स्थापित करना, राष्ट्र के लाभ के लिये मिलकर चलाये जाने वाले भांति भांति के विद्यालय और दूसरे संगठनों की स्थापना करना, विविध बातों के विचार और प्रचार के लिये भांति भांति की सभा समितियों की रचना करना आदि लोकोपकारी कामों का ग्रहण होता है। दान से अपनी विद्या आदि शक्तियों को कल्याण की भावना से अन्यों को अर्पण करना अभिप्रेत होता है। मंत्र का इष्टि शब्द इन सब भावों का द्योतक हे। कुछ लोगो की प्रवृत्ति स्वभाव से इष्टिमय, यज्ञमय होती है। उनकी प्रवृत्ति स्वभाव से धर्मप्रवण होती है। उनका चित्त अग्निहोत्रादि यज्ञ कर्मो में लगता है। परमात्मा की आराधना और उपासना में उनकी अभिरूचि होती है। बे विद्वानों की संगति में जाकर भांति भांति के

विद्या विज्ञानों को सीखते है। अग्नि , वायु, जल विद्युत आदि जड़ देवों के गुणों का परिज्ञान करके उनसे अनेक प्रकार के उपयोग लेने के उपाय सोचने में उनका चित्त लगता है। लोगो के भले के लिये वे विविध विधाओं और विचारों का प्रचार करने के लिये गुरूकुलों और दूसरी संस्थाओं का निर्माण करते है। जो कुछ भी धर्मभावना और विद्या आदि शक्तियां उनके पास होती है उनका वे दूसरों को दान करने के लिये सदा तत्पर रहते है।

वैश्यवृत्ति के लोग –

कुछ लोगो इनसे भिन्न एक तीसरी प्रवृत्ति के होते है। उनका चित्त अर्थ की ओर जाता है। वे भांति भांति की धन सम्पत्ति कमाना चाहते है। इसके लिये वे तरह तरह के व्यापार व्यवसायों को अवलम्बन करते है।

सेवावृत्ति के लोग –

एक चौथे प्रकार के लोग होते है। उनमें ऊपर कही गई तीनों प्रवृत्तियों में से कोई भी नहीं होती। वे विशेष योग्यता से सम्बन्ध रखने वाला कोई भी कार्य नही कर सकते। उनके जीवन में साधारण इति होती है। विशेष कौशल उनमें किसी काम के लिये नही होता। सेवा आदि के साधारण काम विशेष कौशल उनमें किसी काम के लिये नहीं होता। सेवा आदि के साधारण काम ही जिनमें सामान्य चलना फिरना ही अपेक्षित होते है। वे लोग कर सकते है जिन कामों में शरीर और मन की विशेष कौशलयुक्त गति की आवश्यकता होती है, उन कामो को वे नहीं कर सकते है।

मनुष्य की प्रवृत्तियों का सामान्य वर्गीकरण इन चार विभागों में ही जाता है। जो पहली प्रवृत्ति के लोग है उन्हे क्षत्रिय कहा जाता हे। जो दूसरी प्रवृत्ति के लोग है, उन्हे ब्राम्हण कहा जाता है, जो तीसरी प्रवृत्ति के लोग है उन्हे वैश्य कहा जाता है। और जो लोग चौथी प्रवृत्ति के लोग है उन्हे शूद्र कहा जाता है। पुरूष सूक्त के ऊपर उदधृत मंत्र में ब्राम्हणादि नामों और उनके मुखादि के साथ रूपक से पुरूष समाज के जिस विभाग की ओर निर्देश किया गया था, उसी को मनुष्यों की स्वाभाविक चार प्रवृत्तियों के वर्णन द्वारा प्रस्तुत मंत्र में प्रकारन्तर से बताया गया है। इन दोनो मंत्रों के समन्वयात्मक अध्ययन ये यह स्पष्ट हो जाता है। कि वेद में समाज के जिस ब्राम्हणादि विभाग की कल्पना की गई है वह मनुष्यों की प्रवृत्तियों के स्वाभाविक भेद पर आश्रित है और इसलिये वह पूर्ण वैज्ञानिक हे। यदि मनुष्यों को उनकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को ध्यान में रखकर शिक्षा दी जायेगी। और उन्हे

राष्ट्र की सेवा के लिये तैयार किया जायेगा। तो राष्ट्र और व्यक्ति दोनो का ही बहुत अधिक कल्याण होगा।

वर्णवरण पर आधृत, जन्म पर नहीं –

वैदिक धर्म में समाज की इस ब्राम्हाणादि विभाग मे की जाने वाली व्यवस्था को वर्णव्यवस्था कहते है। वर्ण का अर्थ होता है जो चुने अथवा चुना जाये। ब्राम्हण ज्ञानार्जन और ज्ञान प्रचार को अपने जीवन के लक्ष्य के रूप में चुन लेता हे, इसलिये वह ब्राम्हण वर्ण कहलाता है। अथवा ब्राम्हण के ज्ञानार्जन और ज्ञान प्रचार रूप ब्राम्हणत्व धर्म ब्राम्हण द्वारा अपने जीवन के लक्ष्य के रूप में चुने जाते है। इसलिये ब्रम्हण के धर्मों को वर्ण कहा जाता है। और इन चुने हुये धर्मो वर्णमाला होने से उसको ब्राम्हण कहा जाता है। इसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य शूद्र भी वर्ण कहे जाते है। ब्राम्हणादि के साथ वर्ण शब्द के प्रयोग का यह भाव होता है कि उन्हे सदा स्मरण रहे कि इन्होने अपने जीवन का एक विशेष लक्ष्य चुना है और इसलिये सदा उन्हे उस लक्ष्य की पूर्ति में यत्नशील रहना चाहिये। इस शब्द के प्रयोग ये यह भी स्पष्ट ध्वनित होता हे। कि वर्ण व्यवस्था जन्म पर नहीं प्रत्युत गुण कर्म पर आश्रित है। जो व्यक्ति जिस वर्ण के गुण कर्मो का चुनाव अपने जीवन के लक्ष्य के रूप में कर लेगा,उसका वही वर्ण हो जायेगा। इस प्रकार वर्ण व्यवस्था का आधार समाज की सेवा की योग्यता है, किसी विशेष वंश में उत्पन्न होना नही।

कई लोग वर्णव्यवस्था पर यह संक्षेप करते है कि यह मनु आदि लोगो को अपनी कल्पित वस्तु है – इसका वेद में विधान नहीं हैं वेद में ब्राम्हाणादि के साथ कही भी वर्ण शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। इनके अनुसार वेद में दो हीं वर्ण है। एक आर्य और दूसरा दस्यु। क्योंकि वेद में वर्ण शब्द का प्रयोग आर्य और दस्यु के साथ ही हुआ है। जितने अच्छे लोग है वे आर्यवर्ण है, और जितने दुष्ट, अत्याचारी लोग है वे दस्यु वर्ण है। मनुष्य समाज के बस यही दो विभाग होने चाहिये इससे अधिक विभागों में मनुष्य समाज को बांटना उसका अहित करना है, ऐसा इन लोगो का कहना है।

यह ठीक है कि वेद में कही भी ब्राम्हणादि के साथ वर्ण शब्द का सीधा प्रयोग नहीं हुआ है। परन्तु इतने से वेद में वर्ण व्यवस्था का विधान नहीं है – ऐसा नहीं कहा जा सकता। प्रकारान्तर से वेद में ब्राम्हणादि के साथ वर्ण शब्द के प्रयोग की सिद्धि हो जाती है।

मनुष्य समाज के दो विभाग –

वेद का निम्न मंत्र है –

विजानीह्यार्यान् ये च दस्य वो बर्हिष्मते रन्धया शासद्रवतान।

शाकी भव यजमानस्य चोदिता विश्वेत्ता ते सधमादेषु चाकन।।

में मनुष्य समाज के दो विभाग किये गये है – 'आर्य' और 'दस्यु'। मंत्र का अर्थ इस प्रकार है –

"हे इन्द्र। आप आर्यो को और जो दस्यु हे उनको जाने। नियमो का भंग करने वाले दस्युओं को, उनपर शासन करते हुये आप राष्ट्र यज्ञ में लगे हुये हम प्रजाजनों के लिये, नाश कर दो। और इस प्रकार हे शक्तिशाली इन्द्र, आप राष्ट्रयज्ञ में लगे हुये हम प्रजाजन को उत्तम कर्मो में प्रेरणा करने वाले हो। आपके समग्र रक्षा कर्मो को हे इन्द्र हम मिलकर आनन्द देने वाले अपने व्यवहार यज्ञों में प्राप्त करना चाहते है।"

मंत्र में प्रजाजन स्पष्ट रूप से इन्द्र कह रहे है – कि हे महाराज। प्रजा में दो प्रकार के लोग हे एक आर्य और एक दस्यु। जो दस्यु है उन्हे आप दण्डित कीजिये और हमारी रक्षा कीजिये। हम आर्य है। इसलिये हमारी रक्षा कीजिये। दस्यु किस प्रकार के लोगो को कहते है यह भी मंत्र में, उन्हे अव्रत कहकर स्पष्ट कर दिया गया है। जो समाज के व्रतो का, नियमों ओर कर्मो का विघात करते है। वे दस्यु है। इसके विपरीत जो लोग राष्ट्र के दो भेद– एक आर्य अच्छे लोग और दूसरे दस्यु बुरे लोग स्पष्ट सिद्ध हो गये ।

आर्य के साथ वर्ण शब्द का प्रयोग –

अब इस प्रसंग में वेद का निम्न मंत्र देखिये –

हत्वी दस्यून आर्य वर्णमावत्। ऋग् 3–34–9

अर्थात – "इन्द्र दस्युओं को मारकर आर्य वर्ण की रक्षा करता है"।

इस मंत्र में भी दस्यु लोगों को दण्ड के योग्य बताया गया है और आर्य लोगो को रक्षा के योग्य कहा गया है। साथ ही इस मंत्र में आर्य के साथ वर्ण शब्द का प्रयोग किया गया है। समग्र वेद में यही आर्य के साथ वर्ण शब्द का प्रयोग हुआ है।

इस मंत्र में ध्यान में रखकर पुरूष सूक्त के ऊपर वर्णित ब्राम्हणोस्य मुखमासीद। मंत्र पर एक दृष्टि फिर डालिये। पाठक देख चुके है कि पुरूष सूक्त में पुरूष अर्थात प्रभु द्वारा समग्र सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है। उसी प्रसंग में मनुष्य समाज की उत्पत्ति का भी वर्णन हुआ है। और इस ब्राम्हणोस्य मुखमासीद मंत्र द्वारा वहां पर मनुष्य समाज के ये चार विभाग

किये गये है। इससे स्पष्ट है कि वेद की मनुष्य समाज के ये चार अभीष्ट है। इधर ऊपर के दोनो मंत्रों में हमने अभी देखा कि वेद की सम्मति में, मनुष्यों में दस्यु लोग मारे जाने योग्य है और आर्यलोग रक्षा किये जाने योग्य है। पुरूष सूक्त में कहा गया ब्राम्हणादि का विभाग वेद का अपना बताया हुआ विभाग है। इसलिये स्पष्ट है कि ब्राम्हणादि लोग दस्यु से भिन्न है – क्योंकि दस्यु दण्डनीय है और ब्राम्हणादि रक्षणीय है। इसलिये रक्षणीय होने से आर्यलोग तथा ब्राम्हणादि लोग एक ही हो जाते है। अर्थात ब्राम्हणादि लोग आर्य लोग है। परिणामतः ब्राम्हणादि की वर्ण संज्ञां स्वतः सिद्ध है।

दस्यु कोई वर्ण नहीं –

यह तो हुआ आर्यवर्ण के सम्बन्ध में। अब लीजिये दस्युवर्ण को। जो लोग यह कहते है कि वेद में आर्य वर्ण के विपरीत दस्यु वर्ण का विधान भी है वे सर्वथा भ्रान्त है। वेद मे कही भी दस्यु शब्द के साथ वर्ण शब्द का प्रयोग नहीं हुआ।

वेद के निम्न मंत्र *'यो दासं वर्णमधरं गुहाकः।'* ऋग् 2।12।4 अथर्व 20।34।4 मे दास के साथ वर्ण शब्द का प्रयोग हुआ है। ये लोग दास औ दस्यु को पर्यायवाची समझकर कह देते है कि वेद में दस्यु के साथ वर्ण शब्द का प्रयोग हुआ है, और कि आर्यवर्ण के मुकाबले में दस्यु वर्ण की सत्ता वेद में मानी गई है। दस्यु और दास को पयार्यवाची समझना भारी भूल है। इस भूल का आधार सायणाचार्य का भाष्य है। सायणाचार्य ने दो एक स्थलों को छोडकर प्रायः सर्वत्र दास का अर्थ दस्यु किया है, परन्तु वेद में दास का अर्थ सर्वत्र दस्यु नहीं होता। वेद में कितने ही स्थलों पर दास का अर्थ सेवक या शूद्र होता है। वेद में दास शब्द के सेवक अथवा शूद्र अर्थ को देखकर ही मनु आदि ने शूद्रों को अपने नाम के साथ दास शब्द जोड़ने का विधान किया प्रतीत होता है। ऋषि आनन्द ने भी अपने वेदभाष्य में अनेक स्थानों पर दास का अर्थ सेवक शूद्र किया है। स्वंय वेद में ही कई सलि ऐसे है जहां दास का अर्थ सेवक ही करना पडेगा। वहां दस्यु अर्थ नहीं किया जा सकता। तदथया अरं न दासों मीढुषे कराणि। अर्थात हे वरणीय भगवन्। जैसे दास स्वामी की भक्ति करू। इस मंत्र में स्पष्ट ही दास का अर्थ सेवक है। दस्यु अर्थ वहां संगत नहीं हो सकता। सायण को भी यहां दास का अर्थ भृत्य अर्थात सेवक करना पडा। इसी प्रकार ऋग्वेद के चतुर्थमण्डल के 16 वें सूक्त से लेकर 24 वें सूक्त तक के अन्तिम मंत्र के अन्तिम चरण में *''स्याम रथ्यः सदासनः''* शब्द आते है। इससे पूर्व में कहा गया है कि हे प्रभो। हमने आपकी वेदोक्त स्तुति

कर ली है। हे भगवन। आपकी स्तुति के कारण हम रथों वाले और दासों से युक्त हो जाये। यहा दास का अर्थ, दस्यु, नहीं, सेवक ही करना होगा। कोई भी भगवान् से अपने घर में दस्यु भेजने की प्रार्थना नहीं कर सकता। इसी भांति ऋग् 8।51।9 में यें शब्द आते है –

यस्यायं विश्व आर्यो दासः शेवधिपाः। यह वाक्य इन्द्र का विशेषण है। इसका अर्थ है – "जिस इन्द्र के आर्य और दास शेवधिपा है खजाने की रक्षा करने वाले है"। आर्य और दास दोनो मिलकर इन्द्र के परमेश्वर के शेवधि की, खजाने की रक्षा करते है। यहां भी दास का अर्थ दस्यु नहीं हो सकता। दस्यु रक्षा नही करता, विनाश करता। दास का अर्थ यहां सेवक, शूद्र ही करना होगा। आर्य का अर्थ यहां ब्राम्हण, क्षत्रिय, और वैश्य वर्ण के लोग करना होगा। वो आर्य में ऊपर प्रदर्शित रीति से चारों वर्ण आ जाते है। परन्तु यहां शूद्र का वाचक दास शब्द अलग आ जाने से, आर्य का अर्थ शेष तीन वर्णो के लोग ही करना होगा।

दास शब्द के दो अर्थ –

इन और इन जैसे कितने ही अन्य स्थलों में दास का अर्थ दस्यु किसी प्रकार भी नहीं हो सकता। इन स्थलों में यह शब्द सेवक का शूद्र का ही वाचक है। वस्तुत वेद में दास शब्द का दो प्रकार का प्रबोध है। एक दास शब्द में कर्तरि प्रत्यय है। यः दस्यति स दासः – जो दूसरों का क्षय करता है वह दास है। इस अर्थ में यह शब्द दस्यु का वाचक होता है। और दूसरों दास शब्द मे कर्माणि प्रत्यय है। यः दस्यते स दासः' – जो क्षीण होता है वह दास है। इस अर्थ में यह शब्द सेवका का शूद्र का वाचक होता है। वास्तव में दस्यु और शूद्र के वाचक दास शब्द दो सर्वथा भिन्न शब्द है। लिखने में इनकी आकृति और सुनने में इनकी ध्वनि एक जैसी है। परन्तु प्रत्यय भेद के कारण ये सर्वथा भिन्न दो शब्द है। कहां दास का अर्थ दस्यु करना, और कहां सेवक निर्णय प्रकरण को देखकर होगा। इस मर्म को न समझने के कारण कुछ लोग वेद के दास और दस्यु को एक ही समझने की भूल कर बैठे है।

दास–वर्ण का अर्थ शूद्र–वर्ण –

वेद के "यो दासं वर्णमधंर गृहाकः" इस मंत्र खण्ड में दस्यु वर्ण की सिद्धि नहीं हो सकती। इस मंत्र खण्ड का शब्दार्थ इस प्रकार है –

"(यः) जो इन्द्र बुद्धि के कारण नीचे पुरूष को दास वर्ण कर देता है।" इस प्रकार इस मंत्र में यह बताया गया है कि शूद्र किस प्रकार के व्यक्ति को कहते है। जो बुद्धि में नीचा है, जिसमें ज्ञान शक्ति कम है – ऐसे पुरूष को दास या शूद्र वर्ण का व्यक्ति कहा जाता है।

किसी विशेष वंश मे उत्पन्न होने से कोई व्यक्ति शूद्र वर्ण का नहीं होता। शूद्रत्व की निश्चायक ज्ञानशक्ति की हीनता है, अतः किसी भी वंश का व्यक्ति ज्ञान हीनता की अवस्था में शूद्र कहलायेगा।

इस मंत्र में दास का अर्थ दस्यु भी नहीं हो सकता क्योंकि यहां इसके साथ वर्ण शब्द का प्रयोग हुआ है। वर्ण शब्द में चुनने का भाव है। कोई समाज अपने मे से किसी व्यक्ति को दस्युत्व के चुनाव की स्वीकृति नहीं दे सकता और न दस्युत्व कोई चुनाव करने योग्य वस्तु ही है। इसलिये जीवन के सामाजोपयोगी लक्ष्य के चुनाव का बोधक कार्य लोगो के साथ प्रयुक्त होने वाला वर्ण शब्द वेद में दस्यु के लिये नहीं प्रयुक्त हो सकता था। इस प्रकार दास के साथ वर्ण शब्द के प्रयोग की ध्वनि भी यही है कि यहां दास शब्द,दस्यु के लिये नहीं प्रयुक्त शूद्र के लिये आया है।

इस भांति वेद का गम्भीर अध्ययन करने पर यह स्पष्ट परिणाम निकलता है कि वेद के अनुसार, मनुष्य जाति के दो भेद है – आर्य और दस्यु। आर्यो के चार भेद है – ब्राम्हण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। आर्य लोग वर्ण के लोग हैं ये लोग, स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार समाज की यथोचित सेवा करने की दृष्टि से, ब्राम्हण आदि की वृत्ति का वरण करके वर्णव्यवस्था की रीति से चार विभागों में बंटकर रहते है। फिर इन आर्यो मे दो भेद हो जाते है – आर्य वर्ण और दास या शूद्रवर्ण। ब्राम्हण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन को आर्यवर्ण कहते है और शूद्र को दास या शूद्र वर्ण कहते है।

ब्राम्हणदि अतिविशिष्ट आर्य – शूद्र की तुलना में ब्राम्हण, क्षत्रिय और वैश्य को आर्य क्यों कहते है। इसका समाधान वेद के निम्न मंत्र. में दिया गया है – तिस्त्रः प्रजा आर्या ज्योतिरग्राः। अर्थात तीन प्रकार की प्रजायें आर्य कहलाती है। क्योंकि वे ज्योति में अर्थात ज्ञान के प्रकाश में अग्रगामी होती है।

पुरूष सूक्त में जैसा कि हम ऊपर देख आये है, अच्छे लोगो के ब्राम्हण आदि चार वेद भेद किये गये है। उनमें से पहले तीन ज्ञान में अधिक होने के कारण आर्य कहलाते है, और शूद्र के सम्बन्ध में अभी ऊपर हम देख ही आये है "यो दासं वर्णमधंर गुहा क" – जो बुद्धि में, ज्ञानशक्ति में, हीन है उसका दास या शूद्र वर्ण है।

दयानन्द और आर्य, दस्यु शब्द –

वेद के इसी आशय को ध्यान में रखकर ऋषि दयानन्द ने अपने महान ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में लिखा है कि –

''श्रेष्ठो का नाम आर्य, विद्वान देव और दुष्टों का दस्यु अर्थात डाकू, मूर्ख नाम होने से आर्य और दस्यु दो नाम हुये।..................आर्यो में ब्राम्हण,क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार भेद हुये। विद्वानों का नाम आर्य, और मूर्खो का नाम शूद्र और अन्यर्य अर्थात अनाड़ी नाम हुआ।'' एक दूसरे स्थान पर उसी ग्रन्थ में लिखा है – आर्य नाम धार्मिक, विद्वान, आप्तपुरूषों का इनसे विपरीत जनो का नाम दस्यु अर्थात डाकू, दुष्ट अधार्मिक और अविद्वान है। तथा ब्राम्हण, क्षत्रिय, वैश्य का नाम आर्य और शूद्र का नाम अनार्य अर्थात अनाड़ी है''

शूद्र करूणा का पात्र है, घृणा का नहीं –

वेद में जैसा कि हम ऊपर देख चुके है ''किसी घृणित वंश विशेष में उत्पन्न होने के कारण किसी व्यक्ति को शूद्र नही कहा जाता। जिसमें ज्ञानशक्ति की कमी है वह शूद्र है, भले ही वह किसी उच्च वंश में क्यों न उत्पन्न हुआ हों। शूद्र किसी प्रकार की घृणा का पात्र नहीं, प्रत्युत वह तो अनुकम्पा, दया और प्रेम का पात्र है दास और शूद्र नामों से यही बात प्रकट होती है। दास का शब्दार्थ हम अभी देख ही चुके । जो क्षीण है, ज्ञानादि गुणों से हीन है वह दास है। दास होने के कारण क्षीण होने के कारण ही वह शूद्र है। शूद्र का शब्दार्थ है – शुचं द्रावयति'' जिसे देखकर दूसरों के मन में दया उत्पन्न हो कि देखों बेचारा कुछ भी ज्ञान की योग्यता की बात नहीं सीख सका। अतः करूणा का पात्र है, घृणा का नहीं। इसीलिये वेद में अन्यत्र कहा गया है –

रूंच नो धेहि ब्राम्हाणेषु रूचं राजसु नस्कृधि।
रूचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रूचा रूचमं ।। यजुर 18–48

''हे परमात्मन! आप ब्रम्हणों में हमारा प्रेम कीजिये क्षत्रियों में हमारा प्रेम कीजिये, वैश्यों में हमारा प्रेम कीजिये और शूद्रो मे हमारा प्रेम कीजिये, आप प्रेम से मेरे अन्दर प्रेम उत्पन्न कीजिये।''

वर्तमान काल में जन्म पर आश्रित जो वर्ण व्यवस्था भारतीय हिन्दू समाज में प्रचलित हो गई है और उसमे भी शूद्रो के साथ जो घृणा के भाव पाये जाते है, वह सब वेद के रहस्य को न समझने के कारण है।

इस कारण को समाप्त करते हुये हम वर्ण व्यवस्था के सम्बन्ध में एक बात और कह देना आवश्यक समझते है। यदि थोडी देर के लिये यह मान भी लिया जाये कि वेद में ब्राम्हण आदि के साथ वर्ण शब्द के प्रयोग की सिद्धि नहीं होती तो तब भी, इससे यह तो नहीं सिद्ध होता कि वेद में ब्राम्हाणादि वर्गो मे समाज को विभक्त करने का विधान नहीं है। पुरूष सूक्त में, और अन्यत्र ब्राम्हण आदि वर्णो मे, समाज को विभक्त करने का वेद में स्पष्ट उल्लेख है। ब्राम्हण आदि वर्णो में समाज को विभक्त करके, व्यक्ति और राष्ट्र की उन्नति की दृष्टि से, समाज की व्यवस्था वेद में न तो ब्रम्हणादि के साथ वर्ण शब्द का प्रयोग ही उपलब्ध है और न ही ब्राम्हण, क्षत्रियादि विभाजन विद्यमान है। ब्राम्हणादि के साथ वर्ण शब्द का प्रयोग पीछे से ऋषियों ने जोडकर समाज की इस ब्राम्हणादि की व्यवस्था को वर्ण व्यवस्था का नाम दे दिया" तो भी वर्णव्यवस्था के तत्वज्ञान की कोई हानि नहीं होती। वर्ण एक सुन्दर भाव का द्योतक शब्द है। यदि वर्ण शब्द का प्रयोग पीछे से ऋषियों और आचार्यो ने प्रचलित किया हो तो भी हमें उसको ग्रहण कर लेना चाहिये, और ब्राम्हणादि की वेद विदित व्यवस्था को व्यवस्था को वर्ण व्यवस्था के नाम से स्वीकार कर लेना चाहिये। क्योंकि वर्ण व्यवस्था का सिद्धान्त तो वेद में विद्यमान है ही। वैसे हम ऊपर ब्राम्हणादि के साथ वर्ण शब्द के प्रयोग की सिद्धि वेद के प्रमाणों द्वारा कर आये है अत वेद के आधार पर ही इस व्यवस्था को वर्ण व्यवस्था कहा जाना उपयुक्त है।

ब्राम्हण

वेदो की अन्तःसाक्षी –

पुरूष सूक्त के ब्राम्हणोस्य मुखमासीद मंत्र में ब्राम्हणादि वर्णो को जो पुरुष समाज का मुखादि कहा गया है, उससे इन वर्णो के गुणों और कर्तव्यों जो प्रकाश पडता है। उसे हम ऊपर प्रथम खण्ड में देख चुके है। उस मंत्र के रूपक से ब्राम्हणादि चारों वर्णो के गुणों और कर्तव्यों का एक अति संक्षिप्त और सामान्य बोध होता है। वहां जो संक्षित और सामान्य गुण और कर्तव्य निर्दिष्ट हुये है उनका वेद में और दूसरे आर्य साहित्य में बहुत विस्तृत और विशद रूप से वर्णन किया गया है। वेदेतर साहित्य में जो वर्णन हुआ है उसे यहां दिखाने का प्रंसग नहीं है। वह पाठकों को उन ग्रन्थों में स्वंय देखना चाहिये। उसमें पाठकों को वेद के भावो की बडी विस्तृत और सुन्दर व्याख्या मिलेगी। यहां हम स्वय वेद में इन वर्णो के गुणों और कर्तव्यों के सम्बन्ध में स्थान स्थान पर जो कुछ कहा गया है उसे ही अति संक्षेप में

देखेंगे। सबसे पहले ब्रम्हण वर्ण को लीजिये। ब्राम्हण के सम्बन्ध में हमें वेद में जगह जगह पर बहुत कुछ कहा हुआ मिलता है। उसके गुणो और कर्तव्यों को बताने वाले इन मंत्रों मंत्रखण्डो पर विचार कीजिये।

ब्राम्हणों को वेदज्ञ होना चाहिये –

अनेक स्थानों पर वेद में ऐसे निर्देश मिलते है जिनसे यह सिद्ध होता है कि ब्रम्हणों को वेदज्ञ होना चाहिये। इस सम्बन्ध में निम्न कुछ मंत्र देखिये –

1. ब्राम्हणासः सोमिनों वाचमश्रत ब्रम्हा कृण्डवन्त परिवत्सरीणम्। ऋग् 7–103.8
2. ह्रदा तष्टेषु मनसों जवेषु यद्ब्राम्हणाः संयजन्तें सखायः ।
   अत्राह त्वं वि जहुर वेद्याभिरोह ब्राम्हणों विचरन्त्यु त्वे। ऋग् 10–71.8
3. आ ब्रम्हान् ब्राम्हणो ब्रम्हावर्चसी जायताम्।। यजुर 22–22
4. ब्रम्हाणे ब्राम्हणम्।। यजुर 30–5
5. ये वृहत्सामानमांगिसरमार्वयन्ब्राम्हणं जनाः।। अर्थव 5–19–2
6. ब्रम्हाणस्पते............त्वं यदीशानों ब्राम्हणा।। ऋग् 2–24–15
7. बृहस्पतिः प्रथमं जायमानों महो ज्योतिषः परमें व्योमन्
   सप्तास्यस्तुविजातों रवेण वि सप्तरश्मिधमत्तमांसि।। अर्थव 20–88–4
8. अपः सिषासन्त्स्वरप्रतीतों बृहस्पतिर्हन्त्यमित्रमर्कैः।। ऋग 6–73–3
9. करद्ब्रम्हाणे सुतरा सुगाधा। ऋग 7–97–8
10. बृहस्पतिः सामभिर्ऋकवो अर्चतु।। ऋग 10–36–5
11. इमां धिंय सप्तशीर्ष्णी पिता न ऋतप्रजातां बृहतीमविन्दत्।। अथर्व 20–91–1
12. शचिमकैर्वृहस्पतिमध्वरेषु नमस्यत।। ऋग 3–62–5
13. प्रसप्तगुमृतधीतिं सुमेधा बृहस्पतिम्। ऋग 10–47–6
14. बृहस्पते ब्रम्हाणा याह्यर्वाड्।। अथर्व 5–26–12

इन मंत्रों का शब्दार्थ क्रम से इस प्रकार है –

1. ब्राम्हण लोग वर्ष भर वेद का अध्ययन करते है।

मंत्र में वेद के लिये ब्रम्हा शब्द प्रयुक्त हुआ है कि सारे वैदिक साहित्य में बह्म शब्द का एक अति प्रसिद्ध अर्थ वेद होता है। यह उस साहित्य का प्रत्येक विधार्थी भली भांति

जानता है। मंत्र में ब्रम्हा का विशेलषण 'परिवत्सरीणम्' दिया गया है। जिसके सिद्ध होने मे सारा साल लगता हो। अध्ययन करने के लिये मंत्र. में कृ धातु का प्रयोग हुआ है। कृ धातु का अर्थ वास्त्व में करना है। यह एक क्रिया सामान्य को बताने वाली धातु है। वेद की उत्पत्ति परमात्मा से हुई। यह वेद के पुरूष सूक्त और दूसरे स्थलों में स्पष्ट कह दिया गया है। इसलिये यहां ब्रम्हणों द्वारा वेद के करने का अर्थ उनके द्वारा वेद की रचना नहीं हो सकता इसका अर्थ ब्राम्हणों द्वारा वेद का अध्ययन ही हो सकता है। ब्राम्हण ऐसे वेद का अध्ययन करते है जो परिवत्सरीण है, जो साल भर वेद का अध्ययन करते है।

2. समान ज्ञान वाले ब्राम्हण लोग ह्रदय अर्थात बुद्धि द्वारा निश्चय किये हुये वेद के विषयभूत ज्ञान का वेदार्थो के निरूपण के लिये एकत्र होते है। तब इस ब्राम्हण संघ में किसी को विद्याओं के कारण निश्चय ही पीछे छोड देते है। और कोई कोई कह है। ब्रम्हा अर्थात वेद की ऊहापोह जिन्होने ऐसे विद्यमान ब्राम्हण वेद ज्ञान में विचरण करते है।

जिस सूक्त का यह मंत्र है उसमें बृहस्पति परमात्मा की प्रेरणा से ऋषियों के अन्तकरण में वेद के प्रकाशित होने का वर्णन है। और साथ ही यह भी वर्णन है कि जो बुद्धिमान और परिश्रमी लोग होते है। वे इस वेदज्ञान में पारंगत हो जाते है। और जो ऐसे नही होते वे वेद को पढ सुनकर भी उसे वस्तुत नहीं जानते। उसी प्रसंग में प्रस्तुत मंत्र मे आया है। ज्ञानी ब्रम्हण लोग वेद के विषयों का विचार करने के लिये सभाओं में एकत्र होते है। जो अधिक विद्यावान और वेद में ऊहापोह करने वाले विद्वान होते हे वे विचार के प्रत्येक क्षेत्र में यथेष्ट विचरण करते है। जो ऐसे नहीं होते वे पिछड जाते है।

3. "हे परमात्मन् हमारे राष्ट्र में ऐसे ब्राम्हण हो जिनमें ब्रह्मवर्चस् हो"

ब्रह्मवर्चस् का अर्थ होता है कि ब्रहा अर्थात वेद विद्या के अध्ययन से प्राप्त होने वाला ज्ञानरूप तेज। यह तेज जिसमें होगा उसे ब्रम्हावर्चसी कहा जायेगा। मंत्र में ब्रहावर्चसी ब्राम्हण उत्पन्न करने की प्रार्थना भगवान से की गई है।

4. "सबके उत्पादक सविता परमात्मा ने ब्राम्हण को ब्रम्हा के लिये अर्थात वेदाध्ययन और अध्यापन के लिये बनाया। जिस अध्याय का यह मंत्र है वहां इस मंत्र से ऊपर के चारों मंत्रों में सविता का वर्णन चल रहा है। ऊपर के मंत्र से ही इस मंत्र में भी सविता पद की अनुवृत्ति आती है।

5. "जो लोग सामवेद का खूब अध्ययन करने वाले और अर्थवेद का अध्ययन करने वाले ब्राम्हण को पीड़ा देते है।"

जिस प्रकरण का यह मंत्र है वहां ब्राम्हण की गो अर्थात वाणी पर प्रतिबन्ध लगाने वाले राजा को क्या कष्ट सहने पडते है, इसका वर्णन है। मंत्र में प्रयुक्त हुये साम और अथर्व को शेष वेदो का भी उपलक्षण समझना चाहिये। यहां ऋग्वेद आदि का नाम न लेकर सामवेद और अर्थववेद का नाम लेना और अथर्व का भी आंगिरस नाम से ग्रहण करना, इस प्रकरण के लिये जहां उपयुक्त ठहरता है। वहां एक अन्य अभिप्राय को भी प्रकट करता है। साम का अर्थ शान्ति भी होता है। जो अतिशय के जीवन में लगा हुआ है उसे बृहत्सामा कहेगे। अंगिरा का अर्थ अंगारा भी होता है। जिसका जीवन ज्ञानाग्नि के अंगारों सा प्रदीप्त हो जिसमें ज्ञानाग्नि धधकती हो उसे आंगिरस कहेंगे। ब्रम्हण में शान्ति भी होती है। और ज्ञान के सत्य के अंगारें भी उसमें धधकते है। शान्तिप्रिय और ज्ञानी ब्रम्हणों को जो राजा पीडा देता है उसकी वाणी पर प्रतिबन्ध लगाता है उस राजा का भारी अहित होता है। साम और आंगिरस शब्दों ने यह भी बता दिया कि ब्राम्हण को जीवन में शान्ति और सच्चा ज्ञान कहां से प्राप्त होता है।

6. "हे ब्राम्हण, तुम कि ब्रम्हा अर्थात वेद का अध्ययन करने के कारण सबके स्वामी हो"।

7. "ब्राम्हण महान ज्योति के सर्वोत्कृष्ट रचनात्मक स्थान में सब वर्णो में प्रथम उत्पन्न होने वाला है वह वेद के सात छनदोरूप मुख वाला है, इन सात छन्दों के कारण सात किरणों वाला है ज्ञान के कारण बहुत प्रकार से प्रकट होने वाला अपने शब्द घोष से अन्धकारों को नष्ट कर देता है"।

ब्राम्हण इसलिये ब्राम्हण होता है कि वह रक्षा करने वाली ज्ञान की ज्योति में सबसे प्रथम होता है। सात छन्दों में बना हुआ वेद पढने के कारण वह सप्तास्य या सात मुखो वाला होता है, और इन्ही सात छन्दो में बने ज्ञान के सूर्य वेद को पढ़ने के कारण वह सप्तरश्मि या सात किरणो वाला हो जाता है। इस प्रकार ज्ञानी होकर वह वेद ज्ञान की किरणों से ससांर को ज्ञानान्धकार को दूर करता फिरता है।

8. "अपः प्रजाओं को बांटने की इच्छा वाला अप्रतिद्वन्द्वी ब्राम्हण अपने विरोधी शत्रु को वेदमंत्रों से मारता है"।

ब्राम्हण किसी का विरोधी नहीं होता। वह किसी का शत्रु नहीं होता। वह सब प्रजाजनों को सुख देना चाहता है। ज्ञान में उसकी कोई तुलना नहीं कर सकता। अतः वह सबको सुख देना चाहता है। यदि उसका कोई शत्रु हो जाये तो वह उसे वेदमंत्रों से मारता है, उसके पास जाकर प्रेम से उसे वेद का ज्ञान देकर उसके मन को शुद्ध कर देता है, और

इस प्रकार उसके मन में से शत्रुता के भाव दूर करके उसे शत्रुरूप में मार देता है। उसे अपना शत्रु नहीं रहने देता उसे अपना मित्र बना लेता है।

9. "ब्रम्हण वेद के लिये बाधाओं को सुगमता से तैरने योग्य और कम गहरी बना देवे।" वेद के प्रचार में जो विघ्न और बाधायें आकर खडी हो, ब्रम्हण का कर्तव्य है कि वह इस प्रकार के उपायों का अवलम्बन करे जिससे वे मार्ग में न रहें।

10. "ऋग्वेद का ज्ञाता ब्राम्हण सामदेव से अर्चना करे।"

11. "न हमारे पालन करने वाले पिता ब्रम्हण ने इस सत्य का प्रकाश करने वाली अथवा सत्य स्वरूप वेदवाणी से उत्पन्न होने वाली गायत्री आदि सात छन्दरूप सिर वाली बडी भारी बुद्धि अर्थात ज्ञान को प्राप्त किया।"

12. "जो वेद मंत्रों द्वारा शुचि है ऐसे ब्राम्हण को नमस्कार करो"।

13. "ब्राम्हण जो कि सात छन्दो वाले वेद को पढने के कारण सप्तगु (अर्थात सात वाणियों वाला है।)

14. हे ब्राम्हण (बृहस्पते) वे के साथ (ब्रगहम्णा) हमारी ओर आओ।

इन मन्त्रों और मन् खण्डों में पाठक स्पष्अ अ देखेगें कि वेदाध्यान से ब्राम्हण का गहरा सम्बंध है। वेद का स्वाध्याय करनां वेद का ज्ञात होना– ब्राम्हण का एक विशेष कर्तव्य है।

ब्राम्हण को भांति भांति की विधाओं का पंडित होना चाहिये–

वेद के अनेक स्थानों का अध्ययन करने से यह प्रतीत होता है कि ब्राम्हण को भंली भांति की विधाओं का ज्ञान होना चाहिये। इस सम्बन्ध मे निम्न मंत्र देखिये।

1. (क) यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविध।
विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः ।। ऋग् 10–97.6

(ख) ओषधयः सं वदन्ते सोमेन सह राज्ञा।
यस्मै कृणोति ब्रम्हणस्तं राजन्पारयासिस।। ऋग 10–97.22

(ग) बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुंचन्तंहसः ।। ऋग् 10–97–15

(घ) बृहस्पतिप्रसूता अस्यै सं दत्त वीर्यम्।। ऋग् 10–97–19

2. चत्वारि वाक्यपरिमिता पदानि तानि विदुब्राम्हाणा ये मनीषिणा
ऋग् 1–164–45

3. (क) यद् ब्राम्हणाः संयजन्ते संखायः ।

अत्री त्वं विजहुर्वेद्याभिरोह ब्रम्हाणो विचरन्तु त्वे। ऋग 10–71.8

(ख) इमे ये नार्वाड़ग न परश्चरन्ति न ब्राम्हाणासो न सुतेकरास :।।

ऋग 10–71–9

4 ब्राम्हणमद्य विदेयम्पितृमन्त पैतृमत्यमृषिमार्षेयम्। यजुर 7–46

5 ब्राम्हणो जज्ञे प्रथमों दशशीर्षो दशास्यः।। अथर्व 4–6–1

6 त्रयों लोकाः संमिता द्यौरेवासौ पृथिव्यन्तरिक्षम। अथर्व 12–3–20

7 कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम् ।। ऋग 2–23–1

8 देवानां देवतमाय।। ऋग 2–24–3

9 विप्रः। ऋग 2–24–13

10 आ वैधसं नीलपृष्ठ बृहन्त बृहस्पति।। ऋग 5–43–12

11 यो अनूचानो ब्राम्हणः।। ऋग 8–58–1

इन मंत्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है –

1. "राजा लोग जिस प्रकार समिति मे एकत्र होते है वैसे ही जिसमें सब औषधियां एकत्र होती हो वह ज्ञानी ब्राम्हण वैद्य कहलाता है। वह रोग कृमियों का नाशक होता है। और वही रोगो का नाश करने वाला होता है। "सब औषधियां राजा सोम के साथ संवाद करती है। कि जिस रोगी के लिये ब्राम्हण हमें प्रदान करता है। उस रोगी को हे राजन् हम रोग के पास पहुंचा देती है। ब्रम्हण के द्वारा प्रेरित की हुई हे औषधियों । तुम हमें रोगो से मुक्त कर दो। ब्राम्हण के द्वारा प्रेरित की हुई हे औषधियो । तुम इस रोगी व्यक्ति के लिये बल का प्रदान करों।

ब्राम्हण को सब औषधियों का ज्ञान होना चाहिये, लोगो के रोगो का निवारण करने के लिये वैद्य का काम भी उसे ही करना चाहिये। यह वेद के इन मंत्रों से स्पष्ट प्रतिपादित होता है। जो व्यक्ति सब औषधियों का ज्ञान रखता है, सब प्रकार के रोगो की चिकित्सा कर सकता है और भांति भांति के रोगो के उत्पादक कृमियों का भी ज्ञान रखता है और उनका प्रतिकार कर सकता है। उस व्यक्ति के लिये इन विषयों से सम्बन्ध रखने वाली कितने प्रकार की विधाओं को ज्ञाता होना आवश्यक है, यह स्वंय सोचा जा सकता है।

2. "वाणी के चार परिमित पद है उनको जो बुद्धिमान ब्रम्हण है, वे जानते है लोक में जितनी वाणी है वह चार विभागों में विभक्त है। वेद के इस कथन का भाष्यकारों ने अनेक प्रकार से व्याख्यान किया है। कई लोग कहते है कि यहां वाणी के चार पदों से तात्पर्य भू

भुवः स्वः इन तीनों व्याह्रतियों एवं चौथे प्रणव अर्थात ओंकार से है। क्योंकि इन चारों में समस्त वैदिक वाडंग्मय का सार आ जाता है। कुछ लोगो कहते है कि यहां वाणी के चार पदो से तात्पर्य नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात से है। क्योंकि व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से हमारी वाणी के ये ही चार विभाग बनते है। कई याज्ञिक लोग इन चार पदों से तात्पर्य मंत्र, कल्प, ब्राम्हण और लौकिक वाणी लेते है। कोई कोई भाष्यकार ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद ओर अथर्ववेद दूसरे भाष्यकार इनका अर्थ वयी विद्या ओर चौथी व्यवहार विद्या करते है। अन्य विद्वान इनका अर्थ सर्पादि कीट, पशु, पक्षी और मनुष्यों की वाणी ऐसा करते है। एक दूसरे लोग इन चार पदों का अर्थ परा, पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी इन चार अवस्थाओं में प्रकट होने वाली – नादात्मिका वाणी करते है। वाणी के इन चार पदों का अर्थ कुछ भी किया जाये, इतना स्पष्ट है कि यहां प्रयुक्त वाणी शब्द बहुत व्यापक अर्थ का बोधक है। जितने प्रकार की भी वाणी है और उसके जितने भी भेद है बुद्धिमान ब्राम्हण लोग उन सब को जानते है – मंत्र में यह बात स्पष्ट कही गई है। ब्राम्हण लोगो को कितनी अधिक विद्याओं का ज्ञाता होना चाहिये – यह सब मंत्र के वर्णन से स्पष्ट अनुमान किया जा सकता है।

3. (क) "जब ब्राम्हण लोग एकत्र होते है। तब वे अपने उस समुदाय में अपनी विद्यओं के कारण कइयों को पीछे छोड़ देता है।"

ब्राम्हणों को अनेक विद्याओं का ज्ञाता होना चाहिये यह इस मंत्र के वर्णन से ही स्पष्ट सूचित होता है।

(ख) "ये लोग न इस लोक की ओंर चलते है (अर्थात इस लोक का ज्ञान रखते है) और न परलोक की ओर चलते है (अर्थात परलोक का ज्ञान रखते है) और इस प्रकार ब्राम्हण बनते है। और न परोपकार के यज्ञादि कर्म करने वाले बनते है।"

इस मंत्र के वर्णन से यह सूचित होता है कि ब्राम्हण वे लोग है जो लोक और परोपकार का ज्ञान रखते है। और उसके अनुसार अपना जीवन व्यतीत करते है। लोक और परलोक का ज्ञान रखने के लिये अग्नि, जल, वायु पृथ्वी आदि प्राकृतिक तत्वों से सम्बन्ध रखने वाली विद्याओं का मनुष्यों के विभिन्न प्रकार के व्यवहारों व्यवसायों उनके सामाजिक सम्बन्धों का और राज्य व्यवस्था आदि से सम्बन्ध रखने वाली विद्याओं का, आत्मा, परमात्मा , जड़ चेतन, कर्मफल, पुर्नजन्म बन्ध और मोक्ष आदि से सम्बन्ध रखने वाली विद्याओं का ज्ञान रखना आवश्यक है। इन विषयों की विद्याओं से अवगति प्राप्त किये बिना लोक और परलोक

का ज्ञान नहीं हो सकता। इस प्रकार इस मंत्र के वर्णन से भी स्पष्ट निर्देश मिल जाता है। कि ब्राम्हण को कितनी अधिक विद्याओं का ज्ञान होना चाहिये।

4. "आज मै उस ब्राम्हण को प्राप्त करूं जो ऋषि है और आर्षेय है"

ऋषि उस ज्ञानी को कहते है जिसकी बुद्धि सब प्रकार के विषयों में गति करने की शक्ति रखती है और जो दूर भविष्य की बात को भी अपने ज्ञान के आधार पर जान लेने का सामर्थ्य रखता है। ब्राम्हण को इस प्रकार का ऋषि, इस प्रकार का ज्ञानी होना चाहिये। इस प्रकार का ज्ञानी कोई व्यक्ति अनेक विद्याओं के अभ्यास से ही हो सकता है। आर्षेय का अर्थ होता है कि ऋषियों से सम्बन्ध रखता हो, ऋषियों में प्रसिद्ध हो। ब्राम्हण को आर्षेय कहने का भाव यह है कि उसे ऐसा ज्ञानी होना चाहिये कि दूसरे ज्ञानियों में उसकी प्रसिद्धि हो। ब्राम्हण का यह वर्णन भी स्पष्ट सूचित करता है कि उसे अनेक प्रकार के विषयों का ज्ञाता होना चाहिये।

5. "ब्राम्हण सब वर्णो में प्रथम उत्पन्न हुआ है – वह दस सिरों और दस मुखों वाला है।"

ब्राम्हण अपने ज्ञान के कारण सब वर्णो में प्रथम बनाया गया है। उसमें अन्य वर्णो की अपेक्षा कितना अधिक ज्ञान रहना चाहिये। यह उसके दस सिरों वाला और दस मुखों वाला। इन विशेषणों से सूचित होता है। हमारा सिर हमारे ज्ञान के केन्द्र होता है। ब्राम्हण के पास मानो दूसरे वर्णवाले लोगो की तुलना में दस सिर होते है। उसके पास उनकी अपेक्षा दस गुणा ज्ञान होता है। अपने दस गुणा ज्ञान को वह दस मुखों वाला होकर ही दूसरों तक पहुंचाता है। ब्राम्हण का यह वर्णन भी स्पष्ट बताता है कि उसे अनेक विद्याओं का ज्ञाता होना चाहिये।

6. "तीनों लोक ब्राम्हण के द्वारा भली भांति जाने हुये छुये होते है – वह लोक यह पृथ्वी लोक , और बीच का अन्तरिक्ष लोक।

ब्राम्हण को तीनों लोको का ज्ञाता होना चाहिये। तीनों में अनेक प्रकार के पदार्थ है, जिनके विषय में अनेक विद्यायें बन जाती है। ब्राम्हण को तीनों लोको को पूर्ण ज्ञाता होने के लिये इन सब पदार्थो से सम्बन्ध रखने वाली विद्याओ को जानना होगा। भांति भांति की विद्याओं का ज्ञाता ब्राम्हण को होना चाहिये। यह इस मंत्र में असंदिग्ध रूप में बताया गया है।

7. "ब्राम्हण क्रान्तदर्शी ज्ञानियों मे सबसे अधिक क्रान्दर्शी ज्ञानी होता है। उसका श्रवण अर्थात विद्याध्ययन उपमा के योग्य होता है।"

क्रान्तदर्शी ज्ञानी को, पदार्थो की गहराई का ज्ञान रखने वाले ज्ञानी को कवि कहते है। ब्राम्हण कवियों में भी कवि होता है। वह पदार्थो का बहुत ही अधिक गहरा ज्ञान रखने वाला होता है। उसका ज्ञान, उसका श्रवण, उसका अध्ययन इतना अधिक होता है कि लोग उसी को उपमा देते है। ब्राम्हण का यह वर्णन भी स्पष्ट बताता है कि उसे कितना अधिक ज्ञानी, कितनी अधिक विद्याओं को वेत्ता होना चाहिये।

8. "ब्राम्हण विद्वानों में सबसे अधिक विद्वान (देवतमाय) होता है।"

भांति भांति की विद्याओं को जानने वाले व्यक्तियों को विद्वान कहते है। ब्रम्हण को विद्वानो में सबसे अधिक विद्वान होना चाहिये। मंत्र में विद्वान के लिये देव शब्द का प्रयोग हुआ है। शतपथ मे देव का अर्थ विद्वान किया गया है। यह शब्द 'दिव" धातु से बनता है। इस धातु के क्रीड़ा आदि दस अर्थ होते है। उन सब अर्थो में सब कामों मे जो कुशल होगा उसे देव कहा जायेगा। उन सब कामों में कुशल व्यक्ति एक भारी विद्वान ही हो सकता है। इसलिये शतपथ ने देव का जो अर्थ विद्वान किया है वह ठीक ही किया है। ब्राम्हण को देवों में देव विद्वानों में विद्वान होना चाहिये।

9. "ब्रम्हण (ब्रम्हाणस्पति) विप्र होता है।"

यहां ब्राम्हण को विप्र कहा गया है। विप्र का अर्थ मेधावी बुद्धिमान अर्थ दिया गया हे। विप्र उस मेधावी विद्वान को कहते हे। जो समय समय पर उत्पन्न होने वाली विशेष आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता हो। ब्राम्हण को इस प्रकार का ज्ञानी विद्वान होना चाहिये। ऐसा ज्ञानी अनेक विद्याओं का ज्ञाता व्यक्ति ही हो सकता है।

10. "ब्राम्हण (बृहस्पति) को वेधा होना चाहिये"

"वेधा" उस विद्वान को कहते है जो नये नये आविष्कार कर सकता हो नई नई चीजों बना सकता हो। मंत्र में "वेधा" के साथ "आ" उपसर्ग लगा दिया गया है। "आ" का अर्थ होता है "चारो ओर" जिसकी प्रतिभा चारों ओंर चलती हो जो सभी क्षेत्रों में नये नये आविष्कार कर सकता हो, उस विद्वान को आवेधा कहा जायेगा। ब्राम्हण को इस प्रकार का विद्वान होना चाहिये। ऐसा विद्वान अनेक विद्याओं का ज्ञाता पुरूष ही हो सकता है।

11. "ब्राम्हण अनूचान होता है"।

जिसने गुरू के मुख से भांति भांति की विद्याओं को पढा है उसे अनूचान कहते है। ब्राम्हणों को अनूचान होना चाहिये। उन्हे विविध प्रकार की विधाओं का अध्ययन करना चाहिये।

वेद के इन और ऐसे ही अन्य संदर्भो से यह भंली भांति विदित होता है कि ब्राम्हण को भांति भांति की विद्याओं का पंडित होना चाहिये।

ब्राम्हण को विद्या पढ़ाने का कार्य करना चाहिये–

वेद के अनेक प्रसंगो के अध्ययन से यह परिणाम निकलता है कि ब्राम्हण का एक कर्तव्य सब को विद्या पढाना भी है। इस सम्बन्ध में निम्न मंत्र देखिये।

1.	ब्राम्हणासों अतिरात्रे न सोमे सरो न पूर्णमभितों वदन्तः ।	ऋग 7–10–'3.7
2.	ब्राम्हणासः सोमिनों वाचमत्रत ब्रम्हा कृण्वन्तः परिवत्सरीणम्।	ऋग 7–103.8
3.	ब्राम्हणादिन्द्र राधसः पिचा सोममृतूंरनु।	ऋग 1–15–5
4.	ब्राम्हणासः पितराः सौम्यासः ।	ऋग 6–75 10
5.	देवा वशामयावचन मुख कृत्वा ब्रहाणम्।	अथर्व 12–4–20
6.	वशां च विद्यान्नारदः ब्राम्हाणास्तद्देष्याः।।	अथर्व 12–4–16
7.	ब्राम्हणां अभ्यावते । ते में द्रविण यच्छन्तु ते मे ब्राम्हाणवर्चसम्।	अथर्व 4–19–2
8.	ब्राम्हणेन पर्युक्तासि कण्वेन नाषदेन।	अथर्व4–19–2
9.	सदस्पतिमदभुंत प्रियमिन्द्रस्य काम्यम। सनिं मेधामयासिषम्।	ऋग 1'18–6
10.	ब्रम्हाणस्पते देवयन्तस्त्वेमहे।	ऋग 1–40–1
11.	प्रैतु ब्रम्हाणस्पति प्र देव्येतु सुनृता।	ऋग 1–40–3
12.	तमृत्विया उप वाचः सवन्तें सर्गो न यो देवयतासर्जि।	ऋग 1–190–213.
13.	विश्वेषामिज्जनिता ब्राम्णामसि।।	ऋग 2–23–2
14.	हवामहेवस्पतेरध्विक्तारमस्म्युम्।।	ऋग 2–23–8
15.	प्रसुशंसा मतिभिस्तारिषीमहि।।	ऋग 2–23–1016.
16.	ऋत प्रजात।।	ऋग2–23–15
17.	इन्द्रेण युजा तमसा परिवृतं बृहस्पते निरपामौब्जो अर्णवम्।	ऋग2–23–18
18.	बृहस्पते सीषधः सोज नो मतिम्।।	ऋग 2–24–1
19.	स सन्नयः स विनयः।।	ऋग 2–24–9
20.	देवानां पितरम्।।।	ऋग 2–24–3
21.	अवो द्वाभ्यां पर एकया गा गुहा तिष्ठनतीरनृतस्य सेतो। बृहस्पतिस्तति ज्योतिरिच्छन्नदुस्त्राआकर्वि हि तिस्त्र आवः।।	ऋग 10–68–5

22.	अप ज्योतिषा तमो अन्तरिक्षादुदनः शीपालमिव वात आजत।	ऋग 10–68–5
23.	सप्तास्यस्तुविजातो रवेण वि सप्तरश्मिरधमत्तमांति।	ऋग 4–50–4
24.	क्षिपदशस्तिमप वुर्मति हन्।	ऋग 10–182–1
25.	बृहस्पते यत्ते मनुहिंत तदीमहें।	ऋग 10–182–1
26.	अस्मे धेहि द्युमती वाचमासन्बृहस्पते।।	ऋग 10–106–5
27.	यन्मे छिद्र मनसों यच्च वाचः सरस्वती मन्युमन्त जगाम। विश्वैस्तद् देवैःसह् संविदान सदधातु बृहस्पतिः।।	अथर्व 19–40–1
28.	बृहस्पते ज्योतयैन संशितं चित् सन्तरं शिशाषि।।	अथर्व 7–26–1

इन मंत्रों का शब्दार्थ क्रम से इस प्रकार है।

1. ''ब्राम्हण लाग न जिस प्रकार आज्ञानान्धकार की रात्रि का अतिक्रमण करने वाले स्नातक में सम्प्रति भरे हुये गुरू से बहकर शिष्य में जाने वाले विद्या के सरोवर को सब ओर से बोलकर उपदेश देते है। मंत्र कहता है कि ब्राम्हण लोग विद्या के सरोवर का उपदेश करके उसे स्नातकों में डाल देते है। और इस प्रकार उनके अज्ञान की रात्रि को दूर कर देते है।

2. ''ब्राम्हण लोग सोम अर्थात स्नाातकों को बनाने वाले सोमिनः होते है। वे साल भर वेद का अध्ययन करते हुये शिष्यों में अपनी वाणी को वांच डाल देते है।

गुरूकुल में रहकर पूर्ण विद्या प्राप्त विद्या में स्नान किया हुआ व्यक्ति सोम कहलाता है। ब्राम्हण लोग सोमी है। वे इस प्रकार सोमो को स्नातकों को तैयार करते हे। वे अपनी वाणी के द्वारा शिष्यो में ज्ञान भरकर उन्हे स्नातक बनाते है।

3. ''हे इन्द्र सम्राट, आप कार्यो को सिद्ध करने वाले राक्षसः ब्राम्हणों से ऋतुओं के अनुसार सोम का पान करो ''।

ब्राम्हण सामों को स्नातकों को तैयार करते है। वर्ष की प्रत्येक ऋतु में वे स्नाातकों को तैयार करते है। सम्राट ब्राम्हणों द्वारा तैयार किये हुये सोमो को स्नातकों को राज्य के पदों पर नियुक्त करता है। इस प्रकार इन्द्र ब्राम्हण के द्वारा तैयार किये हुये सोम का पान करता है।

4. ''ब्राम्हण लोग शिक्षा के द्वारा क्योंकि सोमो को निर्माण करते है, इसलिये वे राष्ट्र के पालक पितर है।

5. ''भांति भांति के व्यवहारशील विद्वान लोग ब्रम्हण को मुख बनाकर वशा की याचना करते हैं।

6. ''मनुष्यों को नीति का दान करने वाले नारद है, पुरूष यदि तुम वशा को जानना चाहते हो तो तुम्हें ब्राम्हणों को खोजना चाहिये।

ये दोनो मंत्र अथर्ववेद के 12 वे कांण्ड के चौथे सूक्त के है। इस सूक्त में इस विषय का वर्णन है कि जब कोई व्यक्ति ब्राम्हण के पास जाकर उससे उसकी वाणी उसका ज्ञान सीखना सीखना चाहें तब यदि कोई उसमें बाधा डालने चाहें – बाम्हणों से ज्ञान सीखने में रूकावट पैदा करना चाहे तो राजा का कर्तय है कि वह ऐसे लोगो को दंडित करे। सूक्त में ब्राम्हण की वाणी को उसकी विद्या भारती का गौ शब्द से कहा गया है कि गौ का एक अर्थ वाणी भी होता है। यह संस्कृत वाडंग्मय से थोड़ा भी परिचय रखने वाला व्यक्ति भाली भांति जानता है। इसी गौ के लिये सूक्त में दूसरा शब्द वशा प्रयुक्त किया गया है। वशा शब्द वश कान्तौ धातु बाम्हण की वाणी को वशा कहा गया है। क्योंकि उसके द्वारा सत्यासत्य का विवेक होता है। खोटे खोटे का ज्ञान होता है। भांति भांति के ज्ञान का उपदेश मिलता है। इसलिये ब्राम्हण की वाणी चाहने योग्य है। जब ब्रम्हण की गौ वाणी मांगने वालों को नहीं दी जाती तब वह मानो वाणी लंगड़ी हो जाती है। निकम्मी हो जाती है। इस प्रकार का आलंकारिक वर्णन इस सारे सूक्त में है। कई लोग इस सूक्त में वशा का अर्थ वन्ध्या गौ करते है। सूक्त की वशा या गौ का यह अर्थ करने पर सूक्त का वर्णन इस अर्थ में बिल्कुल संगत नही हो सकता और सारा सूक्त इस प्रकार से बकवास का पिटारा बन जाता है। जो अर्थ हमने किया है उससे सारा सूक्त बड़ा सुन्दर और सांरगर्भित उपदेश देने लगता है।

इस भूमिका के पश्चात अब उद्धत दोनो मंत्रों को देखिये। जो लोग देव भांति भांति के व्यवहार को विद्वान बनना चाहते हे। वे ब्राम्हण से वशा की याचना करते है। जो व्यक्ति नारद बनना चाहते है। लोगो को भांति का धर्म, धर्म का उपदेश देना चाहते है। उन्हे वशा को प्राप्त करना चाहिये और इसके लिये उन्हे उत्तम ब्राम्हणों की खोज करनी चाहिये। भावार्थ यह है कि व्यक्तियों को ब्राम्हणों के पास जाकर उनकी वाणी सुननी चाहिये – उनसे ज्ञान सीखना चाहिये।

7. ''मैं ब्राम्हणों के पास जाता हूं वे मुझे ऐश्वर्य का दान करे वे मुझे अपने ब्रम्हावर्चस का दान करे।

ब्राम्हणो के पास उनका ब्रम्हावर्चस ही ऐश्वर्य है जिसका वे दान करते है। ब्रम्हावर्चस का अर्थ हे – ब्राम्हणों का तेज। ब्राम्हणों का तेज उनकी वेद आदि शास्त्रों की विद्या का बल ही होता है। ब्राम्हणों को अपना इस ब्रम्हातेज का – विद्या के तेज का ऐश्वर्य का सदा दान करते रहना चाहिये।

8. "हे औषधि, बुद्धिमान और मनुष्य की सभाओं के हितकारी ब्राम्हणों नें तुम्हारा उपदेश किया है"।

जो ब्राम्हण मनुष्यो की सभाओं के मनुष्यों के समूहों के हितकारी है वे नार्षद हें ऐसे जनहितकारी मेधावी ब्राम्हण लोगो को औषधियों के ज्ञान का उपदेश करते है आयुर्वेद शास्त्र का अध्ययन करते है।

9. "जो सभाओं का पति है सम्राट का प्यारा और चाहने योग्य है, अपनी शक्तियों का दान करने वाला है ऐसे ब्राम्हण से मैने मेधा को प्राप्त किया है"।

अपने ज्ञान के कारण ब्राम्हण सभाओं का पति बनता है। वह अपने ज्ञान की शक्ति को अन्य लोगो को दान करता है। उन्हे शिक्षित करता है। और इस प्रकार लोगो को मेधा प्राप्त होती है।

10. "हे ब्राम्हण अपने आपको देव अर्थात भांति भांति के व्यवहारों में निपुण विद्वान बनाने की इच्छा वाले हम लोग आप से इस देवत्व की याचना करते है।

जिसे देव बनने की भांति भांति के व्यवहारों का ज्ञाता विद्वान बनने की इच्छा हो वह ब्राम्हणों के पास जाये और उनसे ज्ञान सीखकर अपने भीतर देवत्व प्राप्त करे।

11. "ब्राम्हण (ब्राम्हणस्पति) हमें प्राप्त हो उससे सत्य और मधुरवाणी हमें प्राप्त हो"।

हमें ब्राम्हणों की सेवा में जाना चाहिये वे हमें वह प्रकार सिखायेंगे जिससे हम सच्ची ओर सदा मधुर वाणी का ही उच्चारण किया करेंगे।

12. उस ब्राम्हण को समायोचित वाणियां प्राप्त होती है। जो अपने आपको देव अर्थात विद्वान बनाना चाहते है। देवता का निर्माण करने वाले प्रभू ने उसे बनाया है।

ब्राम्हण को समयोचित वाणिया बोलनी आती है। वह समय की आवश्यकता को पहचानने वाला होता है। और उसके अनुसार ही वाणियां बोलकर वह लोगो का मार्गदर्शन कर देता है। भगवान ने ब्राम्हणों को मानो देवत्व का त्रष्टा बनाया है। जो देव बनना चाहें विद्वान बनना चाहे– वे ब्राम्हण के पास जाये। ब्राम्हण उन्हे भांति भांति के ज्ञान की शिक्षा देकर देव बना देगा।

13. "हे ब्राम्हण तू सब प्रकार के ब्राम्हणों के उत्पन्न करने वाला है"।

ब्राम्हण लोग विद्या पढाकर आगे आने वाले नये ब्राम्हण को तैयार करते है। ब्रम्हा शब्द का भी वाचक होता है। वेद ज्ञान का ग्रन्थ है। इसलिये ब्रम्हा शब्द उपलक्षण से सत्य ज्ञान का भी वाचक हो जाता है। क्योंकि बीज रूप में मनुष्य के लिये उपयोगी सभी प्रकार का ज्ञान वेद में है। तब मंत्र का भाव यह होगा कि ब्राम्हण सब प्रकार के ज्ञानों का उत्पादक है। वह ज्ञान के नये नये आविष्कार करता है। और उन्हे पढ़ाकर अगली पीढ़ी को सौंप देता है।

14. "हे ब्राम्हण तुम अपनी रक्षा द्वारा हमें दुखों से पार करने वाले हो तुम सदा हमारा हित चाहते हो, तुम ज्ञान के वक्ता हो हम तुम्हे ज्ञान सीखने के लिये बुलाते है।

15. "हे ब्राम्हण हम उत्तम प्रशंसा वाले होकर तुम से प्राप्त होने वाली बुद्धियों के द्वारा (मतिभिः) इस संसार के कष्टो से तर जाये।"

ब्राम्हण हमें ज्ञान सिखाकर बुद्धियों का प्रदान करता है और हम उन बुद्धियों के द्वारा उत्तम कर्म करने के कारण प्रशंसा प्राप्त करते है। – एवं संसार के कष्टो से बच जाते है।

16. "हे ब्राम्हण तुम ऋत अर्थात सत्य ज्ञान को उत्पन्न करने वाले हो"।

ब्राम्हण अपनी शिक्षा द्वारा दूसरों में सत्य ज्ञान को उत्पन्न कर देता है। इस लिये वह ऋतप्रजात कहलाता है।

17. "हे ब्राम्हण तुम अन्धकार में पढ़े हुये प्रजाओ के समुद्र को सम्राट के साथ मिलकर सरल मार्ग पर लाते हो"।

जब राष्ट्र का जनसमुद्र अन्धकार में पडा होता है ज्ञान में शून्य होता है – तब सम्राट की सहायता लेकर ब्राम्हण लोग उसमें ज्ञान का प्रचार करते है, उसे प्रकाश देते है और इस प्रकार उसे अंधकार से निकालकर ऋजु सरल मार्ग पर लाते है।

18. "हे ब्राम्हण तुम हमें मति की सिद्धि कराओ"।

ब्राम्हण लोग भांति भांति के ज्ञान का उपदेश करके लोगो को मति अर्थात मननशील बुद्धि की सिद्धि कराते है।

19. "ब्राम्हण लोगो को उत्तम नीति देनेवाले और उत्तम शिक्षा देने वाला विनय होता है।

20. "ब्राम्हण देवो अर्थात विद्वानों का पितर होता है।

ब्राम्हण विद्याओं का उपदेश करके लोगो को देव अर्थात विद्वान बनाता है इसलिये यह देवो का पितर तो है ही।

21. "ब्राम्हण सात प्रकार के छन्दों में बने हुये वेद को पढ़ने के कारण सात मुखों और सात किरणों वाला होकर अपने शब्दकोष से अंधकार को मार भगाता है"।

ब्राम्हण वेद को और तदुपलक्षित विद्याओं को पढकर उन्हे औरों को पढ़ाता है। और इस प्रकार उन तक अपने ज्ञान की किरणे पहुंचाता है। जिससे उनका अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है।

जब हम अज्ञान में होते है जब हम किसी प्रकार के ज्ञान की कोई बात नहीं कर सकते तब हमारी ज्ञान प्रकाशिका वाणियां मानो गुहा में पडी होती है। उस समय मानो वे असत्य के तालाब में पडी होती है। सच्चा ज्ञान न होने से – न हम दूसरों को उसका बोध करा सकते है और न ही दूसरे लोग हमें उसका बोध करा सकते है। तब सत्य ज्ञान के अभाव में हम असत्य का ही आचरण करते है। हमारी वाणिया उस समय असत्य के समुद्र में डूबी होती है। ब्राम्हण लोग इस असत्य की इस अंधकार की अवस्था से हमारा उद्धार करना चाहते है। इस अंधकार मे वे ज्योति लाना चाहते है। तब वे अपनी ज्ञान भरी वाणिया को किरणों के रूप में प्रकट करते है। और अपनी वाणी की ज्ञान किरणों में से तीनों लोको को हमारे आगे खोलकर रख देते है। तीनो लोको के पदार्थो का ज्ञानोपदेशों हमे कर देते है।

मंत्र मे कहा है कि जब हमारी वाणियां गुहा में अन्धकार में पडी होती है तब वे दो के नीचे और एक के ऊपर होती है। इस कथन का भाव समझ लेना चाहिये। हम पृथ्वी लोक पर रहते है। पृथ्वी हमारे नीचे से है। और हम पृथ्वी के ऊपर है। हम से ऊपर अन्तरिक्ष और द्यौः ये दो लोक और है। हम दोनो लोको के नीचे है। ऐसी स्थिति में हमारी वाणिया गुहा में पडी है। हमारे ऊपर नीचे जगत के इतने पदार्थ है। पर हमे उनमें से किसी का भी ज्ञाननहीं होता– हम किसी के बारे में कोई ज्ञान की सही बात नहीं कर सकते। इसलिये हमारी वाणिया मानो गुहा में पड़ी होती है।

मंत्र में लोको को सूचित करने के लिये जो दो, एक और तीन ये संख्यावाची शब्द प्रयुक्त किये गये है। वे स्त्रीलिंग में प्रयुक्त किये गये है। इसका यह कारण है कि वेद में कई स्थानों पर तीनों लोको के लिये पृथ्वी और भूमि शब्दों का प्रयोग किया गया है। ये शब्द स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होते है। पृथ्वी शब्द के स्त्रीलिंग को ध्यान में रखकर मंत्र में लोको के सूचक संख्यावाची शब्दों मे स्त्रीलिंग का प्रयोग कर दिया गया है।

वेद में वाणिया के वाचक शब्द ज्ञान के लिये विद्या के लिये भी प्रयुक्त हुआ करते है –क्योंकि वाणी ओर ज्ञान का गहरा सम्बन्ध है। ज्ञान वाणी के द्वारा ही प्रकाशित हो सकता

है। जब कोई व्यक्ति बोलता है तो अपनी वाणी द्वारा ही कोई ज्ञान दूसरे व्यक्ति तक पहुंचा रहा होता है। यजुर्वेद के "यथेमा वांच कल्याणीम्" मंत्र में वाक वाणी शब्द से स्पष्ट ही वेद विद्या को कहा गया है। इसी आधार पर हम हमने प्रस्तुत मंत्र में 'ग' का अर्थ विद्या वाणिया ऐसा कर दिया है।

सायण ने मंत्र में "बृहस्पति तमसि ज्योतिरिच्छन्" इस वाक्य के होते हुये भी मंत्र के "गा" और उस्त्रा" शब्द का जो गौ अर्थ कर दिया है – और मंत्र में देवो की गौओं को चुराने वाले पणियों की कथा को ला घुसेड़ा है – वह मंत्र के ऊचें भाव को सर्वथा न समझने के कारण किया है।

23. "ब्राम्हण लोगो के ह्रदयकाश से अन्धकार को प्रकाश के द्वारा हर प्रकार दूर कर देता है जैसे वायु पानी पर से शैवाल को दूर कर देता है।

विद्या न होने के कारण लोगो के ह्रदयों में अन्धकार होता है । ब्रम्हण उन्हे विद्या का प्रकाश देता है, जिससे उनके ह्रदय का अज्ञानान्धकार सर्वथा दूर हो जाता है।

24. "ब्राम्हण अशस्ति को दूर फेंक देता है, और दुर्मति को मार भगाता है।

लोगो के आचरणो और मनो में जो अशस्ति होती है, जो निन्दा होती है, तथा उसमें जो दुर्गति होती है, जो दुष्ट या अधूरा ज्ञानहोता है। ब्राम्हण सही ज्ञान के उपदेश द्वारा उसे दूर हट जाता है।

25. "हे ब्राम्हण जो तुम्हारे भीरत ज्ञान मनु है। उसे हम तुमसे मांगते है।

ब्राम्हणों में ज्ञान होता है। ब्रम्हा अर्थात् वेदादि शास्त्रों के ज्ञान को अध्ययन करने ही के कारण ब्राम्हण को ब्राम्हण कहा जाता है। ज्ञानवान ब्राम्हणों के पास जाकर हमें उनसे ज्ञान सीखना चाहिये।

26. "हे ब्राम्हण तुम हमारे मुख में तेजस्विनी वाणी को धारण कराओ"।

ब्राम्हण के पास ज्ञान का तेज होता है। इससे उसकी वाणी तेजस्विनी बन गई होती हे। जब हम उसके पास जाकर ज्ञान सीखते हे तो उस ज्ञान से हमारी वाणी भी तेजस्विनी हो जाती है।

27. "जो मेरे मन का छिद्र है। जो मेरी वाणी का छिद्र है अथवा जो विद्यादेवी मेरे प्रति क्रोधयुक्त व्यवहार को प्राप्त हो गई है, ब्राम्हण लोग सब राज्याधिकारी देवो के साथ मिलकर मेरे उस छिद्र को मिला देवें।"

मन के दोष मन के छिद्र और वाणी के दोष वाणी के छिद्र कहलाते है। हमारे मन में और वाणी में जो दोष हो उन्हे ब्राम्हण लोगो की संगति में जाकर उनसे ज्ञान सीखकर दूर कर लेना चाहिये। यदि विद्या देवी हमसे क्रुद्ध हो गई हो – किसी किस्म की कोई विद्या हमें न आती हो – तो ब्राम्हणों की सेवा मे जाकर हमें भांति भांति की विद्याओ का अध्ययन करके अपने अज्ञान को दूर कर लेना चाहिये।

28. "हे ब्राम्हण इसको प्रकाशित करो। यह संशित और बात जिसकी ओर पाठक का ध्यान अनायास ही जाता है वह है मधुर भाषी । इस संबंध में निम्न मंत्र देखने योग्य है –

1. प्रैतु ब्रम्हाणस्पति प्रदेव्येतु सूनृता।। ऋग 1–40–3
2. मन्द्रजिह्व बृहस्पतिम्। ऋग 1–190–1
3. अश्मास्यमवतं ब्रम्हाणस्पतिर्मधधुारमभि यमोजसा तृणत।
   तमेव विश्वे पपिरे स्वर्दृशो बहु सांक सिचिचुरूत्समुद्रिणम। ऋग 2–24–4
4. पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम।। ऋग 4–50–1
5. आप्रुषायन् मधुना।। ऋग 10–68–4

इन मंत्र का शब्दार्थ क्रम से इस प्रकार है।

1. "ब्राम्हण हमारे पास आवे और उसके कारण सत्य और मधुरवाणी हमारे पास आवे।"

ब्राम्हण सत्य और मधुर वाणी का स्वामी होता है। उसकी संगति से दूसरे लोगो में भी सत्य और मधुरवाणी आ जाती है।

2. "ब्रम्हण मनमोहक वाणी वाला होता है। ब्राम्हण अपनी मस्त कर देने वाली मधुर वाणी से सबके चितो को वश मे कर लेता है।"

3. "ब्रम्हाणस्पति ब्राम्हण मधु की धारा वाले विस्तृत और निरन्तर बहने वाले यम जिस झरने को अपने बल से खोजता है। उसको एव ही सब सुख को देखने वाले लोग पीते है। पुनः वे लोग मधुर जल वाले उस झरने को एक साथ मिलकर सींचते हे। भरते है।"

ब्राम्हण अपने उपदेशो द्वारा मधुरता का एक झरना बहा देता हे। यह झरना निरन्तर बहता रहता है। और फेलता रहता है। सब चाहने वाले लोग इस झरने के मधुर रस का खूब पान करते है। इसका पान करने से उनकी यह अवस्था हो जाती है कि उनके ह्रदयों में मधुरता का सरोवर उत्पन्न हो जाता है। और वे अपने आचरणों और वचनो द्वारा मार्धुय जल

को बहाने लगते है। इसका परिणाम यह होता है कि ब्राम्हण ने जो मधुरता का झरना बहाया था वह और अधिक भर जाता है।

4. "मधुरवाणी वाले उस ब्राम्हण को ज्ञानी लोग आगे रखते है"।

5. "ब्राम्हण मधु से मधुना सब को सींचता है।"

ब्राम्हण में मधु होता है कि वह अपने उपदेशों द्वारा सब धरती को उस मधु से सींचता फिरता है।

इन और ऐसे ही अन्य ब्राम्हण विषयक वेद के वर्णन से यह असंदिग्ध रूप से सिद्ध होता है कि ब्रम्हणो को मधुर भाषी होना चाहिये।

ब्राम्हण को तपस्वी होना चाहिये–

ब्राम्हणों को तपस्वी होना चाहिये यह बात भी वेद का अध्ययन करते हुये अनेक स्थानों पर वर्णित हुई मिलती है जैसे कि –

1. ऋषीनार्षेयास्तपसोधि जातान।। अथर्व 11–1–26

2. तपुमूर्धा।। ऋग 10–182–3

3. अनुहाय तपसा मन्युना चोत दूरादव भिन्दन्त्येनम्।। अथर्व 5–18–9

(1) "जो ज्ञानी है, ज्ञानियों से सम्बन्ध रखते है और ज्ञानियों में प्रसिद्ध हे, तो तप से उत्पन्न हुये है, ऐसे ब्राम्हणों को मैं बुलाता हूं।" (2) ब्राम्हण तपु अर्थात तप करने वाला है"। (3) "ब्राम्हण लोग तप और सात्विक क्रोध से पीछा करके शत्रु को दूर से ही छेद डालते है।"

ब्राम्हण तप से उत्पन्न होते है। उनका सिर, उनका मस्तिष्क, सदा तप में निरत रहता है। तपस्या का जीवन बिताने के विचार ही सदा उनके मस्तिष्क में रहते है। तप का अर्थ होता है – धर्मरक्षार्थ सदा कष्ट सहने के लिये तत्पर रहना। ब्राम्हण लोग इस प्रकार के तपोमय जीवन के धनी होते है। उनका सारा जीवन तपस्या का जीवन रहता है। इस तपस्या के बल पर ही वे अपने सब शत्रुओं को जीत लेते है। उनकी तपस्या किसी विरोधी को खड़ा नही होने देती।

वेद के इस प्रकार के वर्णनों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ब्रम्हणों को सदा तपस्वी रहना चाहिये।

ब्राम्हण को मेधावी होना चाहिये–

ब्राम्हणों को भांति भांति की विद्याओं का ज्ञाता होना चाहिये। परन्तु विविध विद्याओं का ज्ञाता होना ही ब्राम्हण के लिये पर्याप्त नहीं है। विविध विद्या विज्ञानों की विद्वता के साथ उनमें स्वाभाविक बुद्धि होनी चाहिये। यह हमें वेद का अध्ययन करते हुये अनेक स्थलों में स्पष्ट रूप में देखने को मिलता है। उदाहरण के लिये निम्न मंत्र देखिये।

1. सुमेधां बृहस्पति।। ऋग 10–47–6
2. बृहस्पतिं सुमेधसम्।। ऋग 10–65–10

इन दोनो मंत्रों में ब्राम्हण को सुमेधाः कहा गया है। मेधा उत्कृष्ट बुद्धि को कहते है। जिसमें मेधा हो, उत्तम बुद्धि हो, वह सुमेधा कहलायेगा। ब्राम्हणों में उत्तम मेधा शक्ति होनी चाहिये। यह इन और ऐसे ही अन्य मंत्रों से स्पष्ट प्रकट होता है।

ब्राम्हण को तेजस्वी होना चाहिये–

ब्राम्हणों को तेजस्वी होना चाहिये, यह भी वेद के अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होता है। उहारणार्थ निम्न मंत्रो को देखिये।

1. ब्राम्हणासः...............धर्मिणः। ऋग 7–103–8
2. त्विषिरग्नौ ब्राम्हणे सूर्ये या।। अथर्व 6–38–1
3. बृस्पितिम्..............आदीदिवांस हिरण्यवर्णमरूषं सपेम। ऋग 5–43–12
4. तेजिष्ठया तपनी रक्षसस्तप।। ऋग2–23–14

अर्थात (1) ब्राम्हण लोग धर्म तेजवाले होते है। (2) जो तेज अग्नि में, ब्रम्हण में और सूर्य में होता है। (3) जो तेज से दीप्त हो रहा है। जिसकी कान्ति सुवर्ण की तरह हितकारी और रमणीय है ऐसे ब्राम्हण को हम परिचर्या करते है। (4) हे ब्राम्हण तुम अपनी अति तेजस्विनी तापकारिणी शक्ति से राक्षसी पुरूषों को तपाओं।

ब्राम्हण मे तेज होना चाहिये। जैसा तेज अग्नि, सूर्य और सुवर्ण में होता है। वैसा ही तेज कि जिस तेज के आगे दृष्टवृत्ति के लोग खडे न रह सके। ब्राम्हण में शारीरिक और मानसिक दोनो प्रकार का तेज रहना चाहिये। पुरूष में दूसरों पर अपना प्रभाव डाल सकने की, दूसरों को अपना व्यक्तित्व अनुभव करा सकने की जो विशेष शक्ति होती है उसे तेज कहते है। जिन में यह तेज शक्ति होती है। उन्हे कोई दबा नहीं सकता। ब्राम्हणों को ऐसा दुर्धर्ष तेजस्वी होना चाहिये। कि उन्हे कोई दबा न सके।

क्षत्रिय

वेदो की अन्तःसाक्षी पर क्षत्रिय वर्ण –

क्षत्रिय के गुणो और कर्तव्यों के सम्बन्ध में हम यहां वेदो की अन्तःसाक्षी के आधार पर व्याख्या करेंगें –

उदाहरण के लिये ऋग्वेद का निम्न मंत्र देखिये –

त्यान्नु क्षत्रियां अव आदित्यान्याचिषामहे।
सुमृडींका अभिष्टये ।। ऋग 8–67–1

अर्थात – "अभिष्टये अभीष्ट सुखों की प्राप्ति के लिये उत्तम सुख देने वाले उन क्षत्रियान् क्षत्रिय आदित्यान आदित्यों से हम याचना करें"।

जिस सूक्त का यह मंत्र है उसका देवता आदित्य है और सूक्त में मित्र, वरूण, अर्यमा, इन्द्र और आदित्य इन देवताओं के नाम आये है। इसी प्रकार अन्य स्थलों में प्राण, भग, अंश आदि अन्य देवताओं को आदित्य और क्षत्रिय कहा गया है। इस लिये इन्द्र, वरूण, रूद्र आदि देवो के जिन गुणों और कर्तव्यों का वर्णन स्थान स्थान पर उपलब्ध होता है, वे सब क्षत्रियों के गुण और कर्तव्य समझने चाहिये। उदाहरण के रूप में क्षत्रियों के गुणों की ओर निर्देश करने के लिये कुछ मंत्रों यहां भी उद्धत कर देते है।

राष्ट्र–रक्षा क्षत्रिय का कर्तव्य –

क्षत्रियो को राष्ट्र की रक्षा करनी चाहिये।

तद् विषयक कुछ उदाहरण इस प्रकार है –

1. तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य। ऋग 10–40–9–3 अथर्व 5–17–3
2. निषेदतुः साम्रात्ययाः.......क्षत्रिय। ऋग 8–25–8
3. क्षत्राय राजन्यम्। यजुर 30–5

अर्थात (1) "इस प्रकार क्षत्रिय का राष्ट्र रक्षित रहता है।" (2) "मित्र और वरूण ये दोनो क्षत्रिय साम्राज्य के लिये, उसकी रक्षा के लिये अपने अपने अधिकार पदो पर बैठते है"। (3) "सबके उत्पादक परमात्मा ने क्षत्रिय को क्षत्र अर्थात राष्ट्र की रक्षा के लिये बनाया है"।

इन मंत्रों में स्पष्ट रूप में क्षत्रियों का काम राष्ट्र की रक्षा करना बताया गया है।

क्षत्रियों को धृतव्रत होना चाहिये –

वेद के –

धृतव्रताः क्षत्रियाः। ऋग 8–25–8

धृतव्रताः क्षत्रियाः।। ऋग 10–66–8

इन मंत्रों में क्षत्रियो को धृतव्रत कहा है। व्रत के कई अर्थ होते है। ब्रम्हाचर्यादि व्रतो को भी व्रत कहते है। जिन्होने ब्रम्हाचर्यादि व्रतो का धारण किया है। उत्तम कर्मो और नियमों का व्रत धारण किया है उन्हे धृतव्रत कहा जायेगा। क्षत्रियों के पालनार्थ को अपने जीवन मे और राष्ट्र में उत्तम व्रतो का धारण करने वाला होना चाहिये।

क्षत्रियों को सत्य का रक्षक होना चाहिये –

1. **ऋतावना..........क्षत्रियाः।** **ऋग् 8–25–8**
2. **ऋतस्य गोपा......क्षत्रियाः।** **ऋग् 7–64–2**
3. **ऋतसापः क्षत्रियाः।** **ऋग् 10–66–8**
4. **ऋतस्य वो रथ्यः पूतदक्षान् ऋतस्य पस्त्यसदः।** **ऋग् 6–51–9**
5. **ऋतधतीयो वक्मराजसत्याः।** **ऋग् 6–51–10**

अर्थात (1) "क्षत्रिय ऋतवान (अर्थात् सत्य पर चलने वाले) होते है। (2) "क्षत्रिय ऋत के सत्य के गोपा अर्थात रक्षक होते है"। (3) "क्षत्रिय ऋतसाप अर्थात सत्य से सम्बन्ध रखने वाले होते है। (4) "हे वरूण, मित्र, इन्द्र आदि देवो। तुम ऋत अर्थात रथ पर चलने वाले। हो तुम ऋत के घर में रहने वाले हो"। (5) "वे (इन्द्र वरूण आदि) देव सत्य के धारण करने वाले है और वचन के धनियों में सत्य का पालन करने वाले है"।

इन वर्णनों से स्पष्ट है कि क्षत्रियों को सत्य का पालन करने वाला और रक्षक होना चाहिये।

क्षत्रियों को राष्ट्र से हिंसा मिटा देनी चाहिये –

क्षत्रियों के सम्बन्ध में वेद में अन्यत्र कहा है –

1. रिशादसः सत्पतीन्। ऋग 6–51–4
2. सुक्षत्रासों रिशादसः। ऋग 1–19–5
3. को अस्या नो द्रहो अवद्यवत्या उन्नेष्यिति क्षत्रिये वस्या। अथर्व 7–103–1
4. अर्नवाणो ह्योषां पन्था आदित्यानाम्। ऋग 8–18–2
5. व्रता रक्षन्ते अद्रुहः। ऋग 8–67–13

6. ते न आस्नो वृकाणमादित्यासो मुमोचत। ऋग 8–67–14

अर्थात (1) "ये आदित्य लोग क्षत्रिय लोग हिंसको को मारने वाले और भले लोगो के रक्षक है। (2) ये उत्तम क्षत्रिय और उत्तम बल वाले सैनिक लोग हिसंको को मारने वाले है। (3) वस्यः प्रशस्त धन देने की इच्छा वाला कौन क्षत्रिय इस निन्दनीय बातों से मुक्त हिंसा से नः हमारा उद्धार करेगा। (4) अन आदित्यों के मार्ग हिंसारहित है। (5) ये आदित्य क्षत्रिय द्रोहरहित हिंसारहित होकर व्रतो की रक्षा करते है। (6) हे आदित्यो – क्षत्रियों । तुम हमें हिंसक लोगो के मुख से छुड़ाओं।"

इन मंत्रों के वर्णनों से स्पष्ट है कि क्षत्रिय लोग स्वंय किसी से द्रोह नहीं करते, अद्रुह हैं। वे स्वंय किसी की हिंसा नहीं करते क्योंकि वे अर्नवा है। जो औरों की हिंसा करते है। जो औरो से द्रोह करते है, जो औरो को खाना चाहते है। उन्हे क्षत्रिय मारते है। क्षत्रिय हिंसको को मारते है। जिससे वे किसी की हिंसा न कर सके। क्षत्रिय राष्ट्र में से हिंसा को मिटाना चाहते है जिससे कि सब लोग सब के साथ उपकार का जीवन व्यतीत कर सकें। उनकी हिंसा अंहिसा के लिये है।

क्षत्रिय पापनाशक हों –

क्षत्रियों के सम्बन्ध में अन्यत्र वेद में कहा है कि –

1. त उ नस्तिरों विश्वानि दुरिता नयन्ति। ऋग 6–51–10
2. अनागास्त्वे......................दधतु। ऋग 7–51–1
3. आदित्यासो युयोतना नो अहंसः। ऋग 8–18–10

अर्थात (1) "वे आदित्य क्षत्रिय हम से सब पापों को दुरिता दूर करते है। (2) वे आदित्य क्षत्रिय निष्पापत्व में अनागास्त्वे धारण करें अर्थात निष्पाप बनावें। (3) हे आदित्यों क्षत्रियो हमें पाप से छुड़ाओं।

इन मंत्र से स्पष्ट है कि क्षत्रियों का काम राष्ट्र के लोगो को पाप से छुडाना है। क्षत्रिय द्वारा दण्ड धारण का एकमात्र उद्देश्य लोगो को पाप कर्म से दूर रखना होता है।

क्षत्रियो को ज्ञानी होना चाहिये–

वेद में निम्न मंत्र है –

1. आदित्यासः कवयः। ऋग 3–54–10
2. तान् ....उरूचक्षसों नृन। ऋग 6–51–9

3. अयं मित्र ....सुक्षत्रों अजनिष्ट वेधाः। ऋग 3—59—4

(1) आदित्य लोग (क्षत्रिय लोग) कवि होते है। अर्थात प्रत्येक बात का गहरा ज्ञान रखने वाले क्रान्तदर्शी ज्ञानी होते है। (2) वे इन्द्रादि देव, महान ज्ञान रखने वाले मनुष्य होते है। (3) यह मित्र नामक राज्याधिकारी उत्तम बल वाला और निर्माण की शक्ति रखने वाला ज्ञानी होने के कारण ही नियुक्त हुआ है।

क्षत्रियों को बलशाली होना चाहिये —

क्षत्रियों को बलशाली होना चाहिये। इस सम्बन्ध में वेद में कहा है। —

1. दूणाशं क्षत्रमंजर दुवोयु। ऋग 7—18—25
2. अनाप्यं वरूणों मित्रो अर्यमा क्षंत्र राजान आशत ऋग 7—66—11

(1) हे सैनिको तुम्हारा बल नाश न होने योग्य और जीर्ण न किया जा सकने तथा राष्ट्र की परिचर्या सेवा करने वाला हो। (2) वरूण मित्र अर्यमा से आदित्य लोग औरो से प्राप्त न किया जा सकने वाला बल धारण करते है।

क्षत्रियों को तेजस्वी होना चाहिये —

क्षत्रियों को तेजस्वी होना चाहिये ऐसा वेद में स्थान स्थान पर कहा गया है।

1. ते हि श्रेष्ठवर्चसा। ऋग् 6—1—4
2. अदब्धान्। ऋग् 6—51—4
3. ये शुभ्रा घोरवर्पसः। ऋग् 1—19—5
4. अदब्धाः सन्ति पायवः। ऋग् 8—18—2
5. ये अदब्धासः स्वयशसः। ऋग् 8—67—13
6. राजन्ये सा नो देवी ऐतु। अथर्व 6—38—4

अर्थात (1) "वे (इन्द्र आदि आदित्य देव) श्रेष्ठ तेज वाले है। (2) वे किसी से दबते नहीं है। (3) सैनिक लोग जो कि शुभ्र वर्णवाले और शत्रुओं के लिये डरावने तेजस्वी रूपवाले हें (4) ये आदित्य क्षत्रिय किसी से न दबने वाले रक्षक है। (5) जो आदित्य क्षत्रिय लोग किसी से न दबने वाले और अपने यज्ञ से यशस्वी है। (6) क्षत्रिय में जो प्रताप होता है वह दिव्य प्रताप हममें आवे। इन वर्णनो से स्पष्ट है कि क्षत्रियों को किसी से न दबने वाला तेजस्वी होना चाहिये।

क्षत्रियों को निर्भय होना चाहिये —

क्षत्रियों को निर्भय होना चाहिये ऐसा वेद में स्थान स्थान पर कहा है उदाहरण के लिये निम्न मंत्र देखिये।

यथा ब्रम्हा च क्षंत्र च न बिभीतो न रिष्यतः।। अथर्व 2–15–4

अर्थात जिस प्रकार ब्राम्हण और क्षत्रिय न किसी से डरते है और न हिंसित होते है। इस मंत्र में स्पष्ट कहा गया है कि ब्राम्हण और क्षत्रियों को किसी से डरना चाहिये। उन्हे सर्वथा निर्भय रहना चाहिये।

क्षत्रियों को योद्धा होना चाहिये –

क्षत्रियों को शूर वीर और शस्त्रास्त्र में कुशल होना चाहिये ऐसा वेद में स्थान स्थान पर कहा गया है। उदाहरण के लिये निम्न मंत्र खण्ड दखिये। –

आराष्ट्रे राजन्यः शूरः इषव्यो अतिव्याधी महारथी जायताम्। यजुर 22–22

अर्थात् "हे परमात्मन हमारे राष्ट्र में शूरवीर बाण चलाने में निपुण, शत्रुपर गहरा प्रहार करने वाले, बडे बडे रथो पर चढ़कर शत्रुओं से लडने वाले क्षत्रिय राजन्यः उत्पन्न हो। इस प्रकार स्पष्ट है कि क्षत्रियों को शूर वीर और युद्ध विद्या में निपुण होना चाहिये।

क्षत्रियों को सदा प्रजाओं को प्रसन्न रखना चाहिये –

प्रजाओं की भली प्रकार रक्षा और पालन पोषण करके क्षत्रियों को सदा उन्हे प्रसन्न रखना चाहिये। वेद में अनेक स्थानो पर कहा गया है। उदाहरण के लिये निम्न मंत्र देंखिये–

1. त्यान्नु क्षत्रियां अव आदित्यान् याचिषामहे।
   सुमृक्तिकां मित्र सुशेवः। ऋग 8–67–1
2. अयं मित्रः सुशेवः। ऋग 3–59–4
3. आदित्यानामवसा नूतनेन सक्षीमहि शर्मणा शन्तमेन। ऋग 7–51–1
4. स्तस्तये आदित्यासों भवन्तु नः। ऋग 5–51–12
5. आदित्यासों ....मादयन्ताम्। ऋग 7–51–2
6. सोअरज्यत ततो राजन्योजायज। अथर्व 15–8–1

अर्थात् (1) अभीष्ट सुख की प्राप्ति के लिये उत्तम सुख देने वाले उन क्षत्रिय आदित्यों से हम याचना करें। (2) यह मित्र देव आदित्य उत्तम सुख देने वाला है। (3) हम आदित्यों की रक्षा द्वारा अत्यन्त शान्ति देने वाले नये नये सुख और कल्याण से युक्त होंवे। (4)

आदित्य (क्षत्रिय) लोग हमारी उत्तम स्थिति के लिये होवें। (5) आदित्य लोग हमें हर्षित करें। (6) वह क्योंकि प्रजा का रंजन करता है। इसलिये राजा कहलाता है।

इन मंत्रों के वर्णन में स्पष्ट है कि प्रजा की रक्षा और सुख समृद्धि उस का रंजन करना, उसको प्रसन्न रखना क्षत्रियों का प्रधान कर्तव्य है।

क्षत्रियों को राष्ट्र में उत्तम नीति चलानी चाहिये –

क्षत्रियों को अपने राष्ट्र में सदा उत्तम नीति चलानी चाहिये। इस सम्बन्ध में अनेक स्थानों पर उपदेश किया गया है। उदाहरण के लिये निम्न मंत्र देखिये –

1. आदित्यासो नयथा सुनीतिभिः। ऋग 10–63–13
2. सुवनस्य दातृन आदित्यान्यामि। ऋग 6–51–4
3. ते न इन्द्र पृथ्वी क्षाम वर्धन् पूषा भगो अदिदि पच्चंजनाः।
   सुशर्माणः स्ववसः सुनीथा भवन्तु नः सुत्रात्रासः सुगोपाः।। ऋग 6–51–11

इन मंत्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है –

(1) हे आदित्य – क्षत्रिय लोगो। हमें उत्तम नीतियो द्वारा चलाओं। (2) उत्कृष्ट निवास के देने वाले आदित्य – क्षत्रिय लोगो को प्राप्त होता हूं। (3) सम्राट और उसके पूषा भग आदि कर्मचारी हमारी मातृभूमि अदितिः अदीन राष्ट्रशक्ति पांचों जन वे सब हमारे निवास को बढावे, वे सब हमारे लिये सुन्दर सुख देने वाले अच्छी तरह रक्षा करने वाले अच्छी तरह मार्ग दिखाने वाले अच्छी तरह पालन करने वाले और सुगोपाः अच्छी तरह सम्भालकर रखने वाले हो। ये इन्द्र आदि देव पृथ्वी पर आर्यव्रतो की रचना करने वाले है'।।

इन मंत्रों में स्पष्ट कहा गया है कि इन्द्र आदि आदित्य देवलोगो को सुनीति पर चलाते है। वे लोगो को उत्तम नीतियों पर जीवन बिताने के उत्तम मार्गो पर चलाने के कारण उन्हे सुवसन अर्थात उत्तम निवास प्रदानकर्ता कहा गया। ये इन्द्रादि देव सुनीथ है – उत्तम मार्गो पर चलाने वाले है। – वे उत्तम नीति पर चलाकर लोगो को उत्तम निवास देते है, उत्तम सुख देते है, उत्तम रक्षा करते है, उत्तम पालना करते है। और सभी प्रकार से उन्हे सम्भालक रखते है । जितने भी आर्य लोगो के, श्रेष्ठ लोगो के व्रत है – नियम है – उनकी ये इन्द्र आदि देव अपने राष्ट्र में रचना करते है।

इससे स्पष्ट है कि क्षत्रिय लोगो को अपने राष्ट्र में सुनीति, उत्तम राजनीति चलानी चाहिये। उनकी राजनीति में किसी प्रकार की मालिनता नहीं होनी चाहिये।

क्षत्रियों को यज्ञ–यागादि करने चाहिये –

क्षत्रियों को यज्ञ यागादि करने वाला होना चाहिये ऐसा भी आदेश वेद में किया गया है। उदाहरण के लिये निम्न मंत्र देखिये –

1. क्षत्रिया यज्ञनिष्कृतत्र.......................अध्वराणामभिश्रियः। ऋग 10–66–8
2. को यज्ञकामः क उ पूर्तिकामः को देवेषु वनुते दीर्घमायुः। ऋग 7–103–1

(1) "इन्द्र आदि क्षत्रिय लोग यज्ञ में जाने वाले है और हिंसारहित यज्ञो का सेवन करने वाले है। (2) देवो में कौन यज्ञ की कामना वाला कौन पूर्ति की कामना वाला लम्बी आयु को देता है।

प्रथम मंत्र में तो स्पष्ट ही क्षत्रियों को यज्ञ वाला कहा है। क्षत्रिय–लोग हिंसारहित यज्ञों को करने वाले है, ऐसा कहकर यह भी निर्देश कर दिया गया कि क्षत्रियो को यज्ञों में हिंसा नहीं होनी चाहिये। दूसरे मंत्र में भी यज्ञ काम शब्द क्षत्रिय के लिये ही प्रयुक्त हुआ है। मंत्र के पूर्वाद्ध के एक उपखण्ड में यह प्रश्न उठाया गया है कि कौन क्षत्रिय हमारा द्रोह से हिंसा से उद्धार करेगा ? उसी प्रसंग में मंत्र के इस उत्तरार्ध में प्रश्न पूछा गया है कि कौन यज्ञ काम और पूर्ति काम हमें दीर्घ आयु करेगा। तात्पर्य यह है कि यज्ञ की कामना वाला यज्ञ यागादि करने की इच्छा वाला – क्षत्रिय ही अपने राष्ट्र के लोगो को दीर्घ आयु दे सकता है। इससे स्पष्ट होता है कि राष्ट्र में यज्ञ यागादि का प्रचार होने से लोगो की आयु वृद्धि होती हे। क्योंकि ये यज्ञ यागादि कर्म एक विशेष प्रकार से लोगो के शरीरो की पूर्ति करते है। जिससे उन का स्वास्थ्य वृद्धि को पाता है। इसलिये यज्ञ को मंत्र से पूर्ति काम भी कहा है।

क्षत्रियों के गुणों पर ऋषि दयानन्द –

इस प्रसंग को समाप्त करने से पूर्व ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में वेदादि शास्त्रों के आधार पर क्षत्रियों के गुणों की ओर से जा निर्देश किया हे, उसे भी देख लेना चाहिये –

"न्याय से प्रजा की रक्षा अर्थात पक्षपात छोड़कर श्रेष्ठो का सत्कार और दुष्टो का तिरस्कार करना, सब प्रकार से सब का पालन, विद्या धर्म की प्रवृत्ति और सुपात्रो की सेवा में धनादि पदार्थो का व्यय करना, अग्निहोत्रादि यज्ञ करना व कराना, वेदादि शास्त्रों का पढना तथा पढवाना और विषयों में न फंस सके जितेन्द्रिय रहके सदा शरीर और आत्मा से बलवान रहना – ये पांच कर्म क्षत्रिय के है। शौर्य सैकडो सहस्त्रों से अभी अकेला युद्ध करने में भय

न होगा। सदा तेजस्वी अर्थात दीनता रहित प्रगल्भ, दृढ़ रहना। धैर्यवान होना। राजाओं और प्रजा सम्बन्धी व्यवहार और सब शास्त्रों में अति चतुर होना। युद्ध में भी दृढ़ निशंक रहके उससे कभी न हटना, न भागना अर्थात इस प्रकार से लड़ना कि जिससे निश्चित विजय होवे। आप बचे जो भागने से वा शत्रुओं को धोखा देने से जीत होती हो तो ऐसा ही करना, दानशील रहना, पक्षपात रहित होके सबके साथ यथा योग्य वर्तना। विचार के देना, प्रतिज्ञा पूरी करना, उसको कभी भंग न होने देना। ये ग्यारह क्षत्रिय वर्ण के कर्म और गुण है।

वैश्य

वेदों की अन्तःसाक्षी पर वैश्य वर्ण –

अब आइये वैश्य वर्ण पर विचार करें। वैश्य वर्ण पर पुरूष सूक्त के आधार पर देख आये है कि वैश्य शरीर का मध्यभाग है शरीर का मध्यभाग पेट जिस प्रकार शरीर के प्रत्येक अंग के लिसे रस भोजन तैयार करके देता है। उसी प्रकार समाज का जो भाग राष्ट्र के लिये भोजन, वस्त्रादि सामग्री जुटाता है उसे वैश्य कहते है। भोजन, वस्त्रादि, सामग्री खेत, पशुपालन, व्यापार, व्यवसाय, लेनदेन आदि के द्वारा ही उत्पन्न हो सकती और सब जनता तक पहुंच सकती है। इसलिये खेती, पशु पालन, व्यवसाय, लेन देन आदि। सब काम वैश्य के कहे जाते है। संस्कृत में "विश्" प्रजा को कहते है। यह शब्द प्राय "विश्" अपने बहुवचनान्त रूप में प्रयुक्त होता है। जो विश अर्थात प्रजाओं के जिये साधु हो, हितकारी हो, उसे वैश्य कहते है। वैश्य भोजन वस्त्रादि सब प्रजाननों तक पहुंचाकर उनका हित करता है। इसलिये वह वैश्य है। वेद में वैश्य के लिये विश्य शब्द भी आता है। दोनो शब्दों का एक ही अर्थ है। प्रजावाचक विश शब्द भी वैश्य के लिये बहुत बार प्रयुक्त हुआ है। किसी भी राष्ट्र की प्रजा में सदा ही वैश्यों की बहुत अधिक संख्या रहेगी। ब्रम्हण, क्षत्रिय, शूद्र वैश्यों की अपेक्षा सदा ही बहुत थोड़े रहेगे। प्रजाओं का बहुत बड़ा भाग वैश्य होने के कारण वैश्यों को प्रजावाची विश शब्द से ही कह दिया जाता है। लौकिक संस्कृत तक में विश शब्द वैश्य के लिये भी प्रयुक्त होता है।

वैश्यों के कर्तव्यों की ओर एक भावगर्भ संकेत मरूदभ्यों वैश्यम् (यजुर् 3015) इस मंत्र खण्ड में किया गया है। कि सब के उत्पादक सविता परमात्मा ने वैश्य को मरूतो के लिये बनाया है। मरूत का शब्दार्थ है – मरने और मारने वाला। मनुष्य मरते भी रहते है और युद्ध में लड झगडकर एक दूसरे को मारते भी रहते है। इसलिये मनुष्य मरूत कहलाते है। वेद में

सैनिको को विशेष रूप से मरूत कहा जाता है। क्योंकि सैनिको मे मरने मारने का गुण विशेष रूप से पाया जाता है। परन्तु इस वाक्य में का अर्थ सैनिक न करके सामान्य मनुष्य हीकरना होगा। क्योकि जिस मंत्र का यह वाक्य है उसमें ब्राम्हण क्षत्राय राजन्य मरूदभ्या वैश्य तपसे शूद्रम ऐसा कहकर चारो वर्णो के कर्तव्य की ओर संक्षिप्त निर्देश किया गया हे। ब्राम्हणे ब्राम्हण को ब्रम्हा अर्थात वेद और वेदोपलक्षित ज्ञान के लिये बनाया गया है। ब्राम्हणको ज्ञान अर्जन और प्रजाओं में उसके प्रचार का काम करने के लिये बनाया गया है। क्षत्राय राजन्यं क्षत्रिय और राष्ट्र के क्षत त्राण के लिये बनाया गया है। राज्य प्रबन्ध द्वारा राष्ट्र की रक्षा करना क्षत्रियों का काम है। तपसे शूद्रम" शूद्र को तप के लिये बनाया है। सब वर्णो की सेवा रूप तप करना शूद्र का काम है। इन वाक्यों के मध्य ग्रथित वाक्य है। मरूदभ्यों वैश्यम" अर्थात मरूतो के लिये वैश्य को बनाया गया है। इसलिये इस वाक्य में मरूतो के कर्तव्यों की ओर निर्देश होना चाहिये। यहां मरूत का अर्थ सैनिक नही किया जा सकता। क्योंकि सैनिक होना क्षत्रिय का क्षेत्र है, वैश्य का नहीं। अतः यहां मरूत का अर्थ सामान्य पुरूष लेना होगा। अब मंत्र खण्ड का अर्थ हुआ वैश्य को मनुष्यो के लिये बनाया गया हे। मनुष्यमात्र की पालना जिन भोजन, वस्त्र आदि साधनों द्वारा होती है उनको कृषि और व्यापार द्वारा उत्पन्न करना फिर उन्हे मनुष्यों तक पहुंचाना वैश्य का कर्तव्य है।

वेद मे स्थान स्थान पर इसकी ओर निर्देश किया गया है –

1. यया वणिग्वड़कुरापा पुरीषम्। ऋग 5–45–6
2. याभिः सुदानु औशिजाय वणिजे दीर्घश्रवसे मधु कोशो अक्षरत्।
   कक्षीवन्त स्तोतारं याभिरावंत ताभिरूषु ऊतिभिरश्विना गतम्। ऋग् 1–112–11

इन मंत्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है –

(1) "हे अश्वियों ! जिस बुद्धि से सर्वत्र गति करने वाला व्यापारी लोगो को पालन पोषण करने वाले अन्न आदि को प्राप्त करता है। उस बुद्धि को हम प्राप्त करें।"

हमने मंत्र में पुरीष का अर्थ पालन पोषण करने वाला अन्न किया है। यह शब्द पृ धातु से जिसका अर्थ पालन और पूरण करना होता है। बनता है। जो पालना करें और क्षति की पूर्ति करें, उसे पुरीष कहेंगे। इस योगार्थ के आधार पर यह शब्द अनेक अर्थो में प्रयुक्त होता है। ब्राम्हणग्रन्थों मे इसके अन्न आदि अर्थ भी किये गये है – उदाहरण के लिये देखिये –

1. अन्नं पुरीषम्। शतपथ 8–1–4–5
2. पशवः पुरीषम्। शतपथ 8–7–4–16

3. गोष्ठः पुरीषम्। 13–4–13

4. पुरीष्य इति वै तमाहुर्यः श्रिंय गच्छति। शतपथ 2–1–1–7

इन स्थलों में (1) अन्न को (2) पशुओं को (3) गोष्ठ अर्थात पशुओं के रहने के स्थानों को पुरीष कहा गया है। अन्तिम वाक्य में जो पुरूष श्री को प्राप्त करता है उसे "पुरीष्य" कहा गया है। इससे धन सम्पत्ति का नाम पुरीष सिद्ध होता है। मंत्र खण्ड में व्यापारियों का वर्णन चल रहा है। इसलिये यहां पुरीष का अर्थ विविध प्रकार के अन्न भांति भांति के पशु मकान और अनेक प्रकार की धन सम्पत्ति करना होगा। मंत्र मे व्यापारी के लिये वणिक शब्द का प्रयोग हुआ है। वणिक शब्द "वण" धातु से बना है। जिसका अर्थ व्यवहार करना होता है। जो भांति भांति के व्यवहार व्यापार करे उसे वणिक कहते है। मंत्र में वणिक का एक विशेषण "वडंकुः" आया है। यह शब्द वचु "धातु से" जिसका अर्थ गति करना होता है। बनता है जो व्यापार के लिये देश देशान्तर में गति करें आवे जावे, उसे वंडकु कहेंगे। सायणाचार्य ने प्रस्तुत मंत्र में वडकु का अर्थ वनगामी किया है। वन के वेद में कई अर्थ होते है। जंगल भी पानी भी होता है। व्यापारियों को वनगामी होना चाहिये। उन्हे जंगल में जाना चाहिये। उन्हे विभिन्न प्रकार की लकडियों, औयषधियों और दूसरे पदार्थो जगंलों में से लाकर उसका व्यापार करना चाहिये। उन्हे समुद्रो में जाकर वहां से मोती, मूंगे आदि विभिन्न सामुद्रिक पदार्थो को लाकर उनका व्यापार करना चाहिये। मंत्र का भाव यह भी निकलता है कि व्यापारियों को जहाजो में बैठकर समुद्र पार के देशो में भी व्यापार के लिये जाना चाहिये। इस प्रकार इस मंत्र से वैश्यों के सम्बन्ध में निम्न परिणाम निकलते है।

1. उन्हे व्यापार के लिये देश देशान्तर में जाना चाहिये।
2. उन्हे जंगलों में जाकर वहां से भांति भांति के पदार्थ लाकर उनका व्यापार करना चाहिये ।
3. उन्हे समुद्रो में जाकर वहां से मोती मूंगे आदि विविध प्रकार के सामुद्रिक पदार्थ लाकर उनका व्यापार करना चाहिये।
4. उन्हे पुरीष अर्थात अनाज, पशु और सोना चांदी आदि धन सम्पत्ति को उत्पन्न करके उसका व्यापार करना चाहिये।
5. उन्हे व्यापार के लिये जहाजों में बैठकर समुद्र पार के देशो मे भी जाना चाहिये।
6. उन्हे व्यापार के लिये उपयोगी विशेष बुद्धि को अपने में उत्पन्न करना चाहिये।

अब अगले मंत्र को लीजिये –

(2 "उत्तम रीति से दान देने वाले अश्वियों ! जिन तुम्हारी रक्षाओं के कारण मेधावान और दीर्घकाल तक जिसने विद्याओं का श्रवण किया है ऐसे व्यवहार कुशल वैश्य के लिये कोशः धन कोश मधु को बहाता है। और जिन अपनी रक्षाओं से हस्तकुशल शिल्पी स्तोता की तुम रक्षा करते हो उन अपनी रक्षाओं के साथ हे अश्वियों तुम भले प्रकार आओ।"

मंत्र में वणिक् को औशिज कहा है। यह शब्द उशिज् शब्द से स्वार्थ में अण् प्रत्यय होकर बनता हे। इस प्रकार उशिज और औशिज का एक ही अर्थ हो जाता हे। निघण्टु में यास्काचार्य ने उशिज का अर्थ मेधाशाली किया है। उशिज शब्द उणादि कोश में वश धातु से सिद्ध किया गया है। इस धातु का अर्थ कान्ति प्रकाश करना होता है। इसलिये उशिज उन मेधावी विद्वानों को कहेंगे जो भांति भांति के विद्या विज्ञानों को जानने के इच्छा रखते है। यहां यह शब्द वणिक का विशेषण होकर आया है। जो वणिक नई नई बातो को सीखने के इच्छुक और नये नये व्यापार व्यवसायों को करने की इच्छा वाले होंगे। उन्हे उशिक या औशिज कहा जायेगा। मंत्र में वणिक का एक दूसरा विशेषण दीर्घवश आया है। जिसने दीर्घकाल तक गुरू के मुख से विविध विषयों का वर्णन किया हो, उसे दीर्घश्रवस् कहते है। भाव यह है कि वैश्यों को अपने कामो सम्बन्ध रखने वाले विद्याओं को गुरूकुलो में यथोचित समय तक सीखकर अपने कार्यो में लाना चाहिये।

मंत्र में एक शब्द कक्षीवान भी आया है। यह भी वणिक का ही विशेषण है। यद्यपि इसका प्रयोग इस प्रकार हुआ है। कि यह शब्द आपात वणिक का विशेषण प्रतीत नहीं होता। वेद में अन्यत्र कक्षीवान् शब्द औशिज होकर प्रयुक्त हुआ है। उशिज का पुत्र होने के कारण ही उसे औशिज कहा गया है। इसलिये प्रस्तुत मंत्र को औशिज का और उसके द्वारा वणिक का विशेषण समझना चाहिये। कक्षीवान् का अर्थ यास्काचार्य ने निरूक्त मे कक्षावान अर्थात कक्षयाओं वाला ऐसा किया है। कक्ष्या का अर्थ यास्क ने ही निघण्टु में अंगुली किया है। कक्ष्या का धात्वर्थ यास्क ने निरूक्त में कर्मो को प्रकाशित करने वाली किया है। अंगुलिया के द्वारा अनेक प्रकार के काम किये जाते है। इसलिये उन्हे कक्ष्या कहते है। कक्ष्याओं में अंगुलियों में रहने वाली क्रियाओं को भी कहा जाता है। भाव यह है कि अंगुलियों द्वारा जो भांति भांति की शिल्पक्रियायें की जाती है। उन्हे भी कक्ष्या कहा जायेगा। इन कक्ष्याओं वाले पुरूष को कक्षीवान कहा जायेगा। जिनकी अंगुलियों में, जिनके हाथों में कौशल है और उसके द्वारा विविध प्रकार के शिल्पों को जो करते है, ऐसे विद्वानों को कक्षीवान कहा जायेगा। ऋषि

दयानन्द ने ऋग 1–18–1 के भाष्य में कक्षीवान का यही अर्थ किया है। यहां यह शब्द वणिक के लिये प्रयुक्त हुआ है। इसलिये जो वैश्य अपने हाथों से भांति भांति की चीजो का निर्माण करके उनका व्यवसाय करते है, वे कक्षीवान कहलायेंगे।

मंत्र में कहा गया है कि अश्विनों की रक्षा में रहकर वैश्यों का कोष मधु बहाने लगता है। अश्विनौ विभाग के राजकर्मचारियों को कहते है कोश में खजाने को कहते है। वैश्य लोग व्यापार में अपना कोश लगाते है। अपना धन खर्च करते है। अश्विनौ की उनको रक्षा प्राप्त होती है। इस रक्षा का परिणाम यह होता है कि उनका व्यापार खूब फलता फूलता है। व्यापार में लगाये हुये उनके कोश से उन्हे खूब मधु अर्थात फल लाभ और तज्जन्य सुख मंगल प्राप्त होता है (जैसे किसीको कोश अर्थात मधु मक्खियों के छत्ते से मधु प्राप्त होता है)

मंत्र में कक्षीवान् का एक विशेषण स्तोता आया है। स्तोता का अर्थ किसी के गुणों का बखान करने वाला, प्रशंसा करने वाला होता है। कक्षीवान् को अश्वियों का स्तोता कहा गया है। इस विशेषण की ध्वनि यह है कि जब वैश्यों को अपने काम में किसी प्रकार की कठिनाई उपस्थित हो तो उन्हे अश्वियों और उनसे उपलक्षित अन्य राज कर्मचारियों से उन्हे दूर करने की प्रार्थना करनी चाहिये और राज कर्मचारियों को इन कठिनाईयों को दूर करना चाहिये।

इस प्रकार इस मंत्र से वैश्यों के सम्बन्ध में निम्न परिणाम निकलते है –

1. वैश्यों को औशिज होना चाहिये। उन्हे नई नई बातो को सीखने और नये नये व्यापार व्यवसायों को करने की इच्छावाला होना चाहिये। इस वृत्ति के बिना वैश्य की उन्नति नहीं हो सकती।

2. वैश्यों को गुरूकुलों में यथोचित समय लगाकर वैश्य के कर्मो से सम्बन्ध रखने वाली विविध विद्याओं को सीखना चाहिये। तदन्तर ही उन्हे व्यापार, कृषि आदि के कामों में पडना चाहिये।

3. वैश्यों को भांति भांति के शिल्पो द्वारा विविध प्रकार की वस्तुओं का निर्माण करके ही उनका भी व्यापार करना चाहिये।

4. वैश्यों को व्यापार में धन का विनियोग करना चाहिये। जो वस्तु वे स्वंय नहीं बना सकते उनको (उनका निर्माण करने वाले वैश्यों से खरीदकर उन्हे) उनका व्यापार करना चाहिये।

5. राज्य कर्मचारियों को वैश्यों की सब प्रकार की रक्षा और सहायता करनी चाहिये।

सामान्य प्रजा के लिये सत्य, सदाचार आदि आर्यत्व के जिन गुणों का होना आवश्यक ह वे तो सब वैश्यों में भी रहेंगे ही इसलिये उन्हे यहां दिखाना आवश्यक नहीं समझा गया।

वैश्यो के गुणों पर ऋषि दयानन्द –

इस प्रकरण को समाप्त करने से पूर्व ऋषि दयानन्द ने शास्त्रों के आधार पर सत्यार्थप्रकाश में वैश्यों के जो गुण लिखे है, उन्हे भी देख लेना चाहिये –

"गाय आदि पशुओ का पालन, वर्द्धन करना, विद्या धर्म की वृद्धि करने कराने के लिये धन आदि का व्यय करना, अग्निहोत्री यज्ञो का करना, वेदादि शास्त्रों को पढ़ना, सब प्रकार के व्यापार करना, कुसीद (अर्थात एक सैकडे में चार, छः, आठ, बारह सोलह) या बीस आनो से अधिक ब्याज और मूल से दूना अर्थात एक रूपया दिया हो तो सौ वर्ष में भी दो रूपये से अधिक न लेना और न देना, खेती करना ये छः वैश्य के कर्म है।"[1]

शूद्र

वेद के पुरूष सूक्त में शूद्र की पैर से उपमा दी गई है। जो काम शरीर में पैर का है वही समाज में शूद्र का है। पैर शरीर को ऊपर उठाये रखते है। उसे उठाकर एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाते है। स्वंय मिटटी, कीचड़, धूल आदि में रहते है। पर शेष शरीर को साफ बचाये रखते है। पैरो मे बाकी शरीर की सेवा का ही यह एक प्रधान गुण है। और कोई विशेष गुण पैरों में नहीं होता। जो लोग ज्ञान आदि विशेष गुण अपने में नहीं रखते इसलिये वे समाज में ब्रम्हण आदि अन्य अंगो की सेवा का ही काम कर सकते है। वे शूद्र कहलाते है। इसलिये ऋषि दयानन्द ने संस्कार विधि में शूद्र के सम्बन्ध मे लिखा है। –

"जो विद्या विहीन जिसको पढ़ने से भी विद्या न आ सके। शरीर से पुष्ट, सेवा में कुशल हो वह शूद्र है। किसी वंश विशेष में जन्म लेने के कारण कोई शूद्र नही है। राष्ट्र के सब बच्चों को पढ़ाने के लिये गुरूकुलों में भेजा जायेगा। वहां जो बच्वे पढ़ने का अवसर दिये जाने पर भी पढ लिख नहीं सके, विद्या विज्ञान की कोई बात नहीं सीख सके और ऐसा काम नहीं कर सकते, जिसमें बुद्धि की, समझ की, कौशल की विशेष आवश्यकता पड़ती हो, उन्हे शूद्र कहा जायेगा। जो लोग ब्राम्हण आदि वर्णो के घर में सेवा का काम करके अपना जीवन निर्वाह और राष्ट्र की सेवा करते है। वे शूद्र कहलायेगे। ये सब पुरूष सूक्त वर्णित पदभ्यां

---

1. मनु 1 / 90 के आधार पर /

शूद्रो अजायत द्वारा दी गई पैरों की उपमा से सूचित होते है। उसके अतिरिक्त यजुर्वेद के तपसे शूद्रम वाक्य में भी शूद्र के कर्तव्यों की ओर संकेत किया गया है।

इस वाक्य का पूर्णाथ यह है कि सबके उत्पादक सविता परमात्मा ने शूद्र को तप करने के लिये बनाया है। इससे पहले कि तीन वाक्यों में ब्राम्हण आदि तीन वर्णो के कर्तव्यों की ओंर संकेत किया गया है। तप का शब्दार्थ कष्ट सहना होता है। तप का सम्बन्ध वेद में अन्यत्र ब्राम्हणादि के साथ भी वर्णन किया गया है। ब्राम्हण आदि को भी तपस्वी होने के लिये कहा गया है। ब्राम्हण आदि के साथ जब तप का सम्बन्ध बताया गया है। तब इस का अर्थ शरीर से सम्बन्ध रखने वाले स्थूल कष्टो के अतिरिक्त मन और आत्मा से सम्बन्ध रखने वाले सूक्ष्म कष्टो को सहन करना भी होता है। शान्त, दान्त और विद्यावान आदि बनने में जो सूक्ष्म प्रकार के मानसिक और आत्मिक कष्ट सहने पडते है उनका भी समावेश अभीष्ट होता है। शूद्र के तप में इन सूक्ष्म प्रकार के तपो को ग्रहण नहीं करना होता। यदि इन तपों को भी शूद्र के तप में समाविष्ट किया जाये तो फिर ब्राम्हण और शूद्र मे कोई भेद नहीं रहता। शूद्र का ब्रम्हणादि से यह भेद वेद ने स्पष्ट रूप में किया है। इसलिये शूद्र के तप में केवल शरीर के स्थूल कष्टो का ही समावेश करना होता। शूद्र के जो काम है, वे शरीर से ही सम्बन्ध रखते है। उसे अपने कामों को करते हुये अपने शरीर को कष्ट देना होता है। द्विजो के घरो में वर्तन मांजना, झाडू देना, भोजन बनाना, पानी आदि भरना, भार उठाना, सडको पर रोडी आदि कूटना, तथा इसी प्रकार के दूसरे भी जितने बुद्धि अनपेक्ष काम है, वे शूद्रो के काम है और इनमें शूद्रो को मुख्यतः शरीर का तप करना पडता है। यजुर्वेद के तपसे शूद्रम वाक्य का यही अभिप्राय है।

शूद्र के साथ किसी प्रकार की घृणा का भाव वेद में नहीं है। यह बात पाठको को ह्रदयंगम कर लेनी चाहिये। कि शूद्र भी शरीर का उसी प्रकार घनिष्ठ औरं प्यारा अंग है जिस प्रकार हमारे शरीर का घनिष्ठ और प्यारा अंग पैर होता है। शूद्र भी अपने कामो द्वारा समाज शरीर की सेवा ही कर सकता है। इसलिये वेद में ब्राम्हण, क्षत्रिय वैश्य की भांति शूद्र वर्ण को भी इन्द्र का शेवधिपा कहा गया है। इन्द्र सम्राट राष्ट्र अथवा समाज सुखो के जिस शेवधि खजाने का निर्माण करता है। उसका रक्षक शूद्र भी है। शूद्र भी इन्द्र की आज्ञा में चलता हुआ अपने निर्धारित कर्मो को प्रसन्नता से करता हुआ समाज के सुख बढ़ाने में योग देता है। इस भांति वर्णो का भेद वेद की दृष्टि में विभिन्न प्रकार के कार्यो द्वारा समाज की सेवा के

भाव पर अवलम्बित है। उसका आधार जन्म पर आश्रित ऊंच नीच की भावना कदापि नहीं। वेद में ऐसी हीन भावना के लिये कोई स्थान नहीं है।

शूद्र के गुणों पर ऋषि दयानन्द –

"शूद्र को योग्य है कि निन्दा, ईर्ष्या, अभिमान आदि दोषो को छोड़कर ब्राम्हण, क्षत्रिय, और वैश्यों की सेवा यथावत करना और उसी से अपना जीवनयापन करना यही एक कर्म शूद्र का है।"

आश्रम–व्यवस्था

जिस प्रकार मनुष्य समाज को वेद ने ब्राम्हण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारो विभागो में बांटा है, उसी प्रकार प्रत्येक नर नारी के व्यक्तिक जीवन को भी ब्रम्हाचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संयास इन चारो आश्रमों में विभक्त किया है।

ब्रम्हचर्याश्रम –

ब्रम्हचर्याश्रम में प्रत्येक बालक और बालिका को अपनी रूचि, संस्कार और सामर्थ्य के अनुसार चारों वर्णो मे से किसी एक को अपने जीवन का लक्ष्य बनाकर उसके कर्तव्यानुसार योग्यता सम्पादन करनी होती है। शरीर, मन, आत्मा की शक्तियों का पूर्ण संचय करके स्वंय को अभीष्ट वर्ण के आदर्शनुसार ढालना होता है। समाज के प्रत्येक बालक और कन्या को जीवन के प्रथम भाग में गुरूकुल में आचार्य के पास जाकर ब्रम्हाचारी रहना होता है। अथर्ववेद के ग्यारहवें काण्ड के पांचवे सूक्त में इस बात का अदभुत कवितामय ढंग से स्पष्टतया उल्लेख है कि राष्ट्र के प्रत्येक कुमार और कुमारी को आचार्य के पास रहते हुये ब्रम्हाचर्य के जीवन में संसार की सब चिन्ताओं से मुक्त होकर अपने मन और इन्द्रियों का पूर्ण संयम करके अपने शरीर को बल से मस्तिष्क को भांति भांति की विद्याओं से तथा आत्मा को पवित्र गुणो से भरने की एकमात्र चिन्ता रखनी चाहिये। इसी बात को ऋग्वेद के नवम मण्डल के एक सौ बारहवें सूक्त में बड़ी सुन्दर रीति से दर्शाया गया है कि शिक्षणालयों में विद्यार्थियों की अभिरूचि और शक्ति के अनुसार उन्हें भिन्न भिन्न प्रकार की विद्याओं और कलाओं को पढ़ाने का प्रबन्ध होना चाहिये। इस प्रकार ब्रम्हाचर्याश्रम में ब्रम्हाचारी पूर्ण संयम का जीवन व्यतीत करते हुये (चारो में से किसी एक वर्ण को) अपने जीवन के लक्ष्य को निर्धारित कर लेना चाहिये और उस वर्ण से सम्बन्ध रखने वाले किसी क्रियाक्षेत्र को वरण

करके उसके द्वारा समाज की सेवा करने के योग्य अपने आप को बनाने के लिये आवश्यक विद्या की प्राप्ति में जुट जाना चाहिये।

गृहस्थाश्रम –

इस भांति की सेवा के लिये पूरी तरह अपने आप को तैयार करके समाज की क्रियात्मक सेवा करने के लिये वह गृहस्थ आश्रम मे प्रवेश करता हें गृहस्थाश्रम में अपने गुण कर्म, स्वभाव की सवर्ण कन्या और सवर्ण वर से विवाह करके स्त्री–पुरूष को अपने संकलिप्त वर्ण के अनुसार राष्ट्र सेवा के सांसारिक कर्तव्यों का जीवन व्यतीत करना होता है। जीवन के प्रथम भाग में ब्रम्हाचारी रहकर स्त्री पुरूषो को जीवन के दूसरे भाग में गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करना चाहिये, ऐसा विधान वेदो में अनेक स्थानों पर किया गया है। इस सम्बन्ध में विशेष रूप से ऋग़ 10–85 और अथर्व 14–12 सूक्त देखने योग्य है। गृहस्थाश्रम में राष्ट्र के लिये उत्तम सन्तान उत्पन्न करने तथा क्रियात्मक और सशक्त रूप में राष्ट्र की अपने अपने वर्ण के अनुसार सेवा करने के पश्चात स्त्री पुरूषो को अगले आश्रम में प्रवेश करना चाहिये।

वानप्रस्थाश्रम –

अगला आश्रम वानप्रस्थ है। इस सम्बन्ध मे जीवन के तीसरे भाग में आना होता है। जहां नर नारी का अपना समय संन्यासाश्रम की तैयारी करने और पहलें दो आश्रमों की शिक्षा और अनुभवों के आधार पर जाति के बालक और बालिकाओं को निशुल्क विद्या पढ़ाने आदि जन सेवा के कामों में लगाना होता है। जिन नर नारियों ने ब्रम्हाचर्याश्रम में ब्राम्हण वर्ण का चुनाव किया था, वे तो गृहस्थाश्रम में भी गुरूकुलों में विद्या पढ़ाने का काम कर सकेंगें। अन्य वर्णो के लोग भी वानप्रस्थ में आकर पढाने का काम ही करेंगे। वानप्रस्थाश्रम का विधान देखने के लिये ऋग 10–146 और अथर्व 9–5 सूक्त देखने चाहिये।

संन्यासाश्रम –

जीवन के चतुर्थ भाग में नर नारियों को संन्यासाश्रम में प्रवेश करना होता है। इस आश्रम में अपने पराये देश विदेश के भेद को भुलाकर मनुष्य मात्र को धर्म सत्य और न्याय का उपदेश करते हुये नगर नगर और गांव गांव मे विचरना होता है। संन्यासाश्रम में मनुष्य मात्र को अपना कुटुम्बी समझने की भावना उत्पन्न करनी होती है। इस आश्रम में राग द्वेष, लोभ मोह, काम क्रोध, भय शोक, मान अपमान आदि सब द्वन्द्वो से ऊपर उठकर सच्चिदानन्द

ब्रम्हा मे अपनी वृत्ति लगाये रखनी होती है। प्राणी मात्र पर दया और मनुष्य मात्र को सत्य और धर्म का उपदेश करते हुये विचरना होता है। संन्यासारम मे वही प्रवेश कर सकता है। जिसने स्वंय को ब्रम्हाचर्य आश्रम में ब्राम्हण बना लिया है अथवा पुनः वानप्रस्थ में जाकर साधना द्वारा अपने को ब्राम्हण बना लिया है। इस प्रकार संन्यास मे केवल ब्राम्हण ही जा सकता है। शेष तीन आश्रमों का पालन द्विज मात्र को करना होगा। संन्यासी संसार भर का उपदेष्टा और गुरू होने का भार अपने कन्धो पर उठा लेता है। इसलिये संन्यासी को वैदिक शास्त्रों में जगद्‌गुरू कहा जाता है। शास्त्रों में सन्यासी को परिव्राट सर्वत्र विचरण करने वाला और दिशा पति कहा गया है। क्योंकि उसका यह विधान विशेसतया ऋग 9–113 में एवं सामान्यत अन्यत्र भी किया गया है।

वेद के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को कम से कम सौ वर्ष तक अवश्य जीना चाहिये। सौ वर्ष की आयु को शास्त्रकारों ने मनौवैज्ञानिक आधार पर पच्चीस पच्चीस वर्ष के चार आश्रमों में बांट दिया है। जिसके अनुसार व्यक्ति को सामान्यत प्रत्येक आश्रम में 25 वर्ष तक रहना होगा। आवश्यकता पड़ने पर गृहस्थ आश्रम की अवधि में 4–5 वर्ष की वृद्धि भी हो सकती है। क्योंकि शास्त्रकारों ने लिखा है कि जब पुत्र के पुत्र हो जाये तब वानप्रस्थ में प्रवेश करे। इसमें कभी भी 4–5 वर्ष अधिक लग जाना भी संभव है। इसके बाद प्रत्येक पुरूष को वानप्रस्थ में जाना ही होगा। यह अवसर उसे इसलिये दिया जाता है। कि वह अपने को ब्राम्हण बना सके जिससे उसका संन्यास तथा मोक्ष का मार्ग प्रशस्त हो सके अन्यथा मृत्युपर्यन्त वानप्रस्थ में ही रहें।

क्रमिक आश्रम–प्रवेश –

50–55 वर्ष की आयु के पीछे गृहस्थाश्रम त्याग देने का यह नियम उन लोगो के लिये है जो वसु ब्रम्हाचारी रहते है। इनसे भिन्न जो रूद्र और आदित्य नामक अखण्ड ब्रम्हाचर्य का पालन करके गृहस्थाश्रम में जायेगे। वे गृहस्थ में 60–65 और 75–80 की आयु तक रह सकेंगे। यहा हमने पुरूषों की आश्रम मर्यादा की ओर संकेत किया है। स्त्रियों के लिये उन की शारीरिक रचना की दृष्टि से कुछ भिन्न नियम है।

सब लोगो को क्रमपूर्वक प्रत्येक आश्रम का पालन करते हुये संन्यासाश्रम तक जाना चाहिये। यह क्रमिक आश्रम प्रवेश व्यक्ति के लिये अधिक सरल और सुरक्षित है। अति उत्कष्ट

वैराग्यवाले ब्राम्हण लोग ब्रहम्चर्य के पश्चात अथवा गृहस्थ के पश्चात सीधे भी सन्यास में जा सकते है।

वेदो में इन चारो आश्रमों का विधान है। वेद की शिक्षा के आधार पर मनु आदि शास्त्रकारों ने आश्रमों के नियमों और कर्तव्यों का बड़ा सुन्दर और विस्तृत वर्णन किया है। जिन्हे विस्तार से जानना हो तो उन्हे वेद और मनु आदि अन्य आर्य शास्त्रों के तद्विषयक स्थलों का स्वाध्याय स्वंय करना चाहिये। ऊपर की पंक्तियों में आश्रमों में जो लिखा गया है। वह इन ग्रन्थों में जो कुछ लिखा है उसी का संक्षिप्त आशय मात्र है। इस सम्बन्ध में इससे अधिक लिखना यहां आवश्यक भी नही।

वर्णाश्रम–मर्यादा और राज्य

वर्णो और आश्रमों की इस व्यवस्था का राष्ट्र में ठीक ठीक पालन हो रहा है अथवा नहीं। यह देखना राज्य का काम है। राज्य ही राष्ट्र के सब लोगो से इस वर्णाश्रम मर्यादा का समुचित पालन कराये। वेद में इस सम्बन्ध में पर्याप्त निर्देश मिलते है। उदाहरण के लिये निम्न वेदमंत्र देखिये –

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरूत मानुषेभिः।
यं कामये तमुग्रं कृणोमि तं ब्रम्हाणं तमृषिं तं सुमेधाम्।। ऋग 10–125–5

यह मंत्र राष्ट्री संगमनी सूक्त का है। इस सूक्त का राजसभा का वर्णन है। वह स्वंय कहती है –

"मैं राष्ट्रसभा ही स्वंय यह बात कहती हूं कि जो भी कोई दिव्य भावनाओ वाले विद्वान पुरूषों द्वारा और साधारण मनुष्यों द्वारा प्रीति करने योग्य और सेवनीय होती है। जिसको मैं चाहती हूं। उस उस को शक्तिशाली क्षत्रिय उस उस को ब्राम्हण उस उस को ऋषि और उस उस को अच्छी बुद्धि वाला प्रजा का सामान्य वैश्यजन बना देती हूं।"

मंत्र के पूर्वाद्ध का अभिप्राय यह है कि राष्ट्रभाषा ऐसी बाते बोलती है ऐसे नियम बनाती है और ऐसे निर्णय करती है जो प्रजा के देवपुरूषों और सामान्य लोगो को लिये भी प्रीतिजनक और सेवनीय होते है। जो सबके हितकारी और सबको पसन्द आने वाले होते है। मंत्र के उत्तराद्ध का यह भाव है कि राष्ट्रभाषा ही यह निर्णय करती है कि कौन ब्राम्हण, कौन क्षत्रिय ओर कौन वैश्य है। राष्ट्रसभा ऐसे नियम और व्यवस्था बना देगी जिनसे ब्राम्हणादि वर्ण

का निर्णय हुआ करेगा। जो व्यक्ति राज्यसभा द्वारा निर्धारित योग्यता का प्राप्त कर लेगा वही ब्राम्हणादि कहा जायेगा ।
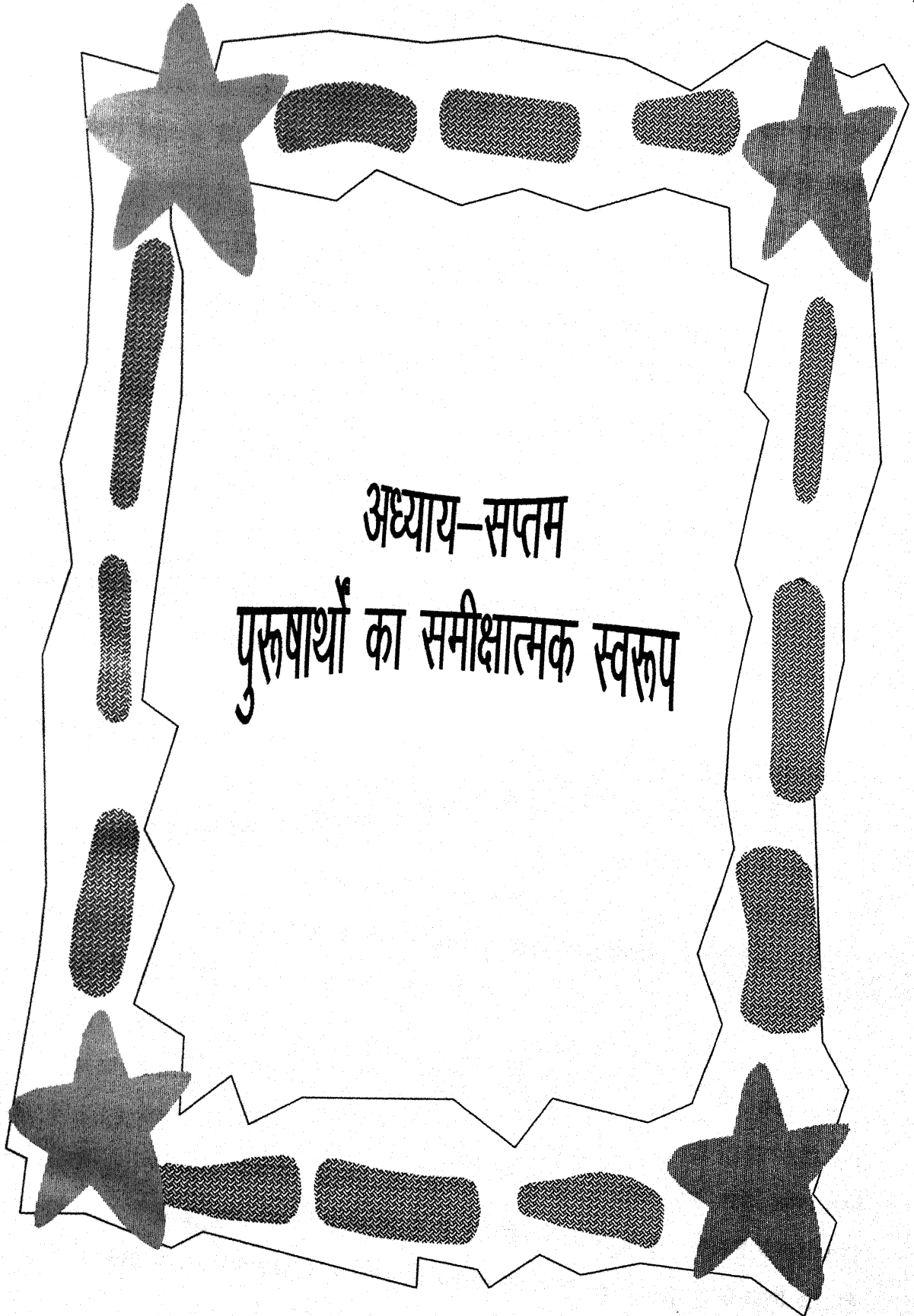
अध्याय–सप्तम

पुरूषार्थों का समीक्षात्मक स्वरूप

पुरूषार्थों का समीक्षात्मक स्वरूप

प्रस्तुत अध्याय में वर्तमान समय में पुरूषार्थ के स्वरूप की व्याख्या की गयी है । इसमें बताया गया है कि समय के परिवर्तन के साथ–साथ पुरूषार्थ भी अपना प्राचीन स्वरूप खोते जा रहे हैं ।

धर्म का वर्तमान स्वरूप :–

भारतीय संस्कृति में धर्मशास्त्रों में धर्म की व्याख्या करते हुये कहा गया है कि व्यक्ति को अपने जीवन में सत्य, अहिंसा, पवित्रता, शुचिता, दया, क्षमा, न्याय, अस्तेय, अपिरग्रह आदि को धारणा कर अपना इहलोक और परलोक सुधारने का प्रयत्न करना चाहिये । धर्म को जीवन की आचार संहिता माना गया है । धर्म अमृत की खोज है । अर्थात् धर्म के अनुसार व्यक्ति अपना आचरण शुद्ध कर अपने व्यक्तिगत जीवन व सामाजिक जीवन को संगठित करने का प्रयास करता था, जिससे व्यक्ति और समाज एक बसुधैव कुटम्बकम की धारणा के साथ जीता था । फलस्वरूप मानव अपने पुरूषार्थों के अनुसरण आचरण कर अपने जीवन में अभीष्ट मोक्ष को प्राप्त करने का प्रयास करता था । इस प्रकार से कहा जा सकता है कि उस समय प्रत्येक व्यक्ति अर्थ और काम का पालन धर्म के अनुसार ही करता था ।

आज जब हम अपने वर्तमान समाज पर दृष्टिपात करते हैं तो बहुत ही विडम्बना पूर्ण स्थिति दिखाई देती है । प्राचीन समय में जिस धर्म के द्वारा मानव अपना इहलोक और परलोक सुधारने का प्रयत्न करता था, आज वही धर्म परम्परा का रूप गृहण कर अपना वास्तविक स्वरूप खो चुका है । यह सत्य है कि गंगा गंगोत्री से निकलती है तो पवित्र होती है लेकिन आगे बढ़ते– बढ़ते प्रदूषित हो जाती है । आज वही स्थिति धर्म की भी हो गयी है । शास्त्रों में कहा गया है कि जब धर्म सम्प्रदाय का रूप ले लेता है तो वह जाली नोट के समान हो जाता है प्राचीन समय में जिस धर्म के आधार त्याग, सत्य, न्याय और पवित्रता होती थी आज उसी धर्म के नाम पर हिंसा, अन्याय और शोषण आदि न जाने क्या क्या हो रहा है । यह धर्म का परम्परागत रूप है । प्राचीन समय में एक सन्त, ज्ञानी, सन्यासी और भक्त जन अपनी कुटी बनाकर ईश्वर का भजन करते थे । आज वह साधु और सन्त बड़े–बड़े आश्रमों में रहकर कीमती मोटर कारों में घूम रहे हैं । आज इन आश्रमों में भोगवादी संस्कृति के सभी साधन उपलब्ध हैं । जो धर्म अहिंसा का पाठ पढ़ाता था, आज उसी धर्म के नाम गुरूद्वारों और मन्दिरों में हथियार इकट्ठा कर रक्तपात हो रहा है । साम्प्रदायिक दंगे

इस भारत भूमि की नियति बन गये हैं । यदि किसी उच्च संत को प्रवचन देने के लिये बुलाना चाहते हैं तो उसको लाखों रूपये देकर ही बुलाया जा सकता है । आज धर्म के नाम पर किस प्रकार के तन्त्र मंत्र और बलि आदि देने की प्रथा प्रचलित है । इस तंत्र मंत्र को भी लोगों ने अपना व्यवसाय बना लिया है । इस प्रकार कहा जा सकता है कि धर्म का भी व्यावसायिक या बाजारीकरण हो गया है । आज तीर्थ स्थानों पर किस प्रकार से धर्म के नाम पर चन्दा और लूट मची हुई है ।

कभी जिन ऋषियों और मुनियों ने भारतीय संस्कृति को पल्लवित और पोषित किया था आज वही साधु और सन्यासी, धर्म के स्थान पर धन को महत्व देकर अपने जीवन में सम्पूर्ण भौतिक सुखों की प्राप्ति को ही मोक्ष मान लिया गया है । मंदिरों में अधिक चढ़ावा देने पर आप की ईश्वर के जल्दी दर्शन हो जायेंगें । प्रसाद भी आप को अधिक मिल जायेगा । प्राचीन समय में भी गुरू शिष्य परम्परा थी । उस समय वही गुरू अपना शिष्य बनाता था जो स्वयं मोक्ष या मुक्त हो गया होता था और वही अपने शिष्य को भी ज्ञान देकर मोक्ष प्राप्त करने को प्रोत्साहित करता था । लेकिन वर्तमान में आप को जितने भी साधु सन्यासी मिल जायेंगें उन सभी के सैकड़ों शिष्य मिल जायेंगें । इन साधु सन्यासियों को मोक्ष के माध्यम से अपना जीवन जीने का प्रयास कर रहे हैं । इस प्रकार कहा जा सकता है कि आज धर्म अपना वास्तविक स्वरूप खो चुका है और उसका परम्परागत स्वरूप ही वर्तमान है । आज आप जिस भी धर्म का या तो सम्प्रदाय के रूप में व्यवहार हो रहा है या रूढ़ियों, परम्पराओं और अन्धविश्वासों के रूप में इसका प्रयोग हो रहा है । राजनीति के क्षेत्र में भी इसका प्रयोग हो रहा है । राजनीति के क्षेत्र में आज बहुत से साधु सन्यासी प्रवेश कर लोक सभा और विधान सभाओं की शोभा बढ़ा रहे हैं । कुछ साधु तो मंत्री पर कुछ मुख्यमंत्री तक बनकर बनी राजनीतिक इच्छाओं की पूर्ति कर रहे हैं । साधु के लिये समाज सेवा भी आवश्यक है लेकिन वह उपदेश और प्रवचन तक ही सीमित हैं अन्त में मैं कह सकती हूं कि आज हमारे समाज में धर्म के नाम पर राजनीतिक शोषण व्यवसाय और अपनी दमित इच्छाओं की पूर्ति हो रही है । इसका परिणाम यह हो रहा है कि जिस धर्म के माध्यम से व्यक्ति और समाज का कल्याण होना चाहिये था उस धर्म के द्वारा व्यक्ति और समाज और राष्ट्र का विघटन हो रहा है । अन्त में मैं सार में यही कह सकती हूं कि इस धार्मिक क्षेत्र का जो पतन हुआ है उसके प्रमुख कारण हैं कि मानव की वासनायें इतनी अधिक बढ़ गयीं हैं कि वह धर्म का चोला पहनकर आम जनमानस का शोषण कर रहा है । भारत की जनता आज भी धार्मिक प्रवृत्ति

की है उसको मार्ग दर्शन देने के लिये वास्तविक साधु सन्यासियों की आवश्यकता है । जो धर्म का उचित मार्ग बताकर व्यक्ति और समाज को उचित दिशा दे सके । जिससे व्यक्ति और समाज अपने अभीष्ट को प्राप्त कर सके ।

अर्थ का वर्तमान स्वरूप :–

भारतीय संस्कृति में व्यक्ति और समाज के जीवन के लिये अर्थ को बहुत महत्वपूर्ण साधन के रूप में माना गया है । शास्त्रों में अर्थ के रूप में उद्योग व्यवसाय, कृषि और जीविका उपार्जन के साधन के रूप में स्वीकृति दी गयी है । इस संसार में आने के बाद प्रत्येक मानव की शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये धन की आवश्यकता होती है । मानव अपने शारीरिक श्रम व मानसिक योग्यता द्वारा इस धन को अर्जित करता है । लेकिन इस धन को उचित एवं न्यायपूर्ण तरोकों से उपार्जन की बात कही गयी है । भारतीय शास्त्रों में कहा गया है कि प्रत्येक प्राणी के जीवन में पांच प्रकार के ऋण चढ़ जात हैं । फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति को अपने गृहस्थ आश्रम में इन पांच ऋणों में उऋण होने के लिये पंच महायज्ञ करने पड़ते हैं । इन पंच महायज्ञों के लिये व्यक्ति को धन की आवश्यकता होती है, बिना धन के गृहस्थ जीवन में किसी भी कार्य को सम्पादित नहीं किया जा सकता । मानव को परिवार के पालन पोषण, माता–पिता की सेवा, साधु संतों को भिक्षा और भोजन और अन्य प्रकार के जीव–जन्तुओं को भी भोजन देना पड़ता है । अतः व्यक्ति को अपने जीवन में न्यायपूर्ण तरीकों से धन अर्जित कर अपने सभी कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों से मुक्त होना चाहिये तभी वह मोक्ष का अधिकारी हो सकता है ।

लेकिन विडम्बनापूर्वक कहना पड़ रहा है कि आज वर्तमान समाज में जिस प्रकार से मानव धन का अर्जन कर रहा है वह उचित नहीं है । पुरूषार्थ के अर्न्तगत कहा गया है कि व्यक्ति को उचित न्यायोचित ढंग से धन अर्जित कर अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करना चाहिये । लेकिन वर्तमान में मानव की इच्छायें इतनी बढ़ गयीं हैं कि इन्होंनें वासनाओं का रूप ग्रहण कर लिया है । पश्चिमीकरण, आधुनिकीकरण, नगरीकरण एवं औद्योगीकरण के कारण मानव की इच्छायें बढ़ती जा रही हैं । भारतीय समाज में भोगवादी संस्कृति का बोलबाला हो गया है । हर व्यक्ति अधिक से अधिक धन कमाकर उपनी अधिक से अधिक वासनाओं को पूरा कर रहा है ।

आज विज्ञान नये–नये आविष्कारों को जन्म दे रहा है । जिसके द्वारा मानव अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये नित नई–नई वस्तुओं को उत्पादन कर रहा है । पहले कहा जाता था कि आवश्यकता आविष्कार की जननी है लेकिन अब इसका विपरीत हो गया है । आज वस्तुओं का निर्माण पहले होता है फिर जनसंचार (समाचार पत्र, रेडियो, टेलीविजन) के साधनों द्वारा उस वस्तु का प्रचार किया जाता है । और इस प्रचार से प्रभावित होकर आवश्यकता न होने पर भी व्यक्ति उस वस्तु को खरीदने बाजार पहुंच जाता है । यह भौतिकवादी तथा अर्थ प्रधान समाज होता जा रहा है । प्रत्येक अपनी झूठी शान के लिये अपने घर में अनेक भौतिक वस्तुयें जैसे – सोफा, टेलीविजन, गैस चूल्हा और मोटर साईकिल या कार रखना आवश्यक समझता है । आज बहुत से लोगों को इन वस्तुओं की आवश्यकता है लेकिन बहुत से लोग आवश्यकता न होने पर भी इन वस्तुओं को क्रय कर रहे हैं । इन वस्तुओं को खरीदने के लिये व्यक्ति को धन की आवश्यकता होती है, तब व्यक्ति अनुचित साधन अपनाकर उदाहरण स्वरूप रिश्वत, चोरी, डकैती एवं अनुचित व्यवसाय कर धन अर्जन करना चाहते हैं जिससे वह अधिक से अधिक धन कमाकर इन वस्तुओं को खरीद सकें । आज भ्रष्टाचार का जाल इतना व्यापक हो गया है कि प्रधानमंत्री से लेकर समाज के निचले पद पर रहने वाले व्यक्ति पर भी भ्रष्टाचार और घूसखोरी का आरोप लग रहा है आज जीवन का कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं है जहां पर भ्रष्टाचार रूपी दानव न पाया जाता है । भारतीय समाज में आज एक कहावत प्रचलित हो गई है कि यदि रिश्वत लेते हुए पकड़े जाते हैं तो रिश्वत देकर छूट जाइये । आज भारतीय न्यायालयों पर भी रिश्वत और भ्रष्टाचार के आरोप लग रहे हैं । वर्तमान भारत अपराध के क्षेत्र में नये कीर्तिमान स्थापित कर रहा है । चोरी, डकैती, हत्या, बलात्कार, शराब बनाना और बेचना, जुआ खिलाना, नृत्य घर, कैबरे हाऊस, साइबर कैफे के माध्यम से लोग अपराधों को बढ़ावा देना अपनी शारीरिक और आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर रहे हैं । समाज में धन का महत्व सर्वोपरि हो गया है । आज पारिवारिक सम्पत्ति के पटकरे को समय विवाद और हत्यायें आम हो गयीं हैं । भाई–भाई को मार रहा है तो पुत्र पिता को मार रहा है, यहां तक कि पति पत्नी में धन सम्पत्ति के लिये तलाक और हिंसा साधारण व्यवहार हो गया है ।

वर्तमान भोगवादी संस्कृति ने मानव को एक ऐसी अन्धी सुरंग में डाल दिया है जहां से बाहर निकलने का कोई रास्ता दिखाई नहीं पड़ रहा है । मानव के जीवन में ज्ञान से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है । यह विद्या के केन्द्र बड़े–बड़े व्यावसायिक केन्द्रों में बदल चुके हैं ।

आज गरीब के बच्चों को डाक्टर और इंजीनियर बनना दिवास्वप्न हो गया है । जहां पर शिक्षक साधारण जीवन व्यतीत करते हुये अपने शिष्य या विद्यार्थी को उचित मार्गदर्शन देते थे आज वही विद्या के केन्द्र भ्रष्ट कुलपतियों, प्राचार्यों और शिक्षकों की वासनाओं की प्राप्ति के केन्द्र बन गये हैं । आज जो व्यक्ति ईमानदारी न्याय और सत्य की बात करता है उसको पिछड़ा और बेवकूफ समझा जाता है । वर्तमान भारत में यदि किसी क्षेत्र का सबसे अधिक पतन हुआ है तो वह राजनीतिक क्षेत्र है । देश के सभी साम दाम दण्ड भेद का प्रयोग करना जानते हैं । कई दलों के नेता विधानसभा और लोकसभा के चुनावों के समय धन लेकर टिकट देना अपना कर्तव्य समझते हैं । फिर यह नेता चुनाव में लाखों रूपये खर्च कर विधायक और सांसद बनने का प्रयास करते हैं । इसलिये यह स्वाभाविक है कि पद पर पहुंचने के बाद इन नेताओं द्वारा लाखों और करोड़ों रूपये रिश्वत और घूस लेना इनकी मजबूरी बन जाती है । आज नेताओं का कथन है कि बिना धन के राजनीति नहीं की जा सकती । कभी इसी भारत में राजनीति सेवा का मार्ग थी आज वहीं धन की दासी बन गयी है ।

पहले हमारे देश में संयुक्त परिवार प्रणाली पाई जाती थी । तीत पीढ़ी के लोग एक ही परिवार में रहते थे, एक ही रसोई में बना भोजन करते थे और एक ही जगह बाय का रख रखाव होता था । इस प्रकार परिवार के सभी सदस्य प्रेम और सौहार्द से आपस में व्यवहार करते थे यही परिवार स्वर्ग से समान हुआ करता था लेकिन आज संयुक्त परिवारों का स्थान एकांकी परिवारों ने ले लिया है । पति–पत्नी और बच्चे ही इसके सदस्य हो सकते हैं । पहले परिवारों में अनौपचारिक सम्बन्ध पाये जाते थे लेकिन वर्तमान में इनका स्थान औपचारिक सम्बन्धों ने ले लिया है । आज व्यक्तियों के बीच आत्मीय सम्बन्धों का अभाव हो गया है क्योंकि आज मनुष्य का हृदय शून्य हो गया है प्रेम का सर्वथा अभाव हो गया है । क्योंकि आज परिवारों में भी धन और स्वार्थ की प्रमुखता हो गयी है । आज उस व्यक्ति का सम्मान अधिक होता है जिसके पास अधिक धन होता है, कहने का तात्पर्य यह है कि आज के मानव के सम्पूर्ण जीवन में धन ही केन्द्र बिन्दु हो गया है । दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति यह है कि कोई व्यक्ति या समाज के अन्य लोग धनी व्यक्ति से यह नहीं पूंछना चाहते कि तुम्हारे पास यह धन कहां से आया है । कौन–कौन से तुमने बुरे कर्म करके इस धन को अर्जित किया है।

वर्तमान समय में भारतीय समाज की बहुत सी समस्यायें धन के अभाव के कारण पाई जातीं हैं । कौन नहीं जानता कि आज हमारे देश में गरीबी, भुखमरी, बेकारी और लाचारी आदि आर्थिक समस्या इस देश की नियति बन गयी है । इस देश के अधिकांश व्यक्ति गरीबी और बेकारी के कारण नारकीय जीवन व्यतीत करने के लिये विवश हैं और दूसरी तरफ कुछ लोगों के पास धन का इतना बाहुल्य है कि वह हर साल एक नई कार खरीद कर अपनी झूठी शान बढ़ाने का प्रयास करते हैं । बहुत से नेता और पूंजीपति पांच सितारा जीवन के अभ्यस्त हो गये हैं, जहां सुरा–सुन्दरी तथा भोग विलासी जीवन जीना, वह अपना कर्तव्य समझते हैं । जब किसी देश में धन और सम्पत्ति का बंटवारा उचित रूप में नहीं होता है तब उस देश में इसी प्रकार की आर्थिक समस्याओं का जन्म होता है जो वैयक्तिक सामाजिक और राष्ट्रीय विघटन का कारण बनता है ।

इन नगर के तमाम लोगों के साक्षात्कार द्वारा यही निष्कर्ष निकलता है कि आज मानव के जीवन में धन का ही महत्व रह गया है । यदि धन नहीं होगा तो इस प्रतिस्पर्द्धा के युग में आप समाज में रहकर सम्मानपूर्ण जीवन नहीं व्यतीत कर सकते हैं । न तो आप अपनी पुत्रियों के विवाह में दहेज की पूर्ति कर सकते हैं और नही आप अपने बच्चों को अच्छी नौकरी दिलवा सकते हैं और न ही आप उनको कोई व्यवसाय करवा सकते हैं । आप को अपने पद और प्रतिष्ठा के अनुरूप अपने घर में भौतिक वस्तुओं पर अपनी आय का अच्छा प्रतिशत व्यय करना होगा तभी आप समाज में सम्मान पा सकेंगें । लोगों पर भोगवादी संस्कृति का प्रभाव इतना बढ़ गया है कि हर मौसम के अनुरूप घर में बिजली के उपकरण होने चाहिये । प्राचीन समय में लोग सादा जीवन उच्च विचार की धारणा पर विश्वास कर अपने जीवन जीते थे । लोगों के पास एक दो जोड़ी कपड़े और जूते होते थे । भोजन भी सात्विक होता था । लेकिन आज हमारे ही परिवारों में किचिन में कितने प्रकार के उपकरण रहते हैं । आज वस्त्रों से अलमारियां भरी हुईं हैं । टेलीफोन, मोबाइल, फ्रिज और एअरकन्डीशनर आज की आवश्यकतायें बन गईं हैं । इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि आज का मानव भोगवादी संस्कृति के वशीभूत होकर येन केन प्रकारेरण अपनी सभी भौतिक और शारीरिक वासनायें पूरी करना चाहता है । इसके लिये वह धन का अर्जन उचित और अनुचित तरीकों से भी कर रहा है । प्राचीन पुरूषार्थों की अवधारणा का कोई महत्व नहीं रह गया है । क्योंकि समाज के ऊपर से ऊपर व्यक्ति से लेकर नीचे से नीचे व्यक्ति तक का चारित्रिक पतन हो गया है । वर्तमान में प्रत्येक व्यक्ति के सम्बन्ध, व्यवहार और वस्तु का

मूल्य धन के ही आधार पर आंका जा रहा है । जिसके परिणामस्वरूप आज चारों तरफ भ्रष्टाचार, रिश्वत और अन्य आर्थिक बुराईयों ने जन्म ले लिया है । एक लेखक के अनुसार आज भारत में केवल 25 प्रतिशत सफेद धन है बाकी 75 प्रतिशत काला धन व्यवहार में है, इसी से इस देश की भयावह आर्थिक स्थिति का पता चलता है ।

काम का वर्तमान स्वरूप :—

ईश्वर ने मनुष्य को सुन्दर शरीर दिया है । जिनसे वह संसार के सम्भव से लेकर असम्भव कार्यों तक का सम्पादन करता है । इन सभी कार्यों का सम्पादन वह अपने मन बुद्धि और वाणी व अन्य पांच इन्द्रियों द्वारा करता है । मानव शरीर में ईश्वर ने दस इन्द्रियों की व्यवस्था की है जिनमें पांच ज्ञानइन्द्रियां हैं और पांच कर्म इन्द्रियां हैं । प्राचीन पुरूषार्थों की अवधारणा में इन्हीं इन्द्रियों की सन्तुष्टि के लिये काम रूपी पुरूषार्थ को रखा गया था । हिन्दु विचारकों ने काम की व्याख्या करते हुये कहा था कि काम मानव की शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक प्रवृत्तियों की सन्तुष्टि का कार्य करेगा । क्योंकि मानव जीवन में प्रत्येक व्यक्ति की इन आवश्यकताओं व इच्छाओं की संतुष्टि आवश्यक है । जब तक इस संसार में रहते हुये इन इच्छाओं की तृप्ति नहीं कर लेता तब तक वह मोक्ष के मार्ग पर अग्रसर नहीं हो सकता । प्राचीन धर्मशास्त्रों में भोग के बाद त्याग और आसक्ति के बाद विरक्ति की अवधारणा का उल्लेख मिलता है । उस समय लोग सादा जीवन उच्च विचार की धारणा पर विश्वास कर अपने जीवन में सत्य, त्याग, न्याय, प्रेम, परिग्रह और अस्तेय आदि का आचरण कर अपना जीवन जीते थे । मानव अपनी आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति करता था जिससे व्यक्ति और समाज दोनों की आवश्यकताओं की पूर्ति होती रहती थी । कालान्तर में धीरे—धीरे पुरूषार्थ की अवधारणा अर्थहीन होती गई और वर्तमान में इसका बिल्कुल बदला हुआ स्वरूप ही दिखाई पड़ता है ।

प्रारम्भ में जिस काम की पूर्ति के लिये प्रेम सौन्दर्य कला को साधन माना गया था । काम को यौन इच्छाओं की पूर्ति के रूप में देखा जाता है । क्योंकि काम एक प्राकृतिक शारीरिक इच्छा है । यह प्रत्येक मानव में जन्मजात होती है । इसका पूरा करना भी आवश्यक होता है । यदि पुरूष विवाह में माध्यम से प्राप्त अपनी पत्नी से यौन सम्बन्ध स्थापित नहीं करता है तो वह न ही अपनी शारीरिक इच्छा की पूर्ति कर सकता है और न ही समाज की निरन्तरता बनी रह सकती है । पति—पत्नी द्वारा यौन सम्बन्धों की स्थापना से ही

पुत्र का जन्म होता है और परिवार की निरन्तरता बनी रहती है और तभी एक पुरूष अपने पितृऋण से उऋण हो सकता है । यह सब बातें हमारे शास्त्रों में पहले ही लिख दी गयीं थीं । लेकिन जब हम आज के सामाजिक वातावरण और स्त्री–पुरूष के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों पर दृष्टिपात करते हैं तो इसका बहुत ही विकृत चित्र सामने आता है । प्राचीन समय में जो यौन सम्बन्ध पहले परिवार तक ही सीमित थे वह आज के इस युग में सर्वत्र देखे जा सकते हैं । मनोरंजन के साधनों जैसे – सिनेमा, टेलीविजन और ब्लू फिल्म के माध्यम से समाज में अश्लीलता का नग्न चित्र प्रस्तुत किया जा रहा है । जो सिनेमा कभी हमारे बीच में एक स्वच्छ मनोरंजन का साधन हुआ करता था आज उन्हीं फिल्मस को हम अपने परिवार के साथ बैठकर देखना भी पसन्द नहीं करते हैं । बड़े–बड़े होटलों, कैफे घरों और वैश्यालयों में कार्लगर्ल्स कैरियर गर्ल्स और अन्य नामों से वैश्यायें उपलब्ध हो रहीं हैं । पश्चिमी सभ्यता में यौन स्वतंत्रता है । और पश्चिमीकरण के कारण आज की संस्कृति हमारे देश में भी पाई जा रही है । वर्तमान में यौन सम्बन्धों को मात्र शारीरिक भूख के रूप में देखा जा रहा है उसका व्यक्ति के चरित्र से कोई सम्बन्ध नहीं रह गया है । इसी का परिणाम है कि आज वर्तमान समाज में बलात्कार की घटनायें बढ़ती जा रहीं हैं । आज समाचार पत्रों में लगभग प्रत्येक दिन बलात्कार की घटनाओं को पढ़ना पाठकों के लिये अनिवार्य हो गया है । वर्तमान युग में मनुष्य की आवश्यकतायें वासनायें बन चुकीं हैं । व्यक्ति अपनी इच्छाओं को पूरी कर सकता है लेकिन वासनाओं को पूरा नहीं कर सकता । आज का समाज पूरी तरह से भोगवादी संस्कृति में डूब चुका है । सादा जीवन उच्च विचार की अवधारणा से पूरी तरह तिरेहित हो चुकी है उसके सम्बन्ध पर खाओ पियो और मौज उड़ाओ की नवीन अवधारणा जन्म ले चुकी है । आज मनुष्य अधिक से अधिका धन कमाकर अपनी अनन्त वासनाओं का पूरा करने में लगा है । घर में प्रत्येक भौतिक वस्तु होनी चाहिये, यह अनिवार्य है । आज भारत के निम्न मध्यम से लेकर उच्च वर्ग तक बड़े–बड़े मकानों से लेकर अन्य सभी वस्तुओं की उपलब्धता है । विज्ञान के नवीन आविष्कारों ने भी मानव की काम की नैसर्गिक इच्छा को वासना बना दिया है । पहले लोग टेलीफोन के द्वारा अपने सगे सम्बन्धियों का हालचाल लिया करते थे और अपनी आवश्यकता को भी बता दिया करते थे । लेकिन आज मोबाइल फोन के निर्माण होन से लोग गांवों, ट्रेन, बस, कारों में भी बैठे लोगों से बात कर सकते हैं और अपने प्रेम का इजहार कर सकते हैं । लेकिन आज इसी मोबाइल के माध्यम से दिल्ली के छात्र ने झाड़ियों में छिपे एक छात्र–छात्रा का आपत्तिजनक फोटो लेकर अपने दूसरे

साथियों को एस.एम.एस. कर दिया और उसने तमाम लोगों को इस चित्र को भेज दिया । अब क्या कहेंगें कि जितना यह मोबाइल फोन उपयोगी था गलत हाथों में पड़कर उतना ही यह अनुपयोगी हो गया और इसका दुस्परिणाम भी सामने आ गया है । वर्तमान में आज किस तरह लोग इन नवीन आविष्कारों का प्रयोग अपनी वासनाओं को बुझाने में कर रहे हैं । प्राचीनकाल से ही लोग सुन्दर वस्तुओं को देखने के कामना करते रहे हैं । ईश्वर ने पृथवी को बहुत ही सुन्दर बनाया गया है । इन्हीं उद्देश्यों से लोग पर्यटन और तीर्थ यात्राायें करते रहे हैं । लेकिन आज बहुत से लोग इस काम का दुरूपयोग कर अश्लीलता को ही देखने का प्रयास करते हैं । फैशन का प्रचलन थोड़ा बहुत सभी कालों में रहा है । वर्तमान में आज बहुत से युवक और युवतियां इस तरह के तंग और भड़कीले कपड़े पहनकर एक दूसरे को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं । फैशन के नाम पर फिल्मों में पूरी तरह से नग्नता का प्रदर्शन किया जा रहा है । फलस्वरूप समाज में यौन अपराधों की उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है । बलात्कार होना आज एक सामान्य घटना हो गई है । समाज में नशा करने की प्रवृत्ति भी बढ़ गई है । आज भांग, गांजा, अफीम, शराब, कोकीन, ब्राऊनशुगर ऐसे तमाम नशे का साधन समाज में उपलब्ध है । कैसी विडम्बना है कि देश के प्रत्येक प्रान्त में एक महानिषेध विभाग भी है जो समाज में नशेपान को रोकने का प्रयास करता है । लेकिन दूसरी तरफ देश के प्रत्येक गांव शराब के ठेके और दुकानें खोल दी गयीं हैं । जिसका परिणम है कि रात्रि होते होते लगभग आधा गांव नशे में हो जाता है । शराब पीने से व्यक्ति की आर्थिक छवि तो खराब होती ही है साथ –साथ पारिवारिक और आम अपराधों में वृद्धि होती है । जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति का वैयक्तित्व विघटन तो होता ही है साथ ही पारिवारिक विघटन भी हो रहा है । शहरों में तो शराब और राग रंग साथ ही चलते रहते हैं । बड़े–बड़े नगरों में बार, कैबरे हाऊस, कैसिनों और क्लबों के सदस्य बनाना बड़े आदमियों की शान हो गई हैं । आज का मनुष्य झूठी प्रतिष्ठा को प्राप्त करने के लिये न जाने कितने अनैतिक उपायों को अंजाम दे रहा है । उपरोक्त सन्दर्भो से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आज का मानव अपनी भौतिक वासनाओं की तृप्ति के किन किन अनैतिक तरीकों से व्यवहार कर अपना चारित्रिक पतन कर रहा है ।

अन्त में इस अध्याय के निष्कर्ष में यही कह सकती हूं कि प्राचीन समय में जिस पुरूषार्थ की अवधारणा की कल्पना की गई थी और जिसके द्वारा मानव के परम साध्य मोक्ष की प्राप्ति की कल्पना की गई थी वह भावना आज वर्तमान समाज में पूरी तरह से समाप्त हो

गई है । वैश्वीकरण की अवधारणा के प्रभाव से विश्व की बहुत सी संस्कृतियां अपने मूल स्वरूप को खोती जा रही हैं । वर्तमान में विशेष रूप से आधुनिकीकरण, भौतिकीकरण और पश्चिमीकरण की अवधारणा का प्रभाव सम्पूर्ण विश्व पर बढ़ता जा रहा है । जिसके परिणाम स्वरूप भारत की भौतिकता की अन्धी दौड़ में शामिल हो गया है । जिस पुरूषार्थ के माध्यम से भारतीयों को संदेश दिया गया था कि आप अपनी इन्द्रियों की सन्तुष्टि का सम्यक प्रयास करें और अपनी व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को संगठित बनाकर अपने जीवन के अभीष्ट मोक्ष को प्राप्त करने का प्रयास करें । आज उस पुरूषार्थ की धारणा की कल्पना करना एक दिवास्वप्न हो गया है । आज का मानव येनकेन प्राकरेण अपनी वासनाओं को पूरा करना की मोक्ष प्राप्त करने के समान समझता है ।

मोक्ष का वर्तमान स्वरूप :-

भारतीय संस्कृति में मानव के जीवन का अंतिम उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति कहा गया है । प्राचीन समय में मानव अपने जीवन में सभी ऋणों से उऋण होकर अपने अन्तिम समय को ईश्वर की आराधना या मोक्ष को प्राप्त करने का प्रयास करते थे । जैसा कि इस लघु शोध के प्रारम्भिक अध्यायों में कहा गया है कि मनुष्य इस संसार में आने के बाद नाना प्रकार के कष्टों को प्राप्त करता है ।

अतएव इस भारत भूमि के ऋषियों और मनीषियों ने इस जीवन को सार्थक बनाने के लिये पुरूषार्थ की अवधारणा की कल्पना की थी । व्यक्ति को पुरूषार्थों के अनुरूप ही जीवन जीने की प्रेरणा दी गई थी । बहुत से मनुष्यों ने पुरूषार्थ का पालन करते हुये मोक्ष को पाने का प्रयास भी किया था । कुछ बुद्ध पुरूषों ने ज्ञान मार्ग के माध्यम से एवं कुछ साधकों ने भक्ति मार्ग से मुक्ति को प्राप्त किया है ।

यहां पर मोक्ष की विवेचना या अर्थ को स्पष्ट न करके मैं वर्तमान में मोक्ष की स्थिति का वर्णन करूंगीं । मोक्ष का अर्थ और इसकी अवधारणा की मैं पिछले अध्यायों में वर्णन कर चुकी हूं । वर्तमान समाज में व्यक्ति की इच्छायें बहुत ही बढ़ गई हैं । भारत पर पश्चिमीकरण की प्रकिया का पूर्ण प्रभाव पड़ चुका है । जिसके परिणाम स्वरूप भारतीय समाज भी भोगवादी संस्कृति की गिरफ्त में आ चुका है । व्यक्ति के सामने केवल अपने परिवार के सुख एवं वासनाओं को पूरा करने का ही एक मात्र उद्देश्य रह गया है । धर्म का लोप होता जा रहा है या यह कहिये कि धर्म अपना वास्तविक स्वरूप खो चुका है । हमारे

धर्म ग्रन्थों में पुरूषार्थ के चार रूप बताये गये हैं । जो धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष के रूप में जाने जा सकते हैं । इस अवधारणा में कहा गया है कि अर्थ और काम की पूर्ति धर्म के नियंत्रण में होनी चाहिये । लेकिन आज के मानव केवल अर्थ और काम की प्राप्ति को ही अपना साध्य मान लिया है और उसको उचित अथवा अनुचित तरीकों से पूरा करना चाहता है । इस प्रकार आज का मानव भौतिक सुखों तक ही रह गया है । मोक्ष को प्राप्त करने के विषय में सोचना उसके लिये असम्भव सा हो गया है ।

समाज सदैव अपने धर्म गुरूओं से कुछ अपेक्षा करता आया है । वर्तमान समाज में भी बहुत से धर्म गुरू है जो धर्म की शिक्षा अपने उपदेशों द्वारा दे रहे हैं । मोक्ष की शिक्षा वही गुरू दे सकता है जिसको स्वयं सत्य या मोक्ष प्राप्त हुआ हो । लेकिन वर्तमान में ऐसा नहीं हो रहा है । मोक्ष तो विरले ही किसी मानव को प्राप्त होता है । आज के धर्मगुरू भी अपने जीवन में माया मोह को छोड़ नहीं पा रहे हैं । यह सन्त और गुरू बड़े–बड़े आश्रमों में रह रहे हैं जहां पर भौतिक सुख के सभी साधन उपलब्ध हैं । बड़ी–बड़ी वातानुकूलित कारों में यात्रा कर रहे हैं । अर्थात कहने का तात्पर्य यह है कि यह धर्म गुरू वस्त्र तो पीले पहने हैं लेकिन मन पीला नहीं हुआ है वर्तमान में बहुत से गुरूओं को कुछ सिद्धियां अवश्य प्राप्त हो गईं हैं । जिनके माध्यम से वह अपना धार्मिक व्यापार कर रहे हैं । यदि आप अपने नगर में आशाराम बापू को प्रवचन को बुलाना चाहते हैं तो आप को कई लाख एकत्र कर पहले उनके पास भेजना पड़ेगा । तब वह आप का निमंत्रण स्वीकार करेंगें और आपके यहां पधारने का कष्ट करेंगें । विश्व उपरोक्त तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि आज मोक्ष को प्राप्त करना एक बहुत ही दुस्साहस का कार्य हो गया है । मानव अपनी अन्तिम श्वांस तक सांसारिक इच्छाओं के विषय में ही चिन्तन करता रहता है । हां यह अवश्य है कि वह अपनी अन्तिम आय में प्रभु का स्मरण करना प्रारम्भ कर देता है जिससे कि उसको शान्ति मिल सके । जहां तक आज के साधु और सन्यासियों का प्रश्न है वह भी पूरी तरह से भौतिकवादी हो चुके हैं अच्छा खाना रहना और आरामदेय जीवन जीना इन साधुओं की दिनचर्या हो गई है । इनमें से शायद ही कभी किसी को मोक्ष प्राप्त हुआ हो । क्योंकि कहा गया है कि जब तक काम तब तक राम नहीं है और जब काम चला जाता है तभी रामप्रकट होता है ।

*****
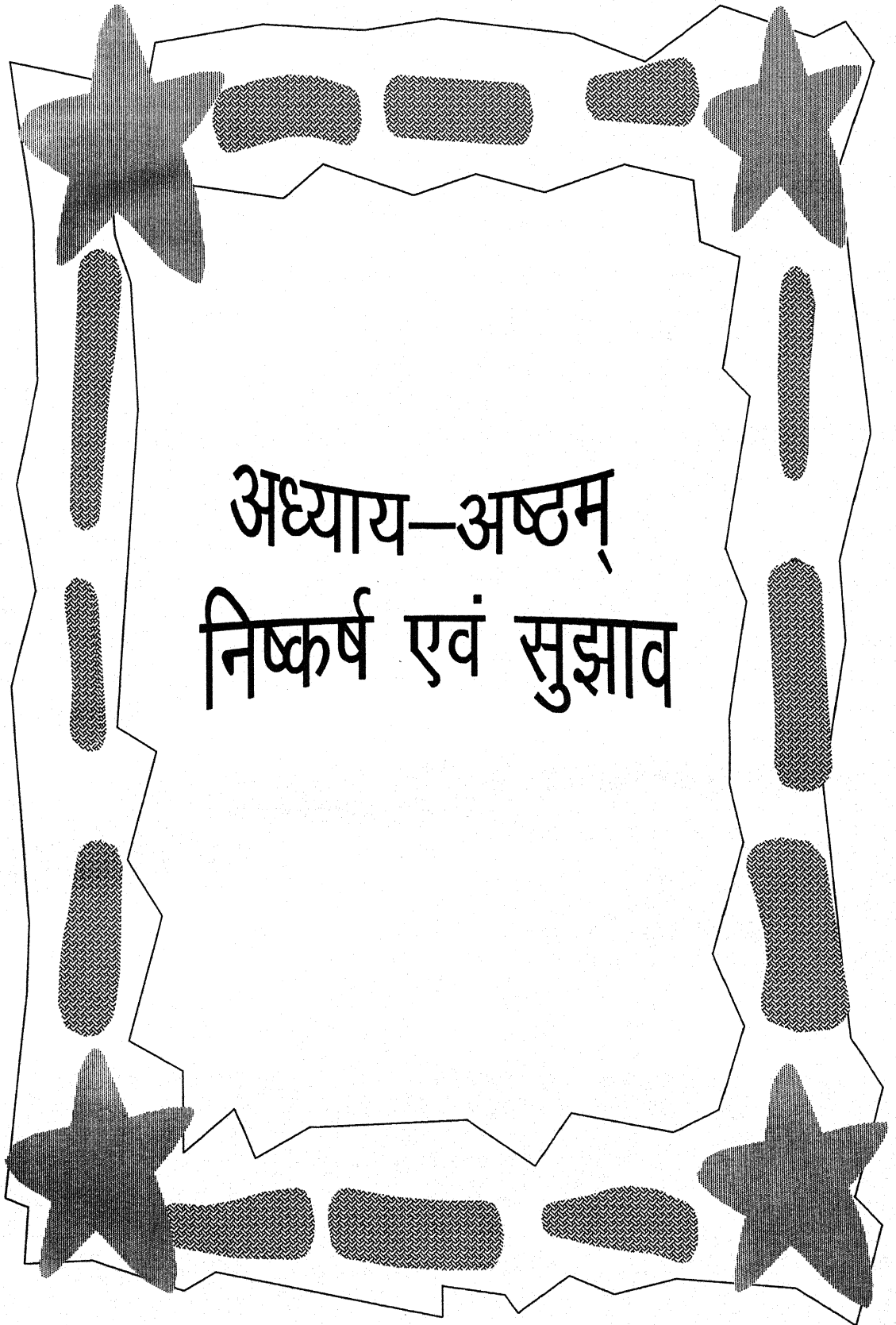
अध्याय–अष्ठम्

निष्कर्ष एवं सुझाव

निष्कर्ष एवं सुझाव

शोध प्रबन्ध ''भारतीय परम्परा में पुरूषार्थों की अवधारणा का सामाजिक संदर्भ में समीक्षात्मक स्वरूप'' को छः अध्यायों में विभक्त करके पूर्ण किया गया है । प्रथम अध्याय प्रस्तावना, द्वितीय अध्याय में धर्म और उसका स्वरूप, तृतीय अध्याय में अर्थ और उसका समीक्षात्मक स्वरूप, चतुर्थ अध्याय काम की अवधारणा और इसकी समीक्षा, पंचम अध्याय मोक्ष का स्वरूप और समीक्षा तथा षष्टम् अध्याय समसामयिक संदर्भ में पुरूषार्थों का समीक्षात्मक स्वरूप संबधित है ।

प्रथम अध्याय प्रस्तावना खण्ड में पुरूषार्थ का अभिप्राय, पुरूषार्थ के उद्देश्य पुरूषार्थ का सामाजिक जीवन में महत्व की विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है । पुरूषार्थ का सिद्धान्त भारतीय संस्कृति की एक विशेषता है । सिद्धान्त को प्राचीन ऋषियों एवं मुनियों ने मानव के आध्यात्मिक और व्यावहारिक पक्ष पर दृष्टि रखते हुए प्रस्तुत किया था । पुरूषार्थ का सिद्धान्त बतलाता है कि व्यक्ति को अपने जीवन में क्या प्राप्त करना है ? उसके लक्ष्य क्या हैं ? उसे किन मूलभूत दायित्वों को निभाना है ? अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि पुरूषार्थ व्यक्ति को उसके चार मौलिक कर्तव्यों का बोध कराता है । भारतीय दृष्टि से जीवन के उद्देश्य अर्थ और काम को धर्म और मोक्ष के अधीन रखा गया है । इसमें मोक्ष ही अन्तिम ध्येय है, उसी में जीवन के सर्वोच्च और शाश्वत आदर्श की प्राप्ति होती है । इस प्रकार जीवन के सभी मूल्यों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का समन्वय होना चाहिए । अतः संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि धर्म, अर्थ एवं काम के समन्वित प्रयास से ही मानव जीवन के अभीष्ट लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त किया जा सकता है ।

पुरूषार्थ की अवधारणा मानवीय प्रयास (मनुष्य के उद्योग) के ध्येयों अथवा लक्ष्यों की द्योतक है । इस संबंध में कहा गया है कि ''पुरूषैरथ्यते'', जिसका अर्थ है अपने अभीष्ट को प्राप्त करने के लिये उद्यम करना ही पुरूषार्थ है । यहां अभीष्ट का अर्थ मोक्ष प्राप्ति से है । अतः मोक्ष जीवन का लक्ष्य है और इसकी प्राप्ति के लिए धर्म, अर्थ और काम माध्यम हैं । पुरूषार्थ की अवधारणा में जीवन के चार आधारभूत कर्तव्यों के रूप में पुरूषार्थ का उल्लेख मिलता है जिन्हें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का नाम दिया गया है । इन चारों पुरूषार्थों को प्राप्त करके ही व्यक्ति जन्म–मरण के बन्धन से मुक्त हो सकता है ।

द्वितीय अध्याय में धर्म और उसके स्वरूप की चर्चा की गई है । धर्म एक व्यापक शब्द है । भारतीय समाज धर्म–प्राण समाज कहलाता रहा है और धर्म की प्रत्येक क्षेत्र में महत्ता रही है । धर्म व्यक्ति, परिवार, समाज और सम्पूर्ण राष्ट्र के जीवन को अनेक रूपों में प्रभावित करता रहा है । यहां भौतिक सुख को जीवन का परम लक्ष्य न मानकर धर्म संचय को प्रधानता दी गई है । भारतीय सामाजिक व्यवस्था मूलतः धर्म पर आधारित है । यहां धर्म के आधार पर जीवन के समस्त कार्यों की व्यवस्था करने का प्रयास किया गया है । भारतीय समाज में व्यक्ति कर्म, ज्ञान एवं भक्ति के द्वारा परमेश्वर के स्वरूप को समझने का प्रयत्न करता रहा है । वह सत्–चित और आनन्द की प्राप्ति का प्रयास तथा जीवन के परम–सत्य को जानने की कोशिश करता रहा है । धर्म का सिद्धान्त हमें आध्यात्मिक वास्तविकताओं को मान्यता देने के लिये सजग करता है, संसार से विरक्त होने के द्वारा नहीं, अपितु इसके जीवन में इसके व्यवसाय (अर्थ) और इसके आनन्दों (काम) में आध्यात्मिक विश्वास को नियन्त्रक शक्ति को प्रवेश कराने के द्वारा ।

तृतीय अध्याय में पुरूषार्थ के द्वितीय चरण अर्थात् अर्थ की विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है । हिन्दु विचारकों ने मानव की प्राप्त करने की सहज प्रवृत्ति को एक आकांक्षा के रूप में स्वीकार कर अर्थ को पुरूषार्थ सिद्धान्त में महत्व दिया है । अर्थ का तात्पर्य केवल धन अथवा सम्पत्ति से नहीं है बल्कि उन साधनों से है जिनकी सहायता से हम अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने एवं अपने अस्तित्व को बनाए रखते हैं । यहां

अर्थ को साध्य न मानकर एक साधन मात्र माना गया है । पुरूषार्थों में अर्थ का महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि काम और धर्म की पूर्ति के लिए भी अर्थ की आवश्यकता होती है । इसलिये अर्थ की महत्ता का उल्लेख करते हुए महाभारत में लिखा गया है कि "धर्म का पूर्ण रूप से पालन बहुत कुछ अर्थ पर निर्भर है ।"

इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'अर्थ' उन सभी भौतिक पदार्थों एवं साधनों की प्राप्ति से संबंधित है जिनके द्वारा मनुष्य अपना तथा परिवार का भरण–पोषण करता है तथा मानव मात्र ही नहीं बल्कि प्राणि मात्र के प्रति अपने दायित्वों को निभाता है ।

प्रस्तुत शोध प्रबंध के चतुर्थ अध्याय में काम की अवधारणा और इसके समीक्षात्मक स्वरूप की विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है । यौन संबंधी इच्छा मानव की मूल प्रवृत्तियों में से ही एक है, इसलिए यह सहज और स्वाभाविक भी है । अतः इसे अनुचित रूप से दबाना ठीक नहीं है, यद्यपि इस इच्छा या प्रवृत्ति का स्वरूप बहुत कुछ पशुवत ही है । इसलिए

हिन्दू विचारकों ने विवाह के उद्देश्यों में धर्म और सन्तानोत्पत्ति के साथ 'काम' को भी एक उद्देश्य के रूप में स्वीकार किया है । अतः हिन्दू विवाह के उद्देश्य धर्म प्रजा (सन्तान) तथा रति (यौन–संबंधी आनन्द) बतलाए गए हैं । यद्यपि काम अथवा यौन–संबंध विवाह का एक उद्देश्य है, फिर भी इसे तीसरा स्थान दिया गया है । इससे यह स्पष्ट है कि हिन्दू शास्त्रकार यह स्वीकार नहीं करते हैं कि गृहस्थ जीवन का सर्वप्रमुख उद्देश्य यौन–संबंधी सुख को प्राप्त करना है । यह सुख वांछनीय है, पर अन्य सुख या उद्देश्यों की तुलना में यह गौण हैं ।

पंचम अध्याय मोक्ष के स्वरूप और उसकी समीक्षा से संबंधित है । मोक्ष पुरूषार्थ का अन्तिम चरण है । मोक्ष को मानव जीवन का लक्ष्य बताया गया है । भारतीय संस्कृति में मानव जीवन का अभीष्ट अर्थात् मोक्ष को सर्वोपरि माना गया है । इस प्रकार भारतीय जीवन दर्शन में मानव अभीष्ट के रूप में मुक्ति या मोक्ष को रखा गया है । इस संसार में रहते हुए व्यक्ति नाना प्रकार के दुखों और कष्टो को भोगता है । यद्यपि वह सदैव सुख की ही कामना करता रहा है और यही तृष्णा उसके मृत्यु तक उसको विश्राम नहीं लेने देती है । इसलिये ऋषि भर्तहरि ने कहा है कि व्यक्ति का शरीर तो रूणा होकर जल जाता है लेकिन तृष्णा नहीं मरती । मानव के सामने इस संसार बन्धन से छुटकारा पाने के लिये केवल मोक्ष ही रहता है । इसलिये प्राचीनकाल में बहुत से मानवों ने इस संसार के यथार्थ को जानकर मोक्ष प्राप्त करने का प्रयास किया था ।

षष्टम् अध्याय पुरूषार्थों के समीक्षात्मक स्वरूप से संबंधित है । इस अध्याय में धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष के परिवर्तित स्वरूपों की चर्चा की गई है । प्राचीन समय में जिस धर्म के द्वारा मानव अपना इहलोक और परलोक सुधारने का प्रयत्न करता था, आज वही धर्म परम्परा का रूप ग्रहण कर अपना वास्तविक स्वरूप खो चुका है । प्राचीन समय में जिस धर्म के आधार त्याग, सत्य, न्याय और पवित्रता थे, आज उसी के नाम पर हिंसा, अन्याय और शोषण आदि न जाने क्या–क्या हो रहा है ।

वर्तमान समाज में जिस प्रकार से मानव धन का अर्जन कर रहा है, वह उचित नहीं है । पुरूषार्थ के अन्तर्गत कहा गया है कि व्यक्ति को न्यायोचित ढंग से धन अर्जित कर अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करना चाहिए लेकिन वर्तमान में मानव की इच्छाएं इतनी बढ़ गईं हैं कि इन्होंने वासनाओं का रूप ग्रहण कर लिया है । पश्चिमीकरण, आधुनिकीकरण, नगरीकरण एवं औद्योगीकरण के कारण मानव की इच्छाएं बढ़ती ही जा रही हैं । भारतीय

समाज में भोगवादी संस्कृति का बोलबाला हो गया है । इर व्यक्ति अधिक से अधिक धन कमाकर अपनी अधिक से अधिक वासनाओं को पूरा करना चाहता है ।

वर्तमान में काम की अवधारणा भी बिल्कुल परिवर्तित हो गई है । प्राचीन समय में जो यौर संबंध पहले परिवार तक ही सीमित थे, वह आज के इस युग में सर्वत्र देखे जा सकते हैं । मनोरंजन के साधनों जैसे – सिनेमा, टेलीविजन और ब्लू फिल्म के माध्यम से समाज में अश्लीलता का नग्न चित्र प्रस्तुत किया जा रहा है । जो सिनेमा कभी हमारे बीच में एक स्वच्छ मनोरंजन का साधन हुआ करता था आज उन्हीं फिल्मस को हम अपने परिवार के साथ बैठकर देखना भी पसंद नहीं करते हैं । वर्तमान में यौन संबंधो को मात्र शारीरिक भूख के रूप में देखा जा रहा है । उसका व्यक्ति के चरित्र से कोई संबंध नहीं रह गया है । इसी का परिणाम है कि आज वर्तमान समाज में बलात्कार की घटनाएं बढ़ गईं हैं ।

भारतीय समाज पर पश्चिमीकरण की प्रक्रिया का पूर्ण प्रभाव पड़ चुका है, जिसके परिणामस्वरूप भारतीय समाज भी भोगवादी संस्कृति की गिरफ्त में आ चुका है । व्यक्ति के सामने केवल अपने परिवार के सुख एवं वासनाओं को पूरा कने का ही एक मात्र उद्देश्य रहा गया है । हमारे धर्म ग्रन्थों में पुरूषार्थ के चार रूप बतलाये गए हैं जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के रूप में जाने जा सकते हैं । इस अवधारणा में कहा गया है कि अर्थ और काम की पूर्ति धर्म के नियंत्रण में होनी चाहिए । लेकिन आज के मानव ने केवल अर्थ और काम की प्राप्ति को ही अपना साध्य मान लिया है और उसको उचित अथवा अनुचित तरीकों से पूरा करना चाहता है । इस प्रकार आज का मानव भौतिक सुखों तक ही सीमित रह गया है । मोक्ष को प्राप्त करने के विषय में सोचना उसके लिए असम्भव सा हो गया है ।

भारतीय दर्शन के अनुसार मानव इस संसार में आकर नाना प्रकार के कष्टों एवं दुखों को भोगता है । यहां व्यक्ति को दुख और सुख दोनों ही प्राप्त होते हैं, लेकिन दुख की मात्रा और उसकी प्रकृति व्यक्ति को सतत् विचलित करती रहती है । इसलिये भारतीय ऋषियों और मुनियों ने इस संसार को दुख प्रधान ही मान लिया है । तभी उन्होंनें इस संसार में रहते हुए अपने सभी कर्तव्यों को करते हुये जीवन के अन्तिम सोपान में मोक्ष को प्राप्त करने की बात कही है । इन मनीषियों ने मोक्ष को ही जीवन का अन्तिम साध्य माना है और इसके द्वारा ही व्यक्ति को परमानन्द अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करने को प्ररित किया है । क्योंकि मोक्ष ही एक ऐसी अवस्था है जहां दुख का अन्त हो जाता है । इसीलिये उन्होंनें मानव के शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक उत्थान के लिये पुरूषार्थ रूपी अवधारणा प्रस्तुत की थी।

समय में परिवर्तन के साथ ही साथ सामाजिक परिवर्तन भी होता रहता है । वर्तमान में प्राचीन समय के बहुत से सांस्कृतिक मूल्य परिवर्तित हो रहे हैं । आज मानव के जीवन में पुरूषार्थ की अवधारणा लगभग समाप्त सी हो गई है । परिणामस्वरूप व्यक्ति और सामाजिक जीवन का चरित्र पतितोन्मुख हो गया है । वर्तमान में ऐसा क्यों हो रहा है और क्या इस पतन को रोका जा सकता है ? यही प्रस्तुत शोध का विषय है ।

शोध से प्राप्त तथ्यों के विश्लेषण तथा व्याख्या के आधार पर कहा जा सकता है, कि वर्तमान भारतीय समाज में भौतिक प्रगति तो हुई है लेकिन चेतना के स्तर पर बहुत बड़ी अवनति हुई है । परिवर्तन एक अवश्यम्भावी प्रकिया है । इस संसार में कुछ भी ठहरता नहीं है । वर्तमान भारत में लोकतांत्रिक प्रक्रिया द्वारा चुनी हुई सरकार है । प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्रता मिली हुई है । नित नये वैज्ञानिक आविष्कार हो रहे हैं । भौतिक सुखों के लिये नई–नई वस्तुओं का उत्पादन हो रहा है । मनोरंजन के साधनों का बाहुल्य हो गया है । यातायात के साधनों ने विश्व की दूरी को बहुत कम कर दिया है । इन परिस्थितियों के कारण विश्व का प्रत्येक समाज एक दूसरे से प्रभावित हो रहा है । हमारे देश में भी इन परिवर्तनों का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ रहा है । वैश्वीकरण और पश्चिमीकरण की प्रक्रिया ने भारतीय संस्कृति और समाज को बहुत बुरी तरह से प्रभावित किया है । इन प्रक्रियाओं ने व्यक्ति के चिन्तन चरित्र और जीवन शैली को इतना बदल दिया है कि हम काले अंग्रेज बन बैठे हैं । आज हमारे जीवन में अर्थ और काम रूपी पुरूषार्थ अपना वास्तविक स्वरूप खो चुके हैं । धर्नाजन करना ही हमारे जीवन का साध्य हो गया है । आज धन देवता का स्थान ले चुका है । यह धन उचित या अनुचित तरीकों से आता है, इस पर विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है । व्यक्ति की जीवन शैली पूर्ण रूप से भोगबिलासी हो गई है । सांस्कृतिक और मानवीय मूल्यों का पूर्ण पतन हो चुका है । धर्म का वास्तविक स्वरूप समाप्त होकर परम्परागत हो गया है तथा इसका व्यापारीकरण भी हो गया है । परिवार और समाज से प्रेम का भाव पूरी तरह से तिरोहित हो गया है । प्रेम का स्थान स्वार्थ ने ग्रहण कर लिया है । फलस्वरूप परिवार और समाज में दुराचार, अत्याचार और हिंसा ही दिखाई पड़ रही है । परिवार में प्रेम का स्थान हिंसा ने ग्रहण कर लिया है । व्यक्ति का मूल्यांकन उसके मूल्यों के अनुसार न होकर धन के द्वारा होने लगा है । यह हमारे भारतीय समाज का नग्न और दयनीय चित्र है । इस स्थिति में मोक्ष की कल्पना करना व्यर्थ सा हो गया है । हमने अपने शोध से प्राप्त तथ्यों और आंकड़ों द्वारा निष्कर्ष रूप में उपरोक्त स्थिति

को प्राप्त किया है । इस स्थिति के लिये मैं निम्नांकित कारणों को उत्तरदायी मान सकती हूँ।

पुरूषार्थ की अवधारणा के पतन के कारण :–

3 एक हजार वर्ष की दासता का कुपरिणाम

3 मुस्लिम संस्कृति का प्रभाव

3 पश्चिमीकरण का प्रभाव

3 भारतीय समाज पर नवीन विज्ञान का प्रभाव

3 तार्किकता का विकास

3 आधुनिकीकरण

3 वैश्वीकरण और उदारीकरण का प्रभाव

3 व्यक्तिगत चरित्र के पतन के कारण पारिवारिक व सामाजिक विघटन

3 धर्म के वास्तविक स्वरूप का ह्रास

3 वर्तमान में इच्छाओं का स्थान वासनाओं ने ग्रहण कर लिया

3 समाज में बढ़ता हुआ धन का महत्व

3 वर्तमान में अपनी प्राचीन सांस्कृतिक अवधारणाओं एवं मूल्यों के प्रति आस्था का ह्रास

3 शारीरिक सुख की बढ़ती हुयी कामना

इस प्रकार भारतीय समाज और इसका सनातन धर्म विश्व के प्राचीनतम धर्मों में कहा जाता है । भारत की अपनी संस्कृति थी । जिसके माध्यम से व्यक्ति के शरीर मन और आत्मा की तृप्ति का प्रयास किया जाता था । भौतिक साधनों से शरीर और मन की इच्छाओं को पूरा किया जाता था और उसके बाद विरक्ति के द्वारा आत्मा तक पहुंचने का प्रयास किया जाता था जिसे मोक्ष कहते हैं । व्यक्ति को पूर्ण शान्ति शरीर के माध्यम से कभी भी नहीं मिल सकती । यह शान्ति तो आत्म साक्षात्कार के द्वारा ही मिल सकती है यही प्राचीन पुरूषार्थ की अवधारणा का सारतत्व था । इस अवधारणा के पालन होने से वर्तमान का अधोपतन हुआ है ।

अन्त मैं सुझाव के रूप में यही कहना चाहूंगीं कि व्यक्ति को भौतिक साधनों की प्राप्ति और सन्तुष्टि तो प्राप्त करनी चाहिये, लेकिन इनसे उसको वास्तविक आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता है । वास्तविक आनन्द और शान्ति तो मोक्ष द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है । इच्छाओं को पूरा किया जा सकता है लेकिन वासनाओं को नहीं । मैं यह भी मानती हूं कि वर्तमान समय में मोक्ष की प्राप्ति बहुत कठिन कार्य है । लेकिन हम अपने जीवन को धर्म के द्वारा अनुशासित तो कर सकते हैं । अपने संस्कृति के मूल्यों और आदर्शों को छोड़कर किसी विदेशी संस्कृति के मूल्यों को अपनाना बहुत बड़ा आत्मघाती कदम होगा और जिसका परिणाम हम अपने सामाजिक जीवन में देख भी रहे हैं । अतः मेरा तो यही मत है कि पुरूषार्थ के सिद्धान्त को अपनाकर ही आज व्यक्ति और समाज शान्ति और सुसंगठित रह सकता है । वर्तमान युग में आचार्य रजनीश का दर्शन मोक्ष के लिये सर्वथा उपयुक्त है जिसमें व्यक्ति को कहीं जंगल और पहाड़ों पर न जाकर अपने घर, कार्यालय, दुकान और फैक्ट्री में अपने स्थान पर ही रहकर जागृत अवस्था में अपने समस्त कार्यों का सम्पादन करना चाहिये । प्रमाद को छोड़ना होगा क्योंकि प्रमाद ही समस्त बुराईयों की जड़ है । जागृत होकर ही हम अपने मूल प्रश्नों का उत्तर पा सकेंगें कि मैं कौन हूं ? और मैं कहां से आया हूं ? और मेरे यहां आने का क्या प्रयोजन है ? अर्थात् मोक्ष ही मानव का अभीष्ट है । अन्त में मैं वर्तमान सामाजिक विसंगतियों एवं समस्याओं को दूर करने के लिये निम्न सुझाव प्रस्तुत कर रही हूँ ।

सुझाव :—

3 पारिवारिक जीवन में प्राचीन सांस्कृतिक एवं धार्मिक मूल्यों की स्थापना

3 धर्म के वास्तविक स्वरूप का पुर्नस्थापन

3 नैतिक शिक्षा द्वारा व्यक्ति के जीवन के सर्वांगीण विकास की योजना प्रस्तुत करना

3 धन को वहीं तक महत्व देना जहां तक यह व्यैक्तिक और सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करता है ।

3 धर्म गुरूओं द्वारा अपने जीवन में सरलता, सादगी एवं सत्य को स्थापित करना

3 वर्तमान में मोक्ष की प्राप्ति के लिये वनों में जाना आवश्यक न होकर बल्कि जाग्रत होकर घर एवं परिवारों में शान्ति को प्राप्त करना चाहिए ।

इस लघु शोध के सार रूप में यही कहा जा सकता है कि भारतीय समाज पूर्ण भोग की तरफ अभी भी आगे बढ़ रहा है । अभी भी वह अतृप्त विडम्बना यह है कि वासनायें कभी भी तृप्त नहीं होतीं । पश्चिमी जगत पूर्ण भोग को प्राप्त कर चुका है । उसका इन भौतिक वस्तुओं से मन ऊब चुका है और वह मानसिक शान्ति के लिये भारतीय दर्शन की तरफ भाग रहा है । भारत के धर्म गुरू पूरे विश्व में योग एवं आध्यात्मिक संस्थान संचालित कर रहे हैं, जिनसे पश्चिमी जगत के लोग भी मानसिक शान्ति प्राप्त करने का प्रयास कर रहे हैं । यह मानसिक शान्ति ही विश्व को नैतिक और आध्यात्मिक उत्थान की तरफ ले जा सकती है । इससे भारतीय समाज को प्रेरणा लेनी चाहिये और अपने प्राचीन मूल्यों की तरफ पलट कर देखना चाहिये और उनके पालन करने का प्रयास करना चाहिये तभी हम अपनी वर्तमान समस्याओं से मुक्त हो सकेंगें ।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ऋग्वेद – संहिता सम्पादन, राम गोविन्द त्रिवेदी, नाग पब्लिशर्स,दिल्ली 1994
2. यर्जुवेद – संहिता सम्पादन, नाग शरण सिंह,नाग पब्लिशर्स,दिल्ली 1994
3. सामवेद – संहिता सम्पादन राम गोविन्द त्रिवेदी नाग पब्लिशर्स,दिल्ली 1994
4. अर्थवेद – संहिता सम्पादन श्रीराम शर्मा टीका, शान्ति कुंज, हरिद्वार
5. वृहदारण्यकोपनिषद – गीता प्रेस, गोरखपुर,छठां संस्करण
6. छांदोग्योपनिषद् – सम्पादक,श्रीकान्त पाण्डेय,चौखम्भा विद्या भवन चौक,वाराणसी 1981
7. कठोपनिषद् – सम्पादक, डा0 रामरंग शर्मा, चौखम्भा विद्या भवन चौक, वाराणसी 1981
8. केनोपनिषद् – सम्पादक,स्वामी सर्वानन्द, चौखम्भा विद्या भवन चौक,वाराणसी 1981
9. ईशोपनिषद् – गीता प्रेस,गोरखपुर 24वां संस्करण
10. मुण्डकोपनिषद् – सम्पादक, स्वामी सर्वानन्द, चौखम्भा विद्या भवन चौक,वाराणसी 1981
11. मनुस्मृति – प्र0 मोती लाल बनारसी दास, वाराणसी 2004
12. याज्ञवल्क्य स्मृति – विज्ञानेश्वर टीका, चौखम्भा विद्या भवन चौक, वाराणसी 1981
13. नारद स्मृति – उद्धत–'बीस स्मृतियाँ'–श्री राम शर्मा टीका सहित, वितरक चौखम्भा विद्या भवन चौक, वाराणसी 1981
14. पराशर स्मृति – माद्यवा चार्य, चौखम्भा विद्या भवन चौक, वाराणसी 1981
15. शुक्र स्मृति – उद्धत–'बीस स्मृतियाँ'–श्री राम शर्मा टीका सहित, वितरक चौखम्भा विद्या भवन चौक, वाराणसी 1981
16. कौटिल्य अर्थशास्त्र – एक परिशीलन, प्रो0 पुष्पेन्द्र कुमार, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली1994
17. महाभारत – चौखम्मा सीरीज, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी 1981
18. श्री मद्भगवद् गीता – श्रीधरी टीकाकार, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी 1981
19. धर्मशास्त्र का इतिहास– अनुवादक, अर्जुन चौबे–पी0वी0काणे, उ0प्र0 हिन्दी ग्रन्थ समिति लखनऊ,
20. हिन्दू सोशल – उद्धत भारतीय सामाजिक संस्थाएं, आर0एन0 मुकर्जी, सरस्वती

आर्गनाईजेशन — सदन, दिल्ली 1966

21. मैरिज एण्ड फेमली इन इन्डिया — के0एम0 कपाड़िया–ऑक्सफोर्ड यूनी0प्रेस बाम्बे 1966

22. दि हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ — डा0 एस0 राधाकृष्णन –जार्ज एलेन एन्ड अनविल कम्पनी 1949

23. कल्याण — गीता प्रेस, गोरखपुर,1992

24. श्री मद्भागवत् — व्यासकृत, चौखम्मा संस्कृत सीरीज, चौखम्मा विद्या भवन, चौक वाराणसी, 1981

25. भट्ट गैारीशंकर — भारत मे समाजशास्त्र प्रजाति और संस्कृति, 1965

26. प्रो0 विश्वनाथ शुक्ला — हिन्दू समाज व्यवस्था, नारायण प्रकाशन, लखनऊ

27. रवीन्द्र नाथ मुखर्जी, — भारतीय सामाजिक संस्थाएं विवेक प्रकाशन, जवाहर नगर, दिल्ली

28. आडियो थामस एफ —1966, द सोशियोलॉजी ऑफ रिलीजन प्रेटिंग हॉल नई दिल्ली

29. राबर्टसन रॉलैंड — 1970 द सोशियोलॉजीकल इंटरप्रटेशन ऑफ रिजीजन बेसिल ब्लैकवैल ऑक्सफोर्ड

30. थिंगर जेमिल्टन — 1957 रिलीजन सोसायटी एंड द इंडीवजुअल मैकमिलन न्यूयार्क

31. इवन्स प्रिचर्ड ई0ई0 — 1965 थ्योरीज ऑफ प्रिमिटिव रिजीजन ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस

32. ऑक्सफोर्ड मजूमदार डी0 एन0 और मदान — 1986 एन इन्ट्रोडक्शन टू सोशल एनण्रिोपॉलॉजी, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस नई दिल्ली

33. पिकरिंग डब्ल्यू एस0 एफ0 — 1984 दर्खाइम सोशियोलॉजी ऑफ रिलीजन लंदन

34. राबर्टसन रॉलैंड — 1970 द सोशियोलॉजीकल इंटरप्रटेशन ऑफ रिलीजन ऑक्सफोर्ड

35. एम0एन0 श्रीनिवास — 1978 रिलीजन एण्ड सोसायटी अमंग इ कुर्गस ऑफ साउथ इण्डिया, बम्बई

36. अग्रवाल गोपालकृष्ण — भारतीय सामाजिक संस्थायें आगरा, 1981–82

37 अग्रवाल बी0एस0 – भारतीय मौलिक एकता, इलाहाबाद वि0स0 2001

38. अल्लेकर ए0 एस0 – दा पोजीशन ऑफ वूमेन इन हिन्दू सिविताड पेशन तृतीय संस्करण, पटना

39 अग्निहोत्री पी0डी0 – पंतजलि कालीन भारत पटना 1963

40 आप्ते बी0 एम0 – सोंशल एण्ड रिलीजन लाइफ इन गृह सूत्राज बम्बई 1954

41 आयंकर एस0 कृष्णा स्वामी – एशियन्ट इण्डियाज एण्ड साउथ इण्डिया हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पूना, 1941

42 उपाध्याय रामजी – प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, इलाहाबाद, 1966

43. ओम प्रकाश – प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, 1902

44. काणे, पाण्डुरंग वायन – धर्मशास्त्र का इतिहास, हिन्दू समिति, लखनऊ 1980

45. कांगले आर0 पी0 – कौटिल्य अर्थशास्त्र (एस्टडी) भाग–3, बम्बई 1965

46. बीब ए0 बी0 – ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर ऑक्सफोर्ट –1941

47 कविराज गोपीनाथ – भारतीय संस्कृति और साधना, पटना 1963

48. गोखले, बी0सी0 – प्राचीन भारत का इतिहास और संस्कृति, बम्बई 1957

49. गैरोला वाचस्पति – सोशल नाइफ इन इण्डिया, बम्बई 1960

50. घोषाल, यू0 एन0 – अ हिस्ट्री ऑफ इण्डियन पब्लिक लाइफ, बम्बई 1966

51. ठाकुर उपेन्द्र – सम आसपेक्ट्स आफ ऐशिएन्ट इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, नई दिल्ली 1974

52. धोबान यू0एन0 – स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, कलकत्ता 1917

53. धापर रोगिला – प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, दिल्ली 1978

54. दफतरी , के0एल0 – दि सोशल इंस्टीट्यूशन इन एशिएन्ट इण्डिया नागपुर 1947

55. पाण्डेय विजयचन्द्र – भारतवर्ष का सामाजिक इतिहास, चतुर्थ संस्करण पटना 1986

56. पाण्डेय विनोदचन्द्र – भारतीय संस्कृति का इतिहास लखनऊ 1982

57. प्रसाद, ईश्वरी – प्राचीन भारतीय संस्कृति कला एवं दर्शन, इलाहाबाद 1990

58. पटिल डी0 आर0 – कल्चरल हिस्ट्री फाम दि वायु पुराण, दिल्ली, 1973

59. भट्टाचार्य, एस0सी0 – राम आस्पेटट्स आफ इण्डियन सोसायटी, कलकत्ता 1978

60. भार्गव, पी0एल0 – इण्डिया इन द वैदिक एज, लखनऊ 1956

61. मजूमदार, डी0एन – रेसेज एण्ड कल्चर आफ इण्डिया, बम्बई 1958

62. मुकर्जी आर0 के0 – ग्यारवीं सदी का भारत, वाराणसी, 1968

63. मुकर्जी आर0 के0 – प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, वाराणसी 1980

64. मैकडोनल ए0 ए0 – हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, लन्दन 1928